स्वतंत्र भारत में शिक्षा

हुमायूँ कबीर

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद को—

जिन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी के
साथ मिलकर भारत के लिए
राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का
स्वरूप तैयार करने में
सहायता दी ।

भूमिका

अपने प्रजातंत्रीय आदर्शों के अनुकूल ही भारत ने अपने यहाँ शिक्षा की सुविधाओं का इतना विस्तार करने का निश्चय किया है कि जिससे उसके सब नागरिकों को उन्नति का समान अवसर प्राप्त हो सके। साथ ही उसने अपनी शिक्षा प्रणाली के पुनर्गठन का विशाल काम भी अपने हाथ में लिया है, जिससे यह शिक्षा देश की नयी आवश्यकताओं और नयी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने का अधिक उपयुक्त साधन बन सके। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए जो कदम उठाये गये हैं, उनका संक्षिप्त—परन्तु आशा है कि बहुत अपर्याप्त नहीं—विवरण आगे के अध्यायों में दिया गया है।

स्वाधीनता प्राप्ति के समय भारत में शिक्षा की क्या अवस्था थी और उसके बाद से अब तक क्या प्रगति की गई है, इसका एक उड़ता-सा परिमाप (सर्वे) करने के बाद इस अध्ययन में मुख्यतया उन परीक्षणों का वर्णन किया गया है, जो भारत में शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में किये जा रहे हैं। प्रारम्भिक स्तर पर, भारत में बुनियादी शिक्षा प्रणाली का विकास किया जा रहा है, जिसमें बड़ी उत्साहजनक सम्भावनाएँ भरी हैं; और जिसमें सम्भवतः सारे संसार के शिक्षाशास्त्रियों को रुचि होगी। इसी प्रकार, एक नये ढंग की वयस्क शिक्षा के सम्बन्ध में किये गये भारत के परीक्षण अन्य देशों के लिए भी महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। दूसरी ओर, प्राविधिक शिक्षा के क्षेत्र में भारत मुख्यतया उसी की पुनरावृत्ति कर रहा है, जो कुछ अन्य देशों में किया जा चुका है। इसलिए यद्यपि प्राविधिक शिक्षा के क्षेत्र में हमारे यहाँ बहुत अधिक प्रगति हुई

है, फिर भी मैंने उसका कोई अलग अध्याय इस पुस्तक में सम्मिलित नहीं किया है।

इस पुस्तक को लिखने में जिन लोगों ने मेरी सहायता की है, उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उन सबके प्रति व्यक्तिशः आभारप्रदर्शन कर पाना सम्भव नहीं है। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय तथा राज्य सरकारों के शिक्षा निदेशालयों में कार्य कर रहे अपने सहकारियों का मैं आभारी हूँ, जिन्होंने दित्ता (डाटा) और अनेक बहुमूल्य सुझाव मुझे दिये। मैं उन पत्रिकाओं के सम्पादकों और संगठनों के सचिवों का भी कृतज्ञ हूँ, जिनके आग्रह ने मुझे इन विचारों को लेखबद्ध करने के लिए विवश कर दिया। परन्तु, इस पुस्तक में व्यक्त की गई सब सम्मतियाँ मेरी अपनी हैं और उनके लिए केवल मैं ही उत्तरदायी हूँ। विशेष रूप से, उन सम्मतियों के कारण भारत सरकार या विश्वविद्यालय-अनुदान आयोग किसी भी प्रकार वचनबद्ध नहीं हैं।

मैं समय-समय पर भारत, यूरोप तथा अमेरिका की पत्रिकाओं तथा अन्य प्रकाशनों के लिए भारतीय शिक्षा के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में जो लेख लिखता रहा हूँ, उनका मैंने इस पुस्तक में भी काफी उपयोग किया है। परन्तु प्रत्येक लेख को मैंने संशोधित किया है और कुछ लेखों को तो बिलकुल नये सिरे से लिखा है। इसलिए यह कहना सत्य होगा कि इस पुस्तक में एक भी ऐसा लेख सम्मिलित नहीं किया गया है, जो इस वर्तमान रूप में कहीं अन्यत्र छप चुका हो। इसके अतिरिक्त इन सब लेखों को एक जगह संगृहीत कर देने से वे इस प्रकार एक दूसरे के समर्थक और सहायक बन गये हैं, जैसे कि पृथक्-पृथक् प्रकाशित दशा में नहीं हो सकते थे। यदि इस पुस्तक को पढ़कर पाठकों को—विशेष रूप से विदेशी पाठकों को—भारत के शिक्षा सम्बन्धी प्रयत्न की ओजस्विता, सजीवता और विविधता की कुछ झलक मिल सके, तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

लन्दन
४ जुलाई, १९५५.

—हुमायूँ कबीर

विषय-क्रम

अध्याय १

भारत में शिक्षा की स्थिति : विहगावलोकन

स्वाधीनता प्राप्त करने के तत्काल बाद भारत के सामने जो अनेक समस्याएँ उपस्थित थीं, उनमें एक सबसे विकट समस्या अपनी शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन करने और विस्तार करने की समस्या थी। ऐसी व्यवस्था की जाने की आवश्यकता थी कि जिससे पाठशाला जाने योग्य आयु वाले सब बालकों को निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त हो सके और इस बात का भरोसा रहे कि उन्हें शिक्षा सम्बन्धी वे सुविधाएँ अवश्य प्राप्त हो जायेंगी, जो उनके माता-पिता को प्राप्त नहीं थीं। इसके साथ ही साथ निरक्षर वयस्क लोगों की शिक्षा के लिए भी एक विशाल कार्यक्रम प्रारम्भ करने की आवश्यकता थी। एक ओर माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा का नये सिरे से पुनर्गठन करने की आवश्यकता थी और दूसरी ओर उद्योगों तथा कृषि के विकास के लिए आवश्यक वैज्ञानिक तथा प्राविधिक (टैक्निकल) शिक्षा का तेजी से विस्तार किया जाना अभीष्ट था। राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन को समुन्नत करने के कार्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इसके लिए यह आवश्यक था कि राज्य विभिन्न प्रकार की कलाओं को अधिकाधिक प्रश्रय दे। साथ ही यह भी आवश्यक था कि अपने पूर्व तथा पश्चिम के पड़ौसी देशों के साथ पुराने सम्बन्धों को फिर ताजा किया जाय; और जिन देशों के साथ पहले भी कभी सम्बन्ध नहीं रहे, उनके साथ नये सम्बन्ध स्थापित किये जायें। लगभग दो सौ वर्षों तक भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध लगभग केवल इंगलैंड तक ही सीमित हो गये थे। स्वतन्त्र भारत इस निरन्तर संकुचित होते हुए संसार में अन्य देशों से अछूता या अलग-थलग नहीं रह सकता था।

भारत के संविधान में यह कहा गया है कि इस संविधान के लागू होने के दस वर्ष के अन्दर-अन्दर चौदह वर्ष तक की आयु वाले बालकों के लिए अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था हो जानी चाहिये। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि स्वाधीनता प्राप्त होने के समय देश में इन २५ प्रतिशत बालकों के लिए भी शिक्षा-व्यवस्था नहीं थी, तो यह आदेश महत्व की दृष्टि से एकदम क्रान्तिकारी समझा जाना चाहिये। यह काम अपने आप में ही बहुत कठिन था; उस पर यह उन अनेक घटनाओं के कारण और भी दुष्कर हो गया, जिनके कारण स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत में भारी उथल-पुथल हुई। स्वाधीनता प्राप्ति का मूल्य देश के विभाजन द्वारा चुकाना पड़ा था; और दुर्भाग्य से इस विभाजन के फलस्वरूप लाखों लोगों का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। जनसंख्या का स्थानान्तरण इतने बड़े पैमाने पर हुआ कि उससे पहले ऐसा कभी नहीं हुआ था। केवल दो पंजाबों के बीच ही लगभग एक करोड़ लोगों की अदल-बदल हुई। भारत में उपलब्ध जन, धन और सामग्री के सम्पूर्ण साधनों का एक बड़ा भाग इन विस्थापितों के पुनर्वास के विशाल कार्य को पूरा करने के लिए लगा देना पड़ा। अभी यह समस्या पूरी तरह हल भी नहीं हुई थी कि विश्व-शक्तियों के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय मुद्रा का विमूल्यन (डिवैल्यूएशन) हो गया, जिसके साथ-साथ मुद्रा-प्रस्तार (इनफ्लेशन) हुआ और वस्तुओं की तंगी हो गयी। स्वाधीनता के पहले पाँच वर्ष देश के कुछ भागों में अनावृष्टि तथा कुछ भागों में बाढ़ें आने के कारण भी बड़ी कठिनाई के वर्ष थे। विदेशों से इतनी बड़ी मात्रा में खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा, जितना भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। अतः यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं कि देश के साधनों पर यह सब अनिवार्य बोझ आ पड़ने के कारण शिक्षा का विकास, हालाँकि वह कम नहीं है, उतना नहीं हो पाया, जितनी कि लोगों को आशा थी।

इन सब राजनीतिक, आर्थिक और प्राकृतिक बाधाओं के प्रतिकूल एक तथ्य ऐसा भी था, जिसने देश में शिक्षा की प्रगति में सहायता दी और जो आगे भी अधिकाधिक सहायता देता रहेगा। यह तथ्य था भूतपूर्व देशी राज्यों का भारतीय संघ में मिल जाना। इस विलयन के कारण सारा देश एक ऐसे रूप में मिलकर एक हो गया है, जैसा कि पहले कभी नहीं था। देशी राज्यों तथा पहले के अंग्रेजी प्रान्तों का साथ-साथ अस्तित्व केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से

ही बाधक नहीं था, अपितु देश की सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक प्रगति की दृष्टि से और भी बड़ी बाधा बना हुआ था। केवल थोड़े-से प्रशंसनीय अपवादों को छोड़कर ये देशी राज्य शिक्षा की दृष्टि से और इसीलिए सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे और सम्पूर्ण भारत की प्रगति में बाधा डाल रहे थे। विलयन की प्रक्रिया और उसके बाद हुए पूर्ण एकीकरण के फलस्वरूप अब ये राज्य भारत के अपने ही अंग बन गये हैं। जंजीर की मजबूती उसकी सबसे कमजोर कड़ी द्वारा ही आँकी जाती है। अब हम यह विश्वास रख सकते हैं कि एक बार पिछली कमियों को पूरा कर लेने के बाद भारतीय शिक्षा की शृंखला की सभी कड़ियाँ समान रूप से मजबूत होंगी।

इसी लक्ष्य को पूरा करने के लिए एक और कदम यह उठाया गया है कि समाज में पिछड़े हुए वर्गों के लिए अपेक्षाकृत अधिक सुविधाओं की व्यवस्था की गयी है। संविधान में यह घोषणा की गयी है कि सब नागरिकों की सामाजिक प्रतिष्ठा समान होगी और सबको उन्नति के समान अवसर प्राप्त होंगे और संविधान में राज्य पर यह दायित्व डाला गया है कि वह उन वर्गों के हितों को बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दे, जो अब तक सामाजिक, आर्थिक या शैक्षणिक बाधाओं के कारण पिछड़े रहे हैं। समाज शिक्षा के वे विस्तृत कार्यक्रम, जिनके द्वारा उन बाधाओं को हटाने का यत्न किया जा रहा है, जिनसे अशिक्षित वयस्क लोगों को हानि उठानी पड़ सकती है, अवसर के प्रजातंत्रीकरण की ओर की जा रही इस प्रगति के ही अंग हैं। बालिकाओं और स्त्रियों को उपलब्ध सुविधाओं में और अधिक वृद्धि करने के लिए भी विशेष प्रयत्न किये गये हैं। विभिन्न प्रकार की शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा पा रही छात्राओं की संख्या दुगनी हो गई है। १९४७-४८ में यह ३५ लाख थी, और बढ़कर १९५४ में ७० लाख से भी अधिक हो गयी है।

शैक्षणिक उन्नति के अवसर को समान बनाने के लिए एक और साधन के रूप में छात्रवृत्तियों का भी प्रयोग किया जा रहा है। केवल योग्यता के आधार पर दी जाने वाली बहुत-सी छात्रवृत्तियों के अतिरिक्त समाज के अपेक्षाकृत गरीब या पिछड़े हुए वर्गों को सहायता देने के लिए भी विशेष योजनाएँ प्रारम्भ की गयी हैं, जिससे वे भी देश में उपलब्ध शिक्षण की सुविधाओं से लाभ उठा सकें। विद्यालय के स्तर पर राज्य सरकारों ने अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदि-

वासियों तथा अन्य पिछड़े हुए वर्गों के छात्रों को निःशुल्क शिक्षा देने और अधिकाधिक छात्रवृत्तियाँ देने की व्यवस्था की है। ये वर्ग, जैसा कि इनके नाम से ही ध्वनित होता है, भारतीय जनता का वह भाग हैं, जो ऐतिहासिक कारणों से उन्नति का अवसर पाने में सबसे अधिक पिछड़े रहे हैं। महाविद्यालय के स्तर पर, भारत सरकार उन्हें मैट्रिक परीक्षा के पश्चात् अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियाँ देने की योजना बनाकर उनकी सहायता करने का प्रयत्न कर रही है। १९४७ और १९५४ के बीच इस योजना में ३४ गुने से भी अधिक विस्तार किया गया है। १९४७-४८ में इस प्रकार की छात्रवृत्तियों पर तीन लाख रुपये व्यय किये गये थे, जबकि १९५३-५४ में यह राशि ९२ लाख रुपये थी। १९५४-५५ में इन जातियों के विद्यार्थियों के लाभ के लिए एक करोड़ से भी अधिक रुपये व्यय करने का प्रस्ताव किया गया था।

इस बात को भी अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि शिक्षण की सारी प्रगति अन्ततोगत्वा शिक्षकों की योग्यता पर निर्भर है। पिछले लगभग ५० वर्षों में इन शिक्षकों के सामाजिक और आर्थिक स्तर का निरन्तर पतन होता गया है। युद्ध के वर्षों और उसके तत्काल बाद के समय में उनकी दशा पतन के निम्नतम बिन्दु तक जा पहुँची थी। ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि अध्यापन केवल उन लोगों का पेशा रह गया था, जो अन्य सब क्षेत्रों में असफल रहे होते थे। देश के शैक्षणिक नेताओं ने इस बात को अनुभव किया कि राष्ट्र का भविष्य नयी पीढ़ियों की योग्यता पर निर्भर है और नयी पीढ़ी की योग्यता अध्यापकों की योग्यता पर निर्भर है। परन्तु १९४७ से पहले शैक्षणिक नेता इतने असमर्थ थे कि जो कुछ आवश्यक था, उसे वे कर ही नहीं सकते थे।

१९४७ के बाद स्थिति बदलने लगी। वेतन क्रम में सुधार किया गया और कुछ मामलों में तो वेतन वृद्धि चार या पाँच गुनी तक कर दी गयी। फिर भी अभी तक वेतन क्रम इतने अच्छे नहीं हैं कि जिनसे ठीक ढंग के पुरुष और स्त्रियाँ अध्यापन के पेशे की ओर आकृष्ट हो सकें। अध्यापकों के आत्म-विश्वास और सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए भी कुछ कदम उठाये गये हैं। राष्ट्रपति भवन में प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों के लिए विशेष स्वागत-समारोहों का आयोजन किया गया, जिनमें भारत के राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री तथा शिक्षामन्त्री उपस्थित हुए। माध्यमिक विद्यालयों के कुछ निर्वाचित प्रधाना-

ध्यापकों के लिए सुरम्य पर्वतीय प्रदेशों में सैमीनार तथा ग्रीष्म कैम्पों की व्यवस्था की गयी। अखिल भारतीय आधार पर कई सम्मेलन किये जा चुके हैं, जिनमें पाठ्यक्रम और अध्ययन विधियों का पुनर्गठन करने की समस्याओं पर विचार करने के लिए विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक एकत्रित हुए हैं। संक्षेप में, यह प्रयत्न किया जा रहा है कि समाज की शिक्षा की नीति, और कुछ मामलों में सामाजिक नीति, के निर्धारण में सभी स्तरों पर अध्यापकों का सहयोग प्राप्त किया जाय। परन्तु यह स्वीकार करना उचित होगा कि वस्तुतः सक्षम और कर्तव्यनिष्ठ अध्यापक वर्ग की रचना के लिए अभी काफी कुछ करना शेष है।

१९२१ के बाद से शिक्षा एक प्रान्तीय विषय रहा है, जो सीधा एक निर्वाचित शिक्षामन्त्री के अधीन था; और यह शिक्षामन्त्री राज्य के विधान मंडल के सम्मुख उत्तरदायी होता था। स्वतन्त्र भारत के संविधान में भी यह स्थिति पहले जैसी ही है। केवल दो महत्वपूर्ण अपवादों को छोड़कर शेष सब दशाओं में शिक्षा अब भी राज्य का ही विषय है। ये दो अपवाद विश्वविद्यालय की शिक्षा और प्राविधिक (टैक्निकल) शिक्षा हैं। उपलब्ध सुविधाओं का समन्वय करने और उच्चतर स्तर पर उचित प्रमापों को बनाये रखने की दृष्टि से इन मामलों में संविधान ने जिम्मेदारी केन्द्रीय सरकार पर डाल दी है। वैज्ञानिक और प्राविधिक शिक्षा पर होने वाले भारी खर्चों को देखते हुए यह आवश्यक है कि इन क्षेत्रों में दोहराव न हो। इसलिए उच्चतर वैज्ञानिक और प्राविधिक शिक्षा का विकास केन्द्रीय सरकार के जिम्मे डाल दिया गया है।

इस प्रकार यह ठीक है कि शिक्षा राज्य सरकारों का विषय है और केन्द्रीय सरकार पर न तो इसके लिए कोई प्रत्यक्ष दायित्व है और न उसे इस सम्बन्ध में कोई वैधानिक या सांविधानिक अधिकार ही है, फिर भी परिस्थितियों को देखते हुए केन्द्रीय सरकार के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह शिक्षा के प्रत्येक पहलू में अधिक से अधिक दिलचस्पी ले। भावी सन्ततियों की मनोवृत्ति का निर्माण शिक्षा द्वारा ही होता है; और यह आवश्यक है कि हमारे देश में शिक्षा के उद्देश्य, लक्ष्य और प्रमाप राष्ट्रीय दृष्टि से सब जगह एक रूप हों। तीन बातें हैं, जिनके कारण केन्द्रीय सरकार एक सलाहकार और समन्वय स्थापित करने वाली संस्था के रूप में अपने कार्यकलाप को विस्तृत कर सकी है। लगभग सभी राज्यों के आर्थिक साधन अपने शिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रमों को पूरा

करने के लिए अपर्याप्त हैं। इसलिए अपनी अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही परियोजनाओं (प्रोजेक्ट) को पूरा करने के वास्ते अनुदान और सहायता के लिए वे केन्द्रीय सरकार पर ही निर्भर रहते हैं। केन्द्रीय सरकार के पास सब राज्यों के सम्बन्ध में जानकारी भी संगृहीत रहती है और वह प्रायः इस जानकारी के शोधनगृह (क्लियरिंग हाउस) के रूप में भी कार्य करती है। इस तथ्य के कारण भी, कि वही राजनीतिक दल राज्य सरकारों का भी नियन्त्रण कर रहा है, जो केन्द्र में सत्तारूढ़ है, और विशेष रूप से राष्ट्रीय जीवन में पंडित नेहरू की प्रमुख स्थिति के कारण भी काफी सहायता मिली है।

परन्तु वैधानिक रूप से केन्द्रीय सरकार केवल आग्रह-अनुरोध कर सकती है, राज्य सरकारों को विवश नहीं कर सकती। यदि कोई राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार की वित्तीय सहायता के बिना काम चलाने को तैयार हो, तो वह अपने सांविधानिक अधिकार का प्रयोग करके केन्द्रीय सरकार की सलाह की अवहेलना कर सकती है। इस कारण कुछ ऐसे विशिष्ट साधनों का विकास किया गया है, जिनसे शिक्षा में एकरूपता बनी रहे और ठीक-ठीक समन्वय होता रहे। इन साधनों में से सबसे अधिक महत्वपूर्ण शिक्षा का केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड (सैंट्रल एडवाइजरी बोर्ड आफ एजूकेशन) है। जैसा इसके नाम से स्पष्ट है, यह एक सलाहकार निकाय (बौडी) है। परन्तु क्योंकि थोड़े-से विशेषज्ञों के अतिरिक्त इसमें सब राज्यों के शिक्षा मन्त्री सदस्य होते हैं, और केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री इसका सभापति होता है, इसलिए इसके निश्चय केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को मानने ही होते हैं। क्योंकि इसकी सिफारिशें लगभग सदा ही सर्वसम्मति से होती हैं—पिछले सात वर्षों में केवल एक समस्या का निर्णय मतदान द्वारा किया गया—इस कारण भी इसको और भी अधिक प्राधिकार (अथारिटी) प्राप्त है।

अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा परिषद् (आल इंडिया कौंसिल फार टैकनिकल एजूकेशन) और हाल ही में निर्मित विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (युनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन) भी प्राविधिक शिक्षा और विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्रों में इन्हीं कार्यों को पूरा करते हैं। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, इन दो क्षेत्रों में केन्द्रीय सरकार को वैधानिक और सांविधानिक अधिकार भी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त इन दो निकायों की सलाह से ही बड़े-बड़े अनुदान

और सहायता राशियाँ शिक्षा संस्थाओं को दी जाती हैं। इसलिए इन दो संस्थाओं का कहीं अधिक सीधा और सुनिश्चित प्रभाव है और ये भारत की शिक्षा के सम्पूर्ण ढाँचे में सुदृढ़ बनाने वाले सीमेन्ट का-सा काम करते हैं।

शिक्षा सम्बन्धी प्रमापों और नीतियों में एकरूपता बनाये रखने के लिए काम कर रहे इन उपकरणों को भारत सरकार द्वारा आयोजन आयोग (प्लैनिंग कमीशन) की स्थापना से और भी अधिक प्रबल प्रोत्साहन मिला। आयोजन आयोग की नियुक्ति यह मानकर की गयी थी कि यदि जनता के जीवन के स्तर को ऊँचा उठाना और संविधान के प्रेरक सिद्धांतों को क्रियान्वित करना अभीष्ट है, तो केन्द्रीय और राज्य सरकारों को प्रयत्न का ठीक-ठीक समन्वय किया जाना आवश्यक है। क्योंकि आयोग का कार्य यह था कि वह देश के भौतिक, मानवीय और पूँजी सम्बन्धी साधनों का आकलन (ऐस्टीमेट) करे और ऐसी योजना बनाये, जिससे उनका सबसे अधिक प्रभावशाली और सन्तुलित उपयोग हो सके, इसलिए आयोग को राष्ट्रीय गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र में मोटे तौर पर एक निश्चित नीति निर्धारित कर देनी पड़ी। देश की आवश्यकताएँ अधिक थीं और तुलना में साधन कम थे, इसलिए यह आवश्यक था कि एक ओर तो अग्रताओं (प्रायोरिटी) का समुचित निर्धारण कर दिया जाय, जिससे उपलब्ध साधनों का सबसे अधिक प्रभावपूर्ण उपयोग किया जा सके और सबसे अधिक तीव्र आवश्यकताओं को सबसे पहले पूर्ण किया जा सके; और दूसरी ओर सब स्तरों पर कार्यक्रमों का उचित समन्वय किया जाय, जिससे दुहराव और अपव्यय से बचा जा सके।

शिक्षा के क्षेत्र में आयोग ने प्रजातन्त्रात्मक राज्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक सर्वांगीण कार्यक्रम तैयार किया। यह स्पष्टतया मान लिया गया कि शिक्षा की विभिन्न स्थितियाँ एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, और इसलिए किसी एक क्षेत्र में तब तक उन्नति नहीं हो सकती, जब तक उससे सम्बद्ध अन्य सब क्षेत्रों में भी उन्नति न हो जाय। यह भी स्वीकार कर लिया गया कि देश के विभिन्न भागों की आवश्यकताएँ और उनके साधन अलग-अलग हैं, और उन भागों के सामान्य तथा शैक्षणिक विकास में भी अन्तर है। इसलिए अग्रताओं और लक्ष्यों का निर्धारण करने में नरमी से काम लिया जाना चाहिये। फिर भी यदि राष्ट्रीय प्रयत्न का प्रभावपूर्ण समन्वय करना अभीष्ट

हो, तो यह आवश्यक था कि मोटे तौर पर अग्रताओं का निर्धारण कर दिया जाय और कुछ लक्ष्य नियत कर दिये जायँ। इस प्रकार पंचवर्षीय आयोजन सारे देश में शिक्षा के उद्देश्यों, लक्ष्यों और प्रमापों में एकरूपता लाने की दृष्टि से अधिकाधिक सहायक सिद्ध होगा।

१

अब यहाँ संक्षेप में उस प्रगति पर दृष्टि डाल लेना उचित होगा, जो भारत ने स्वाधीनता प्राप्ति के बाद शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में की है। १९४७ में प्राथमिक स्तर पर ६ से ११ वर्ष तक की आयु के बालकों में से मुश्किल से ३० प्रतिशत किसी न किसी प्रकार के विद्यालय में पढ़ने जाते थे। ५ वर्ष के अन्दर यह प्रतिशतता बढ़कर ४० प्रतिशत हो गयी और उसके बाद इसमें और भी वृद्धि हुई है। ३१ मार्च १९४८ को उन सब बड़े राज्यों में, जो अब भारतीय संघ के 'क' श्रेणी के राज्य कहलाते हैं, प्राथमिक पाठशालाओं की संख्या लगभग १४०००० थी। ३१ मार्च १९५३ को यह संख्या बढ़कर लगभग १८०००० हो गयी। इन राज्यों में विद्यार्थियों की संख्या में ४६ लाख से भी अधिक की वृद्धि हो गयी है। यद्यपि अन्य राज्यों के सम्बन्ध में आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं—१९४७ से पहले कई देशी राज्यों में कोई सुसंगठित शिक्षण प्रणाली ही नहीं थी; फिर शिक्षण सम्बन्धी आँकड़ों का तो कहना ही क्या? फिर भी यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि इन राज्यों में भी शिक्षा की वृद्धि इसी अनुपात में या इससे भी काफी अधिक ही हुई होगी। ३१ मार्च १९५३ को सम्पूर्ण भारत में प्रारम्भिक विद्यालयों की संख्या २२०००० से अधिक थी और उनमें शिक्षा पा रहे छात्रों की संख्या १ करोड़ ९० लाख से भी अधिक थी।

इस प्रकार केवल शिक्षा के परिमाण में ही अत्यधिक विस्तार नहीं हुआ, बल्कि शिक्षा की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में भी उल्लेखनीय सुधार हुआ है। पुराने ढंग की शिक्षा के स्थान पर, जो मुख्य रूप से साहित्य सम्बन्धी और किताबी शिक्षा थी, अब प्रारम्भिक स्तर पर धीरे-धीरे राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा की प्रणाली प्रारम्भ की जा रही है। बुनियादी शिक्षा की धारणा में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षा का सम्बन्ध जीवन से होना चाहिये और शिक्षा किसी

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी गतिविधि, जैसे कोई कला-कौशल, के साथ मिली-जुली होनी चाहिये। विद्यालय के पाठ्यक्रम में विभिन्न विषयों को अलग-अलग एक दूसरे से पृथक् समझने के बजाय ऐसा प्रयत्न किया जाना चाहिये, जिससे उन सब विषयों का एक दूसरे से सम्बन्ध और उनकी एकता स्पष्ट हो जाय। साथ ही, विद्यालयों को चाहिये कि वे बच्चों को बचपन से ही यह सिखायें कि एक सहकारी समाज के सदस्य के रूप में किस प्रकार जीवन बिताना उचित है। भारत सरकार तथा राज्य सरकारों ने बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है और इस प्रणाली को अपनाने के लिए परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। अध्यापकों को प्रशिक्षण देने के कार्यक्रम और मार्गदर्शक (पायोनियर) परियोजनाएँ शुरू की जा चुकी हैं, जिससे उनका आगे विस्तार करने में सरलता रहे। बुनियादी विद्यालयों की संख्या में भी वृद्धि हुई है परन्तु यह प्रगति उतनी तीव्र नहीं हुई, जितनी कि होनी चाहिये; और इसका कारण समुचित रूप से प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी रही है।

१९४७ में प्राथमिक विद्यालयों में ५६१००० अध्यापक काम कर रहे थे, जिनमें से केवल ५८.२ प्रतिशत प्रशिक्षित थे। उस समय प्रशिक्षण विद्यालयों में प्रतिवर्ष ४०००० से कम लोग भरती होते थे। १९५३ में प्रशिक्षण विद्यालयों में होने वाली यह भरती प्रतिवर्ष ७०००० से भी अधिक हो गयी। पहले से विद्यमान प्रशिक्षण विद्यालयों में से अनेक को बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों में परिवर्तित कर दिया गया है। कई जगह प्रशिक्षण की अवधि घटाकर कम कर दी गयी है और उसके साथ यह व्यवस्था की गयी है कि नियत अवधि के बाद अध्यापन कार्य कर रहे अध्यापकों को बीच-बीच में प्रशिक्षण दिया जाता रहे। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि देश की आवश्यकताओं को देखते हुए ये प्रशिक्षण संस्थाएँ और इनमें प्रशिक्षण पाने वाले व्यक्तियों की संख्या अब भी अपर्याप्त है।

इस समय विद्यमान प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालयों में बड़े पमाने पर परिवर्तित करने का काम ऐसा है कि इसमें काफी समय लगेगा। इसलिए कुछ अन्तर्कालीन ऐसे कदम उठाये गये हैं, जिससे प्राथमिक शिक्षा के विषयों का कई रूपों में सुधार हो सके। उन सबमें इस बात का ध्यान रखा गया है कि आगे चलकर उन विषयों को बुनियादी शिक्षा में परिवर्तित कर

पाना आसान रहे। इस प्रकार पाठ्यक्रम को और अच्छा बनाने के लिए उसमें कुछ दस्तकारियों तथा अन्य कई प्रकार की सृजनात्मक गतिविधियों को स्थान देने का प्रयत्न भी किया गया है।

प्राथमिक शिक्षा पर होने वाले व्यय में हुई वृद्धि से भी यह बात सूचित होती है कि देश संविधान में बतलाये हुए लक्ष्यों को जल्दी से जल्दी पूरा करने के लिए कितना चिंतित है। ३१ मार्च १९४८ को 'क' श्रेणी के राज्यों में प्राथमिक विद्यालयों पर होने वाला कुल व्यय १८ करोड़ ७० लाख रुपये प्रतिवर्ष था। १९५३ में ३१ मार्च को यह व्यय बढ़कर २४ करोड़ ९० लाख रुपये प्रतिवर्ष हो गया था। ३१ मार्च १९५३ को सम्पूर्ण भारत में प्राथमिक विद्यालयों पर होने वाला कुल व्यय ४३ करोड़ ७० लाख रुपये प्रतिवर्ष था।

यदि दो अन्य महत्वपूर्ण तत्वों का उल्लेख न किया जाय, तो भारत में प्रारम्भिक शिक्षा में हुई वृद्धि का यह चित्र न तो स्पष्ट ही हो पायेगा और न सम्पूर्ण ही होगा। स्वाधीनता के आगमन के फलस्वरूप अब लोग अपने अधिकार का उपयोग करने के लिए ऐसे उत्सुक हो उठे हैं, जैसे कि वे पहले कभी नहीं हुए थे; और वे अपने बच्चों को उचित शिक्षा दिलाने के लिए अधीर हैं। सारे देश में लोगों ने गाँवों में विद्यालयों के भवनों के निर्माण के लिए जमीन, पैसा और शारीरिक श्रम खुले दिल से प्रदान किया है। केवल एक जिले में ही स्थानीय लोगों ने विद्यालयों के लिए ६०० मकान तैयार किये। जिन क्षेत्रों में १९४७ से पहले शिक्षण की सुविधाएँ थीं ही नहीं, या बहुत अल्प थीं, उनमें शिक्षा पाने की उत्सुकता और क्षेत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट दीख पड़ती है। उत्तर पूर्वी सीमान्त एजेन्सी के कबाइली इलाके में, जो लगभग ३०००० वर्ग मील में फैला हुआ है, १९४७ से पहले एक भी विद्यालय नहीं था। १९५३ में इस एजेन्सी में लगभग १९०० विद्यालय बन चुके थे।

२

राष्ट्र के साधनों का सर्वप्रथम उपयोग बालकों की शिक्षा के लिए किया जाना चाहिये। परन्तु बालकों के बड़े होने में समय लगता है, और इस बीच में संसार का घटनाचक्र रुका नहीं रहेगा। १९३७ में प्रान्तीय स्वशासन प्रारम्भ होने और देहाती इलाकों में मताधिकार का फैलाव हो जाने से वयस्कों की

शिक्षा को बहुत बड़ा और प्रत्यक्ष प्रोत्साहन मिला। वयस्क शिक्षा के इस आन्दोलन के फलस्वरूप साक्षरता में काफी वृद्धि हुई। किन्तु उसके बाद भी ५ वर्ष से अधिक आयु की कुल जनसंख्या में से १९४१ में साक्षर लोग केवल १४.६ प्रतिशत थे। १९५१ तक यह संख्या बढ़कर १८.३ तक पहुच गयी थी। परन्तु केवल इन दो संख्याओं को जान लेने से ही सारा वृत्तान्त स्पष्ट नहीं हो जाता। १९३७ में वयस्क शिक्षा के क्षेत्र में जो बड़ी तीव्र गतिविधि प्रारम्भ हुई थी, उसमें दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ जाने से बड़ी बाधा पड़ गयी; हालाँकि विश्वयुद्ध का पूरा प्रभाव भारत में १९४१ के बाद ही अनुभव होना शुरू हुआ। युद्ध काल में शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं में वृद्धि तो कहाँ होनी थी, उल्टे बहुत बड़े पैमाने पर कमी हो गयी। बहुत-से विद्यालय बन्द कर दिये गये और वयस्क शिक्षण की गतिविधियाँ लगभग ठप हो गयीं। १९४६ में आकर कहीं फिर वयस्क शिक्षा के कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया जा सका। १९४६ और १९४७ के वर्षों में भी बड़ा तनाव और अनिश्चितता-सी रही, जिसके कारण सब प्रकार का रचनात्मक कार्य रुका-सा रहा; और इस तनाव का परिणाम अन्त में देश विभाजन के रूप में प्रकट हुआ। इसलिए यह लगभग निश्चित ही है कि स्वाधीनता प्राप्ति के समय देश में साक्षरता के आँकड़े १९४१ की अपेक्षा कुछ कम ही रहे होंगे। इसलिए साक्षरता में १४.६ प्रतिशत से १८.३ प्रतिशत की वृद्धि पूर्णतया स्वाधीनता के पश्चात् के काल में प्राप्त सफलता समझी जानी चाहिये।

सुविधाओं में अत्यधिक विस्तार के अतिरिक्त विद्यालयों में भर्ती की संख्या पाँच गुनी से भी अधिक हो गयी है—भारत में वयस्क शिक्षा के कार्यक्रमों में उत्कृष्टता की दृष्टि से भी उल्लेखनीय सुधार हुआ है। स्वाधीनता से पहले वयस्क शिक्षा के कार्यक्रमों का लक्ष्य केवल पढ़ना-लिखना सिखाना अर्थात् अक्षर ज्ञान भर कराना था। परन्तु अनुभव से यह स्पष्ट हो गया है कि केवल अक्षर ज्ञान प्राप्त करने से वयस्कों का शिक्षा के प्रति वह उत्साह, जो शुरू में बड़ा तीव्र होता है, धीरे-धीरे घटता चला जाता है। इसलिए नये कार्यक्रमों में ऐसी पद्धतियाँ खोज निकालने पर जोर दिया गया, जिनसे लोगों की शिक्षा में रुचि बनी रहे और साथ ही यह शिक्षा उन कामों को पूरा करने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हो, जो उन शिक्षा पाने वाले वयस्क लोगों को करने ही पड़ते हैं।

भारत सरकार ने वयस्क शिक्षा की जो नयी धारणा बनायी है, उसमें इन दोनों बातों को पूरा करने का प्रयत्न किया गया है। इस धारणा में साक्षरता के महत्व को स्वीकार अवश्य किया गया है, किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि यदि किसी शिक्षणात्मक कार्यक्रम को सफल बनाना है, तो उसमें वयस्क लोगों की विविध रुचियों को बराबर बनाये रखना आवश्यक है। इसलिए सामाजिक शिक्षा का एक पंचसूत्री कार्यक्रम तैयार किया गया है, जिसमें (क) साक्षरता (ख) आरोग्य और स्वास्थ्य रक्षा के नियमों का ज्ञान (ग) आर्थिक दशाओं को सुधारने का प्रशिक्षण (घ) नागरिक शिक्षा और नागरिकता की शिक्षा तथा (ङ) शिक्षा के मनोरंजनात्मक पहलुओं पर यथोचित बल दिया गया है।

यह स्पष्ट करने के लिए कि ये नये कार्यक्रम केवल साक्षरता के पुराने कार्यक्रमों से भिन्न हैं और इस बात पर जोर देने के लिए कि वयस्कों को दी जाने वाली शिक्षा सामाजिक विषयों से सम्बद्ध होनी चाहिये, इन नये कार्यक्रमों को 'समाज शिक्षा' नाम दिया गया है।

१९३७–३९ के दिनों में चलाये गये वयस्क शिक्षा आन्दोलन के अनुभवों से यह बात भी मालूम हुई कि यदि नवसाक्षर लोगों की आवश्यकताओं और रुचियों के अनुकूल पर्याप्त मात्रा में पाठ्य सामग्री विद्यमान न हो, तो साक्षरता भी देर तक बनी नहीं रह सकती। लोग पढ़ा-लिखा सब भूल जाते हैं। १९५० के प्रारम्भ में यह निश्चय किया गया था कि उन विभिन्न विषयों पर, जिनमें सामान्य मनुष्य को दिलचस्पी होती है, छोटी-छोटी पुस्तिकाओं की एक माला प्रकाशित की जाय। अब तक हिन्दी में १६० पुस्तिकाएँ प्रकाशित की जा चुकी हैं, और उनके सम्बन्ध में सबको यह खुली अनुमति है कि वे किसी भी भारतीय भाषा में अनुवाद करके प्रकाशित की जा सकती हैं। हाल ही में एक और योजना प्रारम्भ की गयी है, जिसके अनुसार किसी भी भारतीय भाषा में छपी नवसाक्षरों के लिए उपयोगी स्वीकृत पुस्तक की एक न्यूनतम बिक्री का आश्वासन दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की पुस्तकों में से कुछ चुनी हुई पुस्तकों पर प्रतिवर्ष पुरस्कार भी दिये जाया करेंगे। केन्द्रीय सरकार ने सरल हिन्दी भाषा में जनता के लिए ज्ञान कोष (ज्ञान सरोवर) का पहला भाग भी तैयार कर लिया है। यह ज्ञानकोष पाँच भागों में प्रकाशित होगा। नवसाक्षरों के

लिए उपयोगी साहित्य के सृजन के सम्बन्ध में विशेष प्रशिक्षरण देने के लिए कुछ साहित्यिक वर्कशापों का भी आयोजन किया जा चुका है। कई राज्य सरकारों ने भी विभिन्न भारतीय भाषाओं में इस प्रकार के साहित्य का सृजन करने के लिए प्रशंसनीय कार्य किया है।

किन्तु भारत का साक्षरता का प्रसार करने का प्रयत्न केवल अपनी समस्याओं तक ही सीमित नहीं रहा है। इस बात को अनुभव करते हुए कि सभी अल्प विकसित देशों में जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने में शिक्षा का महत्वपूर्ण हाथ होता है, भारत ने एशिया में 'सामुदायिक कार्यवाही के लिए देहाती वयस्कों की शिक्षा' के बारे में यूनैस्को के पहले सैमीनार का आयोजन किया। भारत ने 'मूलभूत शिक्षा' के सम्बन्ध में कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षरण देने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र की स्थापना के लिए भी सुविधाएँ प्रदान की हैं। सामाजिक शिक्षा में दृश्य-श्रव्य (औडियो-विजुअल) उपकरणों का अधिकाधिक प्रयोग करने के लिए भी कदम उठाये गये हैं। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए समय-समय पर कार्यकर्ताओं के लिए विशेष प्रशिक्षरण के पाठ्यक्रमों का आयोजन किया गया है।

समाज शिक्षा के सम्बन्ध में हुई प्रगति का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि १९४७ से लेकर १९५४ तक की अवधि में एक करोड़ से अधिक निरक्षर लोगों को साक्षर बनाया गया। यह बात विशेषरूप से प्रसन्नता की है कि महिलाओं ने भी इन कार्यक्रमों में बड़े उत्साह से भाग लिया है और नवसाक्षर लोगों में उनका अनुपात भी काफी अधिक है।

३

प्रारम्भिक शिक्षा का पुनर्गठन या वयस्कों की शिक्षा का विस्तार तब तक असम्भव है, जब तक उसी अनुपात में माध्यमिक शिक्षा का विस्तार और पुनर्गठन न हो जाय। प्राथमिक शिक्षा और वयस्क शिक्षा दोनों के लिए ही अध्यापक मुख्य रूप से माध्यमिक विद्यालयों द्वारा तैयार किये जाते हैं। साथ ही उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थियों को भी माध्यमिक विद्यालय ही तैयार करते हैं। इस प्रकार समाज के शिक्षा के कार्यक्रम में माध्यमिक शिक्षा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु यह बात सर्वविदित है

कि अब तक भारतीय शिक्षा की शृंखला में माध्यमिक शिक्षा की सबसे कमजोर कड़ी रही है। परिमाण की दृष्टि से, यह माध्यमिक शिक्षा ११ से १७ वर्ष की आयु के बालकों में से केवल १० प्रतिशत को पढ़ने की सुविधा प्रदान कर पा रही है। बढ़ते हुए प्रजातन्त्र की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यह संख्या बिल्कुल ही अपर्याप्त है। इसके अतिरिक्त ये १० प्रतिशत बालक भी योग्यता के आधार पर नहीं चुने जाते ; बल्कि इस आधार पर चुने जाते हैं कि किस बालक का परिवार विद्यालय की फीस का खर्चा उठा पाने में समर्थ है। गुण या उत्कृष्टता (क्वालिटी) की दृष्टि से, इस माध्यमिक शिक्षा की अपनी कोई विशेषता नहीं है। इसे एक ऐसा निश्चित पड़ाव भी नहीं माना जा सकता, जहाँ पर एक नियत स्तर तक की औपचारिक (फार्मल) शिक्षा समाप्त हो जाती है। माध्यमिक शिक्षा को उच्चतर शिक्षा की केवल तैयारी मात्र समझा जाता है ; और लगभग वे सभी बालक, जो माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करते हैं, विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने पहुँच जाते हैं। एक बात और , यह शिक्षा बहुत अधिक किताबी शिक्षा है, और विभिन्न अभिरुचि (ऐप्टिट्यूड वाले) छात्रों की अलग-अलग आवश्यकताओं को पूरा कर पाने में असमर्थ है।

इसलिए परिमाण और उत्कृष्टता दोनों की ही दृष्टि से माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन एक तात्कालिक आवश्यकता है । एक ओर तो १९४७ से पहले विद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या वाले छात्रों को शिक्षा देने की व्यवस्था करने की आवश्यकता है ; और दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि विभिन्न अभिरुचि वाले छात्रों के लिए अलग-अलग प्रकार के विभिन्न विषयों की शिक्षा की व्यवस्था की जाय । साथ ही यह भी आवश्यक है कि देहाती और शहरी क्षेत्रों की अलग-अलग आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नये ढंग के व्यावसायिक विद्यालय (वोकेशनल स्कूल) तैयार किये जायँ।

१९४७ के बाद माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में परिमाण की दृष्टि से हुआ विस्तार कई बार आश्चर्यजनक कहा जाता है ; और यह कहना निराधार नहीं है। १९४८ में उन प्रान्तों में, जिन्हें अब 'क' श्रेणी के राज्य कहा जाता है, माध्यमिक विद्यालयों की कुल संख्या, जिसमें मिडिल स्कूल और हाई स्कूल दोनों ही सम्मिलित थे, १२५०० से कुछ ही अधिक थी। पाँच वर्ष बाद १९५३ में

यह संख्या बढ़कर १८५०० हो गयी। यदि केवल हाई स्कूलों (उच्च विद्यालयों) और हायर सैकेन्डरी स्कूलों (उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों) पर ही ध्यान दिया जाय, तो प्रगति और भी अधिक आश्चर्यजनक प्रतीत होगी। १९४८ में ऐसे विद्यालयों की संख्या ४००० से भी कम थी और १९५४ में यह बढ़कर लगभग १०००० तक जा पहुँची।

इन विद्यालयों में भर्ती होने वाले छात्रों के आँकड़े भी इतने ही विस्मयजनक हैं। १९४८ में 'क' श्रेणी के राज्यों में विद्यमान मिडिल स्कूलों में छात्रों की संख्या १० लाख से कुछ ही अधिक थी। १९५३ में यह संख्या बढ़कर १५ लाख हो गयी थी। उच्च विद्यालयों और उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में १९४८ में छात्रों की संख्या १८ लाख थी, जो १९५३ में बढ़कर लगभग ३० लाख हो गयी। सब प्रकार के माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा पा रहे छात्रों की कुल संख्या १९५४ में ६० लाख से अधिक थी। माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम पूरा करने वाले विद्यार्थियों की संख्या १९४८ से १९५३ तक बढ़कर दुगनी से भी अधिक हो गयी।

माध्यमिक शिक्षा के ऊपर होने वाले व्यय में हुई वृद्धि भी चौंकाने वाली है। १९४८ में 'क' श्रेणी के राज्यों में माध्यमिक शिक्षा पर हुआ प्रत्यक्ष व्यय १३ करोड़ ४८ लाख रुपये था। १९५३ में यह अंक बढ़कर २८ करोड़ ६८ लाख रुपये हो गया। सम्पूर्ण भारत में १९५३ में माध्यमिक शिक्षा पर ३६ करोड़ ८५ लाख रुपये व्यय हुए।

इस अवधि में माध्यमिक शिक्षा के गुणात्मक सुधार अर्थात् शिक्षा की किस्म के सुधार के लिए भी अनवरत प्रयत्न किया गया। अनेक राज्यों ने इस सम्बन्ध में सिफारिशें प्रस्तुत करने के लिए अपनी-अपनी समितियाँ नियुक्ति कीं। परन्तु यह भी अनुभव किया गया कि माध्यमिक शिक्षा स्वतन्त्र भारत की आवश्यकताओं को ठीक-ठीक रूप से पूरा कर सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि इस सारी समस्या का अखिल भारतीय पैमाने पर परिमाप (सर्वे या सर्वेक्षण) किया जाय। इसलिए १९५२ में एक आयोग की नियुक्ति की गयी, जिसके अध्यक्ष डा० लक्ष्मण स्वामी मुदालियार थे। इस आयोग का काम सम्पूर्ण भारत में माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं पर विचार करना था। इस आयोग ने अपना प्रतिवेदन (रिपोर्ट) १९५३ में प्रस्तुत कर दिया।

यहाँ इस आयोग द्वारा की गयी केवल थोड़ी-सी बड़ी-बड़ी सिफारिशों का ही संकेत कर देना उचित होगा। इस आयोग ने सिफारिश की है कि माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्य क्रम में एक वर्ष और बढ़ा दिया जाय, जिससे माध्यमिक शिक्षा पूर्ण हो जाय और उसे भी अपने आपमें एक पूरी मंजिल समझा जा सके। आशा की जाती है कि इससे विद्यार्थियों के ज्ञान का स्तर ऊँचा हो जायगा और विद्यार्थी विभिन्न व्यवसायों में जाने के लिए तैयार हो सकेंगे। एक और महत्वपूर्ण सिफारिश यह है कि सारे पाठ्यक्रम का नये सिरे से पुनर्गठन किया जाय, जिससे विद्यार्थियों के ऊपर और अधिक भार डाले बिना पाठ्य विषयों में और अधिक विविधता लाई जा सके। ऐसा करने के लिए यह यत्न किया जा रहा है कि सारे पाठ्यक्रम को कुछ बड़ी सावधानी के साथ चुने हुए महत्वपूर्ण विषयों के आधार पर और उनसे सम्बद्ध रूप में तैयार किया जाय। एक तीसरी महत्वपूर्ण सिफारिश यह है कि बड़ी संख्या में बहुप्रयोजन विद्यालय (मल्टीपरपज़ स्कूल) खोले जायँ। परीक्षा प्रणाली के सम्बन्ध में भी बहुत बड़े पैमाने पर सुधारों की सिफारिश की गयी है।

आयोग की कुछ सिफारिशें तो ऐसी हैं, जिन्हें राज्य सरकारें पिछले ७ वर्षों में पहले ही अपनाना प्रारम्भ कर चुकी थीं। शेष सिफारिशों पर तत्परतापूर्वक कार्य किया जा रहा है। बहुत-से माध्यमिक विद्यालयों में नागरिक शास्त्र, संगीत, कला-कौशल और कृषि जैसे विषय प्रारम्भ करके पाठ्यक्रम में सुधार कर दिया गया है। नये प्रकार के उच्च विद्यालय भी खोले गये हैं, जिनमें कृषि, शिल्प और व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा दी जाती है। इससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण एक नये प्रकार के उस माध्यमिक विद्यालय का विकास है, जिसका स्वरूप उत्तर बुनियादी विद्यालय (पोस्ट बेसिक स्कूल) का होगा।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षकों की उत्कृष्टता के सुधार के लिए क्या प्रयत्न किये गये हैं। प्रशिक्षण की सुविधाओं में बहुत अधिक वृद्धि की गयी है; और सेवा काल में ही प्रशिक्षण के लिए नये पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये गये हैं। राष्ट्रीय सरकार ने सत्ता-रूढ़ होने के चार महीने के अन्दर-अन्दर दिल्ली में केन्द्रीय शिक्षा प्रतिष्ठान (सेंट्रल इन्स्टीट्यूट आफ एजूकेशन) की स्थापना की, जिससे अध्यापकों के प्रशिक्षण

को नया रूप दिया जा सके और शिक्षण सम्बन्धी अनुसन्धान के कार्यक्रम प्रारम्भ किये जा सकें। यह प्रतिष्ठान इस समय ऐसी बुनियादी शिक्षा का ढंग खोज निकालने का यत्न कर रहा है, जो शहरी इलाकों के लिए उपयुक्त हो। साथ ही विद्यालयों में इस्तेमाल होने वाले सस्ते और उपयोगी फर्नीचर तैयार करने और नये और मितव्ययपूर्ण दृश्य-श्रव्य उपकरण तैयार करने के सम्बन्ध में भी अनुसन्धान किया जा रहा है। अपने सात वर्ष के छोटे-से जीवन काल में इस प्रतिष्ठान ने इतनी प्रगति की है, कि उससे भारत और भारत से बाहर के अनेक प्रमुख विद्वानों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ है।

४

विश्वविद्यालय की शिक्षा के क्षेत्र में देश की सबसे प्रमुख आवश्यकता यह है कि इस समय विद्यमान सुविधाओं को पक्का किया जाय, और उनमें सुधार किया जाय। फिर भी इस क्षेत्र में परिमाण की दृष्टि से भी काफी विस्तार हुआ है। १९४७ से पहले अविभक्त भारत में २१ विश्वविद्यालय थे। विभाजन होने के बाद भी केवल भारतीय संघ में ही विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़कर ३१ हो गयी है। उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या जो १९४८ में २२५००० से कम थी, १९५३ में बढ़कर ४६५००० से भी अधिक हो गयी। १९४८ में भारतीय संघ के 'क' श्रेणी के राज्यों में विश्वविद्यालयों से स्नातक होने वाले छात्रों की संख्या २७००० थी; १९५३ में यह बढ़कर ५२००० हो गयी।

विश्वविद्यालयों तथा उच्चतर शिक्षा देने वाली अन्य संस्थाओं पर होने वाला व्यय जिसमें प्राविधिक शिक्षा का व्यय सम्मिलित नहीं है—१९४८ में 'क' श्रेणी के राज्यों में ७ करोड़ ९२ लाख रुपये था; १९५३ में यह बढ़कर १६ करोड़ ४० लाख रुपये हो गया। १९५३ में सम्पूर्ण भारत में उच्चतर शिक्षा पर होने वाले व्यय की राशि २१ करोड़ १६ लाख रुपये थी।

परन्तु विश्वविद्यालय की शिक्षा के क्षेत्र में मुख्य समस्या शिक्षा की उत्कृष्टता की है। १९४७ से पहले भी यह शिकायत थी कि शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है। विश्वविद्यालयों में छात्रों की बहुत भीड़ और केवल सैद्धान्तिक विषयों का बहुत अधिक ध्यान दिये जाने की आलोचना शिक्षाशास्त्रियों और सार्व-

जनिक नेताओं दोनों ने ही की थी। इस बात की ओर भी ध्यान खींचा गया था कि विश्वविद्यालय केवल शहरों की आवश्यकता को पूरा करते हैं और ग्रामों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए उनके पास कुछ है ही नहीं। १९४७ में यह अनुभव किया गया कि विश्वविद्यालय की शिक्षा की समूची समस्या की नये सिरे से पड़ताल होनी चाहिये। तदनुसार १९४८ में प्रोफेसर सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक भारतीय विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की नियुक्ति की गयी और इस आयोग ने १९४९ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया।

इस आयोग का कथन है कि विश्वदिद्यालयों को न केवल राजनीति और प्रशासन के क्षेत्र में ही नेतृत्व प्रदान करना चाहिये, अपितु विभिन्न पेशों, उद्योगों और वाणिज्य के क्षेत्र में भी नेतृत्व प्रदान करना चाहिये। उन्हें हर प्रकार की उच्चतर शिक्षा की साहित्यिक और वैज्ञानिक, प्राविधिक और व्यावसायिक उच्चतर शिक्षा की बढ़ती हुई माँग को पूरा करना चाहिये। विस्तृत उदार अर्थात् साहित्यिक शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए भी आयोग ने भारतीय विश्वविद्यालयों में विज्ञान, शिल्प और कृषि की शालाओं (फैकल्टीज) को विकसित करने की आवश्यकता पर जोर दिया है। आयोग की सम्मति में भारत जैसे देश के लिए कृषि शिक्षा का विस्तार ऐसी वस्तु है, जिसे सबसे अधिक अग्रता दी जानी चाहिये। आयोग का सुझाव है कि कृषि महाविद्यालय यथासम्भव देहाती क्षेत्रों में बनाये जाने चाहियें, इससे छात्रों को देहाती जीवन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का अवसर मिलेगा और वे देहाती परिस्थितियों के सम्बन्ध में सीधा और प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकेंगे। इससे शिक्षा की वर्तमान प्रणाली के सम्बन्ध में की जाने वाली इस आलोचना का भी निराकरण हो जायगा, कि इस शिक्षा प्रणाली में देहाती क्षेत्रों की आवश्यकताओं की उपेक्षा की जाती है।

स्वाधीनता प्राप्त होने से पहले सब भारतीय विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा थी। परन्तु सब प्रमुख शिक्षा शास्त्रियों का विचार था कि इसके कारण अधिकांश विद्यार्थियों पर एक अनावश्यक और अनुचित बोझ पड़ जाता है और यथासमय अंग्रेजी का स्थान किसी न किसी भारतीय भाषा को लेना होगा। १९४७ के वाद अंग्रेजी को हटाने की माँग बहुत प्रबल हो उठी। इस

माँग के उपसिद्धान्त (कोरोलरी) के रूप में कई प्रादेशिक विश्वविद्यालय स्थापित किये गये और यह कहा जा सकता है कि १९५२ तक भारत का कोई ऐसा प्रमुख भाषा-प्रदेश नहीं रहा था, जिसका अपना विश्वविद्यालय न हो। साथ ही शिक्षा-शास्त्रियों का यह आग्रह था और सामान्यतया सारा देश इससे सहमत था कि शिक्षण के माध्यम के परिवर्तन की प्रगति शिक्षा की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए होनी चाहिये, किन्हीं बाह्य कारणों के आधार पर नहीं। इस सम्बन्ध में आयोग की सिफारिशों से जनमत को सुस्थिर बनाने और शिक्षा के प्रमापों को कायम रखने में सहायता मिली है।

इस आयोग की सिफारिशों में सबसे महत्वपूर्ण एक सिफारिश यह थी कि जैसे ग्रेट ब्रिटेन में विश्वविद्यालय अनुदान समिति है, उसी ढंग पर भारत में भी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना की जाय। इस सिफारिश के अनुसार केन्द्रीय सरकार ने पहले एक विश्वविद्यालय अनुदान समिति की स्थापना की। पहले यह बताया जा चुका है कि विश्वविद्यालय की शिक्षा के क्षेत्र में प्रमापों को यथोचित रूप में बनाये रखना और उपलब्ध सुविधाओं का समन्वय करना केन्द्रीय सरकार की जिम्मेदारी है। यह बात सामान्यतया स्वीकार कर ली गयी थी कि इस जिम्मेदारी को विश्वविद्यालय अनुदान समिति को सबल बना कर सबसे अधिक अच्छे रूप में निबाहा जा सकता है। हाल ही में इस समिति का स्थान विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने ले लिया है, जिसके अधिकार और कार्य समिति अपेक्षा का अधिक कर दिये गये हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में वितरण के लिए बड़ी धनराशियाँ इस आयोग को दे दी गयी हैं। आशा की जाती है कि यह आयोग अपने स्वस्थ, किन्तु परोक्ष प्रभाव द्वारा विश्वविद्यालयों में कहीं अधिक अच्छा समन्वय (कोआर्डिनेशन) स्थापित कर सकेगा और उच्चतर शिक्षा के लिए प्रभावपूर्ण और मितव्ययी प्रसार के लिए परिस्थितियाँ तैयार कर सकेगा। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद अपनायी गयी नीति के फलस्वरूप विश्व-विद्यालयों में अनुसन्धान की प्रगति को भी बड़ा प्रोत्साहन मिला है। आशा की जाती है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग इस प्रगति को न केवल बनाये रखेगा, अपितु इसे और भी सबल बनायेगा।

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की एक और महत्वपूर्ण सिफारिश के अनुसार होनहार युवक और युवतियों को उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने तथा अनुसन्धान

करने में समर्थ बनाने के लिए विज्ञान तथा अन्य कलाओं—साहित्य, अर्थशास्त्र, राजनीति इत्यादि–के लिए अनुसन्धान-छात्रवृत्तियाँ देनी शुरू की गयी हैं। अनुसन्धान का उन्नत कार्य करने के लिए विश्वविद्यालयों तथा अनेक राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में सुविधाओं में बहुत वृद्धि कर दी गयी है। इन प्रयोगशालाओं की स्थापना स्वाधीनता के बाद प्राप्त हुई बड़ी महत्वपूर्ण सफलता है। ठीक-ठीक कहा जाय तो ये शिक्षण संस्थाएँ नहीं हैं, अपितु उच्चतर अध्ययन और अनुसन्धान के महत्वपूर्ण केन्द्र हैं। ये वैज्ञानिक शिक्षा के प्रमापों में सुधार करने में अत्यधिक महत्वपूर्ण योग दे सकती हैं।

५

द्वितीय विश्व युद्ध के समय भारत की राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की अनेक बड़ी-बड़ी त्रुटियाँ सामने आयीं। युद्ध की आवश्यकताओं के कारण औद्योगिक और प्राविधिक क्षेत्र में निस्सन्देह कुछ प्रगति हुई, परन्तु यह प्रगति राष्ट्र के सर्वांगीण विकास को बनाये रखने के लिए किसी सुआयोजित कार्यक्रम के अनुसार न होकर केवल तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए की गयी, कुछ काम चलाऊ ढंग की प्रगति थी। लड़ाई बन्द होने के बाद देश में बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण प्रारम्भ किया गया; परन्तु यह उद्योगीकरण तब तक सफल नहीं हो सकता था, जब तक कि देश में इंजीनियरिंग और प्राविधिक शिक्षा का बिलकुल नये सिरे से पुनर्गठन न किया जाय। इस समस्या को हल करने के लिए अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षण परिषद् (आल इंडिया कौंसिल फार टैकनिकल एजूकेशन) की स्थापना की गयी, जिसका काम सब स्तरों पर प्रमापों को सुधारने और शिल्प सम्बन्धी शिक्षा की सुविधाओं में वृद्धि करने के उपाय सुझाना था।

स्वाधीनता मिल जाने के बाद इस कार्य को और अधिक प्राथमिकता दी गयी। यह अधिकाधिक अनुभव किया गया कि सारी भौतिक प्रगति प्रविधि तथा विज्ञान जानने वाली जनशक्ति पर निर्भर है। दूसरी ओर देश में इंजीनियरिंग तथा प्राविधिक शिक्षा के लिए विद्यमान सुविधाएँ उत्कृष्टता की दृष्टि से और परिमाण की दृष्टि से आवश्यकताओं की अपेक्षा कहीं कम थीं। १९४७-४८ में भारत में इंजीनियरिंग में केवल लगभग ९०० स्नातक हुए और प्रविधि विज्ञान

(टैक्नोलौजी) में केवल ३०० । स्नातकोत्तर स्तर पर अनुसन्धान करने और उन्नत प्रशिक्षण के लिए इंजीनियरिंग के क्षेत्र में सुविधाएँ बहुत ही कम थीं और प्रविधि विज्ञान के क्षेत्र में तो लगभग थीं ही नहीं। इसलिए प्राविधिक शिक्षा का क्षेत्र ऐसा था, जिसमें न्यूनतम समय में अधिकतम प्रगति की जाने की आवश्यकता थी।

जिस प्रकार इस क्षेत्र में आवश्यकता तीव्रतम थी, उसी प्रकार इसमें प्रगति भी आश्चर्यजनक तेजी से हुई है। इंजीनियरिंग और प्रविधि विज्ञान दोनों में स्नातकों की संख्या तिगुनी से भी अधिक हो गयी है। सारे देश में कुछ चुनी हुई संस्थाओं को अपनी इमारतों, प्रयोगशालाओं और उपकरणों को सुधारने के लिए बड़े-बड़े अनुदान दिये गये हैं। इन संस्थाओं के शिक्षक वर्ग को बढ़ाने के लिए भी कदम उठाये गये हैं। गरीब होनहार विद्यार्थियों को दी जाने वाली छात्रवृत्ति की संख्या में भी बहुत अधिक वृद्धि कर दी गयी है। अतीत में प्राविधिक शिक्षा (टेकनिकल एजूकेशन) की एक कमजोरी यह थी कि यथोचित व्यावहारिक प्रशिक्षण की सुविधाओं का अभाव था। इस कमी को पूरा करने के लिए उद्योगों के सहयोग से औद्योगिक प्रशिक्षण छात्रवृत्तियों की एक योजना चालू की गयी है।

भारतीय प्राविधिक शिक्षा के क्षेत्र में एक सबसे महत्वपूर्ण घटना १९५१ में कलकत्ता के पास खड़गपुर में भारतीय प्रविधि विज्ञान प्रतिष्ठान (इंडियन इंस्टीट्यूट आफ टैक्नोलोजी) की स्थापना है। मुख्य रूप से इस प्रतिष्ठान का उद्देश्य यह है कि इसमें स्नातकोत्तर अध्ययन और अनुसन्धान का प्रबन्ध हो। इसलिए इस संस्था में उच्चतम स्तर तक शिल्प विज्ञान के शिक्षक और अनुसन्धान की सुविधाएँ प्राप्त हो सकेंगी। अन्त में जाकर यह प्रतिष्ठान इंजीनियरिंग और प्रविधि विज्ञान के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सुविधाएँ प्रदान कर सकेगा। यहाँ पर विशेष रूप से यह उल्लेख कर देना भी उचित होगा कि कम्बश्चन इंजीनियरिंग, उत्पादन सम्बन्धी शिल्प विज्ञान, नौनिर्माण शिल्प (नैवल आर्किटेक्चर), मशीनों को चलाने और सम्हालने तथा औद्योगिक इंजीनियरिंग के क्षेत्र में काम इस समय तक शुरू भी हो चुका है।

बंगलौर में स्थित भारतीय विज्ञान प्रतिष्ठान की पुरानी शालाओं (फैकल्टीज) को परिवर्धित किया गया है, और कुछ नयी शालाएँ भी बनायी गयी हैं।

१९४७ से पहले भी इस प्रतिष्ठान ने विशुद्ध तथा मूल विज्ञानों के सम्बन्ध में अनुसन्धान केन्द्र के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी। १९४७ और १९५२ के बीच इस प्रतिष्ठान के प्राविधिक विकास के लिए बनायी गयी योजनाओं के कारण, जो अब लगभग पूरी होने वाली हैं, यह प्रतिष्ठान प्रविधि विज्ञान में भी स्नातकोत्तर शिक्षा और अनुसन्धान की उच्चतम कोटि की संस्था बन गया है।

अब तक प्राप्त सफलता का कुछ अन्दाज देने के लिए कुछ आँकड़ों को उद्धृत कर देना उचित होगा। १९४७ में विद्यालय के स्तर पर विज्ञान विषय लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या २ लाख थी, जो बढ़ कर १९५३ में ११॥ लाख हो गयी। इस अवधि में इस प्रकार की शिक्षा पर होने वाला व्यय २२ लाख ५० हजार रुपये से बढ़ कर ६५ लाख ५० हजार रुपये हो गया। महाविद्यालय के स्तर पर भी इस शिक्षा का विस्तार इसी प्रकार उल्लेखनीय था। यहाँ १९४७ में भर्ती होने वाले छात्रों की संख्या ४६००० थी, जो १९५३ में ११५००० हो गयी। इस स्तर पर १९४७ में होने वाला व्यय २ करोड़ रुपये था, जो १९५३ में ६ करोड़ रुपये हो गया।

६

भारतीय गणतन्त्र के शिक्षात्मक कार्यक्रम का यह मोटा और सर्वांगिक चित्र भी तब तक अपूर्ण ही रहेगा, जब तक जनता के सांस्कृतिक जीवन को विकसित करने के लिए उठाये गये कदमों का यहाँ कुछ उल्लेख न कर दिया जाय। न केवल भारत में, बल्कि आधुनिक संसार के अन्य भागों में भी शिक्षा में ज़ोर इस बात पर रहता है कि कल्पना और भावनाओं की बलि देकर बुद्धि को तीव्र किया जाय। मानव प्रकृति के कुछ महत्वपूर्ण तत्वों की इस प्रकार उपेक्षा कर देने से गम्भीर समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं; और आजकल यूरोप और अमेरिका के शिक्षाशास्त्री इसके फलस्वरूप उत्पन्न हुए असन्तुलन को सुधारने के लिए उपाय खोजने में जुटे हुए हैं।

भारत इस प्रकार की समस्याओं से बहुत कुछ इसलिए बचा रह गया, क्योंकि उसके यहाँ लोक संस्कृति की बहुत प्राचीन परम्परा थी, जिसमें बुद्धि, संकल्प और भावनाओं का साथ-साथ विकास होता था। आनन्दपूर्ण समारोहों

के कारण कल्पना को खुल कर खेलने का अवसर मिलता था। महाकाव्यों की कथाओं से लोगों को नैतिक शिक्षा प्राप्त होती थी। दर्शन और धर्म के सम्बन्ध में मौखिक प्रवचनों से बुद्धि के संस्कार में सहायता मिलती थी। प्राचीन प्रथाएँ और दन्तकथाएँ, कहावतें और कहानियाँ, पुराण और स्मृतियाँ, ये सभी विभिन्न स्तरों पर लोक गीतों, लोक नाटकों और लोक कलाओं के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते रहे हैं। कलाप्रेम की परम्परा हमारे यहाँ निरक्षर लोगों तक में रमी हुई है। जैसा कि अलपनों (आटे और हल्दी से जमीन पर की गयी चित्रकारी) और ग्रामीण स्त्रियों द्वारा की गयी सजावटों से तथा ग्रामीण लोगों द्वारा किये जाने वाले नाटकों, नृत्यों और कत्थकों से स्पष्ट है।

इस परम्परा को बनाये रखने और कला के विकास को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार ने असाधारण संगीतज्ञों के लिए राष्ट्रपति की ओर से पुरस्कार देने की व्यवस्था की है और गुणी कलाकारों को छात्रवृत्तियाँ, आर्थिक सहायता या उनकी कला के प्रशंसापत्र देने की भी व्यवस्था की हैं। दृश्य कलाओं की प्रदर्शनियाँ तथा नृत्य मण्डलियों के अभिनयों की व्यवस्था अपने देश में भी की गयी है और उन्हें विदेशों में भी भेजा गया है। दूसरे देशों से भी इस प्रकार की नृत्य मण्डलियों और प्रदर्शनियों को भारत में आने के लिए प्रोत्साहन दिया गया है।

देश की संस्कृति को साहित्य, वास्तुकला (आर्किटैक्चर) मूर्तिकला, चित्र-कला, संगीत, नाट्य कला (ड्रैमैटिक आर्ट) और नृत्य कला के अध्ययन और विकास द्वारा उन्नत करने के लिए राष्ट्रीय अकादेमियाँ स्थापित की गयी हैं। संगीत-नाटक अकादेमी का उद्घाटन जनवरी १९५३ में किया गया था। इसका ध्येय नृत्य, नाट्य और संगीत में अपनी प्राचीन परम्पराओं को बनाये रखना और उनको समृद्ध करना है। साहित्य के क्षेत्र में इसी लक्ष्य को पूरा करने के लिए मार्च १९५४ में साहित्य अकादेमी का उद्घाटन किया गया। ललित कला अकादेमी, जिसकी स्थापना अगस्त १९५४ में की गयी थी, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला तथा अन्य व्यावहारिक कलाओं के क्षेत्र में अध्ययन और अनुसन्धान को प्रोत्साहन तथा सहायता देगी।

जिन ७ वर्षों का हम सिंहावलोकन कर रहे हैं, उनमें एक उल्लेखनीय सफलता यह थी कि भारत सरकार की देख-रेख में एक पुस्तक 'पूर्वी और

पश्चिमी दर्शन का इतिहास' (ए हिस्ट्री आफ फिलासफी : ईस्टर्न एण्ड वैस्टर्न) नामक ग्रंथ का प्रकाशन किया गया (प्रकाशक जार्ज ऐलन एण्ड अनविन, लंडन)। यह पुस्तक कई दृष्टियों से अनुपम है। इसमें विस्तृत रूप से मानव जाति के दार्शनिक विकास का एक साँझे उत्तराधिकार के रूप में परिमाप (सर्वे, या सर्वेक्षण) किया गया है और पूर्व तथा पश्चिम के दर्शन शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस परियोजना के लिए प्रेरणा स्वतन्त्र भारत के प्रथम शिक्षा मन्त्री अबुल कलाम आजाद से प्राप्त हुई। श्री आजाद का कथन था कि पूर्वी और पश्चिमी दर्शन का ऐसा इतिहास अवश्य लिखा जाना चाहिये, क्योंकि यूरोपियन लेखकों द्वारा लिखे गये अधिकांश आधुनिक इतिहास इस क्षेत्र में भारत की देन की या तो बिलकुल ही उपेक्षा कर जाते हैं, और या उसका केवल उड़ता-सा जिक्र करके छोड़ देते हैं; और दूसरी ओर भारतीय लेखकों द्वारा लिखी गयी अधिकांश पुस्तकों में केवल भारतीय दर्शन पर ही विचार किया गया होता है। इसका परिणाम यह होता है कि लोग मानवीय विचारधारा के विकास की निरन्तरता को अनुभव नहीं कर पाते। इसी प्रकार भारत से बाहर रहने वाले बहुत-से लोगों को इस बात का कुछ अनुमान ही नहीं होता कि आधुनिक दर्शन के विकास में भारत की देन कितनी मूल्यवान रही है। दार्शनिक जगत में भारत के स्थान का ठीक-ठीक मूल्यांकन न केवल ज्ञान के दृष्टिकोण से आवश्यक है, बल्कि इसलिए भी आवश्यक है कि आधुनिक संसार में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का भी यथोचित आदर हो सके। यह पुस्तक १९५२ में प्रकाशित हुई थी और इसका बहुत ही शानदार स्वागत हुआ है।

भारत में लोगों की रुचि दूसरे देशों के साथ सम्पर्क बढ़ाने के लिए तीव्रतर होती जा रही है और दूसरे देशों में भी भारत से सम्पर्क बढ़ाने की इच्छा बढ़ रही है। यह बात स्वाधीनता के बाद के ७ वर्षों में दी गयी छात्रवृत्तियों, फैलोशिपों या यात्रा-अनुदानों से स्पष्ट है। भारत सरकार सांस्कृतिक छात्रवृत्तियों की योजना के अन्तर्गत प्रति वर्ष ३४ देशों के नागरिकों को १०० छात्रवृत्तियाँ देती है। एक और अलग योजना के अन्तर्गत उन देशों के निवासियों को छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं, जो भारतीय नागरिकों को अपने देश में छात्रवृत्तियाँ देते हैं। छात्रवृत्तियों की एक और विशेष योजना हाल ही में शुरू की गयी है, जिसके अनुसार भारतीय नागरिकों को अरबी, चीनी, फ्रेंच, जर्मन, इटालियन, जापानी,

फारसी, रूसी, स्पेनिश और तुर्की जैसी विदेशी भाषाओं को सीखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। १९५० में एक स्वायत्त (ओटोनौमस) संगठन स्थापित किया गया, जिसका नाम भारतीय सांस्कृतिक सम्पर्क परिषद (इंडियन कौंसिल आफ कल्चरल रिलेशन्स) है। इसका ध्येय भारत तथा दूसरे देशों के मध्य एक दूसरे के सम्बन्ध में ज्ञान की वृद्धि करके, और उनकी भाषा, साहित्य और कलाओं का अध्ययन करके और विश्वविद्यालयों तथा सांस्कृतिक संस्थाओं के मध्य घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करके पारस्परिक सम्बन्धों को पुनर्जीवित करना और सुदृढ़ बनाना है।

यूनैस्को के जन्मदाता सदस्यों में से एक के रूप में भारत ने १९४९ में एक अन्तर्कालीन राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की थी और १९५२ में एक स्थायी आयोग की स्थापना कर दी गयी। इस आयोग के तत्वावधान में अनेक महत्वपूर्ण सम्मेलन हो चुके हैं। १९४९ में सामुदायिक कार्रवाई के लिए देहाती वयस्क शिक्षा के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सैमिनार समूचे एशिया में से निरक्षरता और अज्ञान के उन्मूलन के लिए कार्यक्रम तैयार करने और दशाओं का परिमाप (सर्वे) करने के सम्बन्ध में किया गया पहला प्रयत्न है। १९५१ में एक और सम्मेलन हुआ, जिसका नाम 'पूर्व तथा पश्चिम में मानव की धारणा और शिक्षा के दर्शन शास्त्र के सम्बन्ध में गोलमेज कान्फ्रेंस' (राउंड टेबल कान्फ्रेंस आन दी कन्सैप्ट आफ मैन एंड दी फिलासफी आफ एजूकेशन इन ईस्ट एंड वैस्ट) था। १९५३ में विभिन्न देशों के मध्य अथवा किसी देश के अन्दर ही विद्यमान तनावों को समाप्त करने के लिए गांधीवादी विधियों के प्रयोग के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सैमिनार का आयोजन किया गया। स्थायी भारतीय राष्ट्रीय आयोग के पहले सम्मेलन में, जो जनवरी १९५४ में हुआ था, एशिया तथा अफ्रीका के देशों से भाई-चारे के नाते प्रतिनिधियों को निमन्त्रित किया गया था और परमाणु ऊर्जा (ऐटमिक ऐनर्जी) के सम्भावित उपयोगों, अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को समाप्त करने के लिए गांधीवादी विचारधारा की देन, एशिया और अफ्रीका की संस्कृतियों के विस्तृत प्रचार की आवश्यकता और विभिन्न विचारों और प्रणालियों के शान्तिपूर्वक सह अस्तित्व के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सिफारिशें की गयी थीं।

७

इस प्रकार स्वाधीनता के सात वर्ष भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में प्रयत्न और विस्तार के सात वर्ष रहे। स्वाधीनता की प्राप्ति के फलस्वरूप लोगों के सम्मुख नये लक्ष्य बने और लोगों के ऊपर नयी जिम्मेदारियाँ आ पड़ीं। ऊपर दिये गये संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि अनेक विद्यमान त्रुटियों को हटा दिया गया है और नव जाग्रत भारत की राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के लिए आधार-शिलाएँ रख दी गयी हैं।

इन वर्षों में शिक्षा पर हुए कुल व्यय को देखने से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि अब तक कितनी सफलता प्राप्त कर ली गयी है, और अभी जो कुछ करने को शेष है, वह कितना महान कार्य है। १९४६-४७ में शिक्षा के ऊपर किया गया कुल सरकारी व्यय २० करोड़ ५० लाख रुपये था। इसमें से केन्द्रीय बजट २ करोड़ रुपये से भी काफी कम था। हाल के तीन वर्षों १९५१-५२, १९५२-५३ और १९५३-५४ के आँकड़ों से पता चलता है कि इन वर्षों में केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों ने कुल मिलाकर अपने आय-व्ययक में शिक्षा के लिए क्रमशः ७४ करोड़ १० लाख रुपये, ८२ करोड़ ६० लाख रुपये, और ९३ करोड़ ४० लाख रुपये की व्यवस्था की। शिक्षा के ऊपर सरकारी तथा गैरसरकारी सब स्रोतों से हुए राष्ट्रीय व्यय में भी बहुत तेजी से वृद्धि हुई है। १९४६-४७ के वर्ष में शिक्षा पर होने वाले इस कुल व्यय की राशि ४५ करोड़ १० लाख रुपये थी। १९५२-५३ में यह राशि बढ़कर १ अरब ३५ करोड़ रुपये हो गयी। १९५३-५४ के वर्ष में शिक्षा पर होने वाला यह कुल अनुमानित व्यय १ अरब ५० करोड़ रुपये था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिक्षा पर सरकार की ओर से किया जाने वाला व्यय तो चौगुने से भी अधिक बढ़ गया है, परन्तु अन्य स्रोतों की ओर से होने वाले व्यय में इस अनुपात में वृद्धि नहीं हुई है।

फिर भी इस विषय में ढील देने के लिए कोई कारण नहीं। अभी तक जो सफलता प्राप्त हुई है, वह हमारी महत्वाकांक्षाओं से तो बहुत कम है ही, वह शायद भारतीय जनता के सामर्थ्य से भी अभी बहुत कम है। यदि इसी प्रकार की दशाओं में विद्यमान अन्य देशों के अभिलेखों के साथ तुलना की जाय, तो

इतनी थोड़ी अवधि में इतनी सफलता पर भारत को लज्जित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु हम यह नहीं भूल सकते, कि यदि हमें देश की परम्पराओं और देश की आशाओं के अनुकूल एक सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को चलाना है, तो हमें शिक्षा पर प्रतिवर्ष लगभग ४ अरब रुपये व्यय करने होंगे; और इसके लिए हमें शिक्षा पर इस समय होने वाले व्यय को लगभग तिगुना बढ़ा देना होगा।

अध्याय २

बुनियादी शिक्षा का सिद्धान्त और व्यवहार

शिक्षा की कोई भी राष्ट्रीय प्रणाली सदैव उस देश के राष्ट्रीय आदर्शों की प्रणाली का प्रतिबिम्ब होती है। बल्कि और भी आगे बढ़कर यह कहा जा सकता है कि शिक्षा का रूप व्यक्तियों और समूहों के जीवन के लक्ष्यों द्वारा नियत होता है; और उसके बाद वह शिक्षा ही व्यक्तियों और समूहों के जीवन के लक्ष्यों को नियत करती है। यह बात केवल मानव प्राणियों पर ही लागू नहीं होती, बल्कि उन जीवों पर भी लागू होती है, जिन्हें हम सृष्टि के निम्न कोटि के प्राणी कहते हैं। इस प्रकार पशुओं के बच्चे बड़े पशुओं की गतिविधियों की नकल करके अपने आपको भावी जीवन के लिए तैयार करते हैं। मनुष्य के मामले में इस प्रकार की नकल या अनुकरण प्रशिक्षण की एक सचेत प्रक्रिया के रूप में होती है, जिससे वह वयस्क जीवन की जिम्मेदारियों को पूरा कर सके। लक्ष्य का यह ज्ञान ही वह वस्तु है, जो मानवीय शिक्षा प्रणाली को पशु जीवन की अविचारित ढंग से अधिगत (ऐक्वायर्ड) आदतों और दक्षताओं से पृथक् करती है।

यदि किसी भी प्राणिवर्ग को अपना अस्तित्व बनाये रखना है, तो यह आवश्यक है कि आसपास की परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने के बाद उन परिस्थितियों के प्रति व्यक्ति के प्रतिग्रह (रिस्पान्स) में भी परिवर्तन हो जाय। जहाँ भी कहीं किसी प्राणिवर्ग के सदस्य उत्तेजक कारणों में परिवर्तन होने के बाद उनके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं में परिवर्तन करने में असफल रहते हैं, वहीं वह प्राणिवर्ग विनाश के पथ पर चल पड़ता है। विकास की सारी कहानी अपने

आपको अपनी आसपास की परिस्थितियों के अनुकूल अधिकाधिक ढालते जाने के अविराम प्रयत्न का अभिलेख मात्र है। परन्तु मानव प्राणी अब एक ऐसी दशा तक पहुँच गये हैं, जहाँ वे केवल अपने आसपास की परिस्थितियों के अनुकूल अपने प्रतिग्रह को ढालकर ही सन्तुष्ट नहीं हैं, बल्कि अब वे अपने आसपास की परिस्थितियों को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ढालने के लिए प्रयत्नशील हैं। क्योंकि सोच-विचार कर नियत किये गये लक्ष्यों का प्रभाव मानवीय गतिविधि के निरन्तर विस्तृत होते हुए क्षेत्र पर पड़ता है, इसलिए सामाजिक लक्ष्यों में कोई भी परिवर्तन करने के बाद शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है; और ऐसा परिवर्तन निरपवाद रूप से होकर ही रहता है।

अन्य समाज सुधारकों की भाँति महात्मा गांधी भी इस बात को भली भाँति जानते थे कि शिक्षा में सुधार किये बिना वह अपने सामाजिक लक्ष्यों तक नहीं पहुँच सकते। किसी भी समाज की उत्कृष्टता या निकृष्टता उसके सदस्यों की उत्कृष्टता या निकृष्टता पर निर्भर होती है। इसलिए यदि समाज को सुधारना अभीष्ट हो, तो उसका केवल एक यही उपाय है कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति का सुधार किया जाय। गांधी जी ने इस बात को अनुभव किया कि नागरिक के भविष्य को उसके जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में, जबकि वह निर्माण की दशा में होता है, सबसे अच्छी तरह ढाला जा सकता है। इसीलिए उन्होंने सर्वोदय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बुनियादी शिक्षा की धारणा तैयार की। उनके अपने शब्दों में "इस शिक्षा के पीछे मुख्य विचार यह है कि शरीर, मन और आत्मा की सम्पूर्ण शिक्षा उस दस्तकारी द्वारा दी जाय, जो बच्चे को सिखायी जा रही है। आपको बच्चे के अन्दर विद्यमान सब योग्यताओं को इस दस्तकारी की सब प्रक्रियाओं को सिखाते हुए ही विकसित करना होगा और आपके इतिहास, भूगोल और गणित के सब पाठ उस दस्तकारी से ही सम्बद्ध होंगे।"

मनुष्य मूलतः सामाजिक प्राणी है और उसे अवश्य ही समाज में रहना होता है। बुनियादी शिक्षा में यह मानकर चला जाता है कि बच्चा एक सहकारी समूह का सदस्य है। विद्यालय समाज का ही एक छोटा-सा नमूना है; और वस्तुतः प्रत्येक कक्षा अपने आप में एक छोटा-सा समाज है। इस प्रकार विद्यालय को एक समाज के रूप में स्वीकार कर लेने का परिणाम यह होता है कि नाग-

रिकता के सम्बन्ध में प्रशिक्षण के लिए सबसे अधिक उपयुक्त वातावरण तैयार हो जाता है। बच्चों को यह सिखाया जाता है कि वे अपने आपको समाज का एक सदस्य समझें और इस प्रकार एक दूसरे के प्रति अपनी जिम्मेदारी को अनुभव करें। दूसरों के प्रति व्यक्ति के कर्तव्य भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने उसके अपने अधिकार। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा आजकल की व्यक्तिगत स्वाधीनता के नाम पर पारिवारिक और सामाजिक बन्धनों को शिथिल करते जाने की प्रवृत्ति को सुधारने का प्रयत्न करती है। अधिकारों पर आवश्यकता से अधिक बल देने का फल यह होता है कि मानव व्यक्तित्व विकृत हो जाता है। इस प्रकार की विकृति के परिणाम कुसाम्यस्थापित या कुसमंजित (मैल ऐडजस्टिड) व्यक्तियों और विभक्त समाजों में स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

गांधी जी ने इस बात को तीव्रता से अनुभव किया कि शिक्षा का लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह व्यक्ति का नये सिरे से समेकन (इंटेग्रेशन) करे और उसे एक सजीव समाज के सदस्य के रूप में परिपुष्ट करे। सहकारी समूह के सदस्य के रूप में बालक की सभी गतिविधियाँ सामाजिक ढंग की होनी चाहियें। बुनियादी शिक्षा इस तथ्य को मान कर ही चलती है; और उसका लक्ष्य यह होता है कि इस प्रकार की मान्यता बड़े होते हुए बालकों की मानसिक रचना का ही एक अंग बन जाय। न केवल सब सामाजिक गतिविधियों को समूहों के रूप में आयोजित किया जाता है, बल्कि उनको इस रूप में भी आयोजित किया जाता है कि उनकी तात्कालिक सामाजिक उपयोगिता स्पष्ट हो। इनका उद्देश्य यह होता है कि बालक में बिल्कुल प्रारम्भ से ही सहकारिता की भावना और उत्तर-दायित्व उत्पन्न हो जाय।

इस सम्बन्ध में सभी शिक्षा-मनोवैज्ञानिक एकमत हैं कि अध्यापक द्वारा दी गयी शिक्षा को निष्क्रिय रहकर ग्रहण करने की प्रक्रिया की अपेक्षा किसी भी काम में हिस्सा बँटाने की प्रक्रिया के द्वारा बालक बातों को कहीं अधिक जल्दी सीख पाते हैं। बालक सब चीजों को करके देखना चाहता है। स्वभाव से ही वह क्रियाशील होता है; और उसकी चंचलता उसकी अत्यधिक ऊर्जा की अभिव्यक्ति मात्र होती है। उसे बिना हिले-जुले बहुत लम्बे समय तक चुपचाप बिठाये रखना, जैसा कि पुरानी परम्परा के विद्यालयों में प्रायः किया जाता है, उसके ऊपर अत्याचार करना है। केवल उस समय के सिवाय, जबकि वह किसी

बात को बड़ी तन्मयता से सुन रहा हो, उदाहरण के लिए किसी परियों की कहानी या किसी साहसयात्रा के वर्णन को सुन रहा हो, वह हमेशा बात करते रहना या खुद कुछ न कुछ करते रहना पसन्द करता है।

यदि ठीक-ठीक देखा जाय, तो यह कोई नयी खोज नहीं है। स्पष्ट रूप में 'गतिविधि के सिद्धान्त' के रूप में प्रस्तुत न किये जाने पर भी वस्तुतः यह गतिविधि न जाने कब से बालकों की शिक्षी का एक अंग बनी रही है। तरुणी माताएँ भी बहुत जल्दी यह जान जाती हैं कि अपने बच्चों को सम्हालने का एकमात्र तरीका यही है कि उन्हें कुछ न कुछ काम करने को दिया जाय; क्योंकि इससे एक ओर तो उनकी निपुणता का विकास होता है, और दूसरी ओर वे प्रसन्न बने रहते हैं। इस मातृ बुद्धि का औपचारिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश भले ही काफी विलम्ब से हुआ हो, परन्तु अब यह सिद्धान्त शिक्षा के क्षेत्र तक पहुँच चुका है। कम से कम गत शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोप और अमेरिका दोनों में ही शिक्षा का केन्द्र अधिकाधिक गतिविधि को बनाने की ही प्रवृत्ति रही है। अब से लगभग ५० वर्ष पूर्व श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बालक की स्वाधीनता और गतिविधि पर जोर देते हुए शिक्षा के क्षेत्र में अपना महान परीक्षण प्रारम्भ किया। यदि यह समझा जाय कि बुनियादी शिक्षा का सार गतिविधि पर जोर देना है, तो स्वीकार करना होगा कि इसके आधारभूत सिद्धान्त भारत के लिए भी नये नहीं हैं।

फिर भी, विद्यालयों के सम्बन्ध में गतिविधि की धारणा में बुनियादी शिक्षा ने एक और नया तत्व मिला दिया है। बुनियादी शिक्षा में बालक के प्रशिक्षण के लिए जो भी गतिविधि चुनी जाय, वह सोद्देश्य, सृजनात्मक और सामाजिक दृष्टि से उपयोगी गतिविधि होनी चाहिये। जब कोई माँ अपने बच्चे को किसी गतिविधि में लगा देती है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका भी कोई न कोई उद्देश्य होता है। परन्तु उस समय यह आवश्यक नहीं होता कि बच्चे को भी उस उद्देश्य का ज्ञान हो। इसी प्रकार वस्तुतः बच्चे की गतिविधि सदा सृजनात्मक या उपयोगी भी नहीं होती। इसी तरह यूरोप और अमेरिका के विद्यालयों में जिन गतिविधियों पर जोर दिया जाता है, उनमें यह ध्यान नहीं रखा जाता कि उनका कोई समाजिक उद्देश्य भी है या नहीं। बच्चे की गतिविधि के सम्बन्ध में सामाजिक उपयोगिता के इस तत्व की अधिकता ही

बुनियादी शिक्षा को गतिविधि पर केन्द्रित शिक्षा के अन्य प्रकारों से पृथक् करती है।

सामाजिक उपयोगिता और लक्ष्य पर यह जोर केवल संयोगवश या अकस्मात् नहीं दे दिया गया है। वस्तुओं का उत्पादन सुसंगठित मानव जीवन का मेरुदंड है। क्योंकि कोई भी समाज अपने सदस्यों के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने के सामर्थ्य द्वारा ही जीवित रह पाता है। वस्तुओं के उत्पादन का स्तर सब लोगों के सहकारितापूर्ण प्रयत्न द्वारा ही पर्याप्त बनाये रखा जा सकता है। बुनियादी शिक्षा में बालक को अपने शिक्षा काल के प्रारम्भ से ही समाज का एक सदस्य मान लिया जाता है, और इसीलिए सामाजिक दृष्टि से उपयोगी गतिविधि पर जोर दिया जाता है।

जहाँ भारत में और विदेशों में शिक्षण क्षेत्र के विचारक गतिविधि और स्वतन्त्रता के महत्व पर अधिकाधिक बल दे रहे थे, वहाँ भारत में प्रचलित शिक्षा प्रणाली में अधिकाधिक ध्यान पुस्तकों पर दिया जा रहा था। बच्चों के मामले में भी स्थिति यह थी कि बुद्धि, भावनाओं और चरित्र के विकास की अपेक्षा स्मृति की व्यायाम—(तोता-रटन्त) अधिक करायी जाती थी। पुस्तकों के ऊपर आवश्यकता से अधिक ध्यान देने का परिणाम यह हुआ कि शिक्षा भारतीय जीवन की वास्तविकताओं से दूर हटने लगी। प्राय. शिक्षा पाकर बालक अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से दूर हटता चला जाता था और उसके मन में शारीरिक श्रम के प्रति यदि घृणा नहीं, तो अरुचि अवश्य उत्पन्न हो जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ है कि पुरानी परम्परागत पद्धति से शिक्षा पाया हुआ बालक एक खास प्रकार की नौकरी पर ही निर्भर रहने लगा है। यदि उसे उसी एक विशिष्ट दिशा में अवसर प्राप्त न हो सके, तो वह प्रायः असहाय और निराश हो जाता है। इसके फलस्वरूप भारत में औसत शिक्षित व्यक्ति में आत्मविश्वास और पहल करने की शक्ति का प्रायः अभाव होता है और जब उसके सामने नयी और परिवर्तनशील स्थितियाँ आती हैं, तो वह निराश होकर छटपटाने-सा लगता है।

जीवन के लिए तैयारी कराने में असफल रहने के अतिरिक्त पुरानी शिक्षा प्रणाली विशुद्ध शिक्षणात्मक दृष्टिकोण से भी सन्तोषजनक नहीं है। व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करना अपना उद्देश्य बनाने के बजाय यह बुद्धि पर

अनुचित जोर डालती है। इसमें संकल्प और कल्पना की उपेक्षा कर दी जाती है और बुद्धि के भी अनेक पहलुओं में से तर्क और निर्णय की अपेक्षा स्मरण-शक्ति पर कहीं अधिक जोर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि बुद्धि भी पूरी तरह परिपक्व नहीं हो पाती। बालक को जानकारी तो प्राप्त हो जाती है, परन्तु वह एक वयस्क मानव प्राणी के रूप में विकसित नहीं हो पाता।

गांधी जी के मन में इस प्रचलित शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, हालाँकि वह स्वयं भी इसी शिक्षा प्रणाली की उपज थे। उनका विद्रोह प्रारम्भ तो इसलिए हुआ था कि यह प्रणाली शिक्षा की दृष्टि से अपर्याप्त थी, परन्तु आगे चलकर वह इसलिए और भी प्रबल हो गया, क्योंकि जिस दूसरी वैकल्पिक प्रणाली को विकसित करने में उन्होंने सहायता दी थी, उसके आर्थिक व सामाजिक प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण थे। इसलिए यहाँ सबसे पहले कुछ उन महत्वपूर्ण पहलुओं का उल्लेख कर देना अच्छा रहेगा, जिनकी दृष्टि से बुनियादी शिक्षा हाल के दिनों में भारत में प्रचलित शिक्षा के प्रकार से भिन्न है। पुरानी परम्परागत प्रणाली की एक मूलभूत त्रुटि यह है कि उसमें माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा को एक सुआयोजित और सर्वांग सम्पूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा प्रणाली पर आधारित करने के बजाय माध्यमिक और प्राथमिक शिक्षा को उच्चतर शिक्षा के लिए सहायक और उसकी तुलना में गौण बना दिया गया था। प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा अपने आप में लक्ष्य न होकर केवल उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने के लिए साधन मात्र थी। एक दृष्टि से शायद यह बात अनिवार्य भी थी। पिछले केवल १०० वर्षों से ही यह स्थिति आयी है कि राज्य ने यह स्वीकार कर लिया है कि सार्वजनीन (यूनिवर्सल) शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था करना भी उसकी एक जिम्मेदारी है। जब राष्ट्रीय सरकारों का यह हाल था, तो एक विदेशी सरकार से यह आशा करना कठिन था कि वह अपनी प्रजा के लिए शिक्षा की इस प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करेगी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने, और उसके बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत में पश्चिमी शिक्षा मुख्य-रूप से उपयोगिता की दृष्टि से प्रारम्भ की थी। यह शिक्षा इतनी पर्याप्त संख्या में भारतीयों को अंग्रेजी सिखाने का साधन थी कि जिससे देश का प्रशासन करने का काम आसान हो जाय। यह ठीक है कि कुछ ईसाई पादरियों और

जाग्रत भारतीय नेताओं ने इससे भिन्न उद्देश्यों से शिक्षा का प्रचार किया था। स्वयं सरकार में भी मैकाले जैसे व्यक्ति भी थे, जिनका यह मत था कि पश्चिमी विज्ञान और राजनीतिक विचारों के सम्पर्क में आने से भारतवासियों को लाभ होगा। फिर भी, शिक्षा के ऊपर मुख्य रूप से जोर उपयोगिता की दृष्टि से ही रहा। इसका फल यह हुआ कि प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा मुख्य रूप से छात्रों को उच्चतर शिक्षा के लिए तैयार करने की बीच की मंजिलें भर ही समझी जाने लगीं। इन सब परिस्थितियों में यह भी अनिवार्य ही था कि देहाती क्षेत्रों की, जहाँ भारत की अधिकांश जनता निवास करती है, आवश्यकताओं की बहुत अधिक उपेक्षा की गयी। बुनियादी शिक्षा इन दोनों ही दृष्टियों से दशा को सुधारने के लिए प्रयत्न शील है। इसमें देहाती आवश्यकताओं पर कहीं अधिक जोर दिया गया है; और बुनियादी शिक्षा का लक्ष्य यह है कि वह औसत नागरिक के लिए शिक्षा की एक अपने आप में पूर्ण मंजिल बन सके।

अंग्रेजों ने जो शिक्षा प्रणाली जारी की थी, उसकी एक और त्रुटि यह थी कि वह मूलतः व्यष्टिवादी (इंडिविजुअलिस्टिक) प्रणाली थी। लगभग एक शताब्दी तक इस शिक्षा प्रणाली में व्यक्तियों और समाजों के पारस्परिक सहयोग के बजाय प्रतियोगिता पर बल दिया गया। यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं थी; क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन की पथदर्शक शिक्षण की विचारधारा की भाँति यह भी विकासवाद के सिद्धान्त को गलत रूप में समझने पर आधारित थी। यद्यपि संसार में जीवित रहने के लिए सहयोग का भी कम से कम उतना ही महत्व है, जितना कि प्रतियोगिता का; फिर भी उस समय लोगों की यह प्रवृत्ति थी कि विकासवाद को इस रूप में प्रस्तुत किया जाय, कि यह अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए व्यक्तियों और समूहों में होते हुए संघर्ष का परिणाम हो। उस समय की शिक्षा प्रणाली में भी यह प्रवृत्ति प्रतिफलित हुई और इसके फलस्वरूप व्यक्ति को सामान्य हित की उपेक्षा करके औरों से आगे बढ़ जाने की भावना को प्रोत्साहन मिला। इस विचारधारा के समर्थकों का विश्वास था कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य की ओर ही बढ़ता चला जाय, तो उससे किसी न किसी प्रकार सामान्य हित की सिद्धि भी होगी ही।

बुनियादी शिक्षा इस समय प्रचलित शिक्षा से इस दृष्टि से भी भिन्न है कि इसमें किसी स्पष्ट दीख पड़ने वाले काम को पूरा करने और उससे प्राप्त होने

वाले आनन्द पर कहीं अधिक जोर दिया जाता है। परम्परागत शिक्षा में, विशेष रूप से जब कि वह निकम्मे अध्यापकों द्वारा दिलवाई जा रही हो, सारी शिक्षा केवल एक बौद्धिक कवायद-सी बनती चली जाती है। इस शिक्षा के विषय अव्यक्त (ऐब्सट्रैक्ट) होते हैं। इसीलिए वे प्रायः समझ में नहीं आते; और इस कारण विद्यार्थियों को वे बहुत ही नीरस और अरुचिकर लगते हैं। विद्यार्थियों को जो कुछ पढ़ाया जाता है, उसे वे समझ नहीं पाते। वे उसे मशीन की तरह केवल याद करने लगते हैं। इस प्रकार जानकारी निर्जीव वस्तु की भाँति पड़ी रह जाती है, और वह उनके सजीव विचार के ताने-बाने का हिस्सा नहीं बन पाती। क्योंकि बालक को जो शिक्षा मिल रही होती है, उसके लक्ष्य को वह नहीं देख पाता, इसलिए वह बिल्कुल निष्क्रिय और बहुत बार ता अनिच्छुक पात्र बना रहता है, जो शिक्षा को ग्रहण नहीं कर रहा होता, बल्कि उसके सामने सिर झुकाकर हार मान रहा होता है। इसके विपरीत किसी दस्तकारी को केन्द्र बनाकर दी जाने वाली शिक्षा में बच्चे को अपने परिश्रम का परिणाम तुरन्त अनुभव हो जाता है। उस दस्तकारी द्वारा तैयार की गई वस्तु उसके लिए सफलता का साकार प्रतीक होती हैं; और इससे उसके मन में सफलता की अनुभूति जाग उठती है। कलाकारों और वैज्ञानिकों को मालूम है कि इस जीवन में अपने आप स्वीकार किये हुए कार्य को सफलतापूर्वक समाप्त कर डालने से बढ़कर और कोई आनन्द नहीं है। भले ही यह आनन्द वैज्ञानिकों और कलाकारों की तुलना में कुछ हल्की किस्म का हो, फिर भी जब बच्चे अपने श्रम की उपज को देखते हैं, तो उनके मन में भी आनन्द की वैसे ही अनुभूति होती है।

शारीरिक परिश्रम पर ज़ोर देकर बुनियादी शिक्षा उस एक और बाड़ को तोड़ने में सहायता दे रही है, जिसने बहुत लम्बे समय से भारतीय समाज को विभक्त किया हुआ है। प्रारम्भ में जाति या वर्ण व्यवस्था श्रम के विभाजन की आवश्यकता के कारण स्थापित हुई थी। यह भी सत्य है कि एक समय यह जाति या वर्ण व्यवस्था कर्म पर आधारित थी और इसमें काफी लचक थी। परन्तु यह लचक बहुत शीघ्र ही जाती रही और इस प्रणाली में कठोरता आते जाने के साथ-साथ बौद्धिक और शारीरिक श्रम में बहुत बड़ा अन्तर हो गया। समय बीतने पर शारीरिक श्रम को सामाजिक दृष्टि से हीन समझा जाने

लगा। ब्रिटिश लोगों के सम्पर्क का प्रभाव भी शारीरिक श्रम के प्रति घृणा को समाप्त करने में सहायक नहीं हुआ। अंग्रेज लोग वर्गों की ऊँच-नीच में विश्वास रखते थे और भारतीय जाति की ऊँच-नीच में। इन दोनों के मिल जाने के परिणामस्वरूप एक ऐसी स्थिति पैदा हो गयी, जिसमें समाज के अलग-अलग स्तरों के बीच में विद्यमान खाई पहले की अपेक्षा भी कहीं अधिक चौड़ी और गहरी हो गयी। साथ ही साथ आर्थिक और राजनीतिक दशाओं के कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो रही थी, जिसमें इस प्रकार की सामाजिक विषमता टिक नहीं सकती थी। फिर भी तथाकथित बौद्धिक वर्ग के साथ जुड़ा हुआ प्रतिष्ठा का भाव बना ही हुआ था। ऐसी दशा में यह अनिवार्य था कि भारत में विद्यमान शिक्षा प्रणाली मुख्यरूप से किताबी (शास्त्रीय, ऐकेडैमिक) और साहित्यिक ही होती। शिक्षा का शारीरिक श्रम और शारीरिक गतिविधियों के साथ घनिष्ठ सह सम्बन्ध (को रिलेशन) स्थापित करके बुनियादी शिक्षा शारीरिक श्रम के कार्य के प्रति घृणा को समाप्त करने में सहायता दे रही है और बालकों के मन में श्रम के गौरव को अनुभव करने का भाव जगा रही है।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी कार्य पर जोर देने का अन्य दिशाओं में भी अच्छा परिणाम हुआ है। बालक उन दस्तकारियों में लगे रहते हैं, जिनके फलस्वरूप भौतिक वस्तुएँ तैयार होती हैं। इस प्रकार उन्हें अपने परिश्रम का परिणाम लगभग तत्काल ही दीखने लगता है। अपनी स्पष्ट सफलता को देखकर उन्हें सन्तोष होता है और इससे उनमें आत्मविश्वास बढ़ता है। यह सर्वविदित है कि आत्मविश्वास बढ़ने से योग्यता में भी वृद्धि हो जाती है। इसके साथ ही अपने साथियों के साथ सहयोगपूर्वक मिलकर काम करने से बालकों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित हो जाती है। उत्तरदायित्व के फलस्वरूप अनुशासन का भाव उत्पन्न होता है और यह अनुशासन ऊपर से थोपा हुआ अनुशासन नहीं होता, बल्कि अपने काम को पूरा करने के प्रयत्न में बालकों द्वारा स्वयं विकसित किया हुआ अनुशासन होता है। इसलिए बुनियादी विद्यालयों के बालकों में दीख पड़ने वाला, अन्य साधारण विद्यालयों के बालकों की अपेक्षा अधिक आत्मविश्वास और अनुशासन का भाव आकस्मिक या सांयोगिक नहीं है। जहाँ तक सहज (इन्नेट) गुणों का सम्बन्ध है, यह मानने के लिए कोई कारण नहीं कि इन दो अलग-अलग प्रकार के विद्यालयों के

बालकों में कोई भी अन्तर क्यों होना चाहिये। वे सभी बालक उस एक ही समाज से आये होते हैं और लगभग उन सबकी सामाजिक पृष्ठभूमि एक-सी ही होती है। अन्तर केवल विद्यालय के वातावरण और शिक्षण की पद्धति में है। पुराने ढंग के विद्यालय में बालक ऊपर से थोपे गये अनुशासन के आधीन होते हैं जबकि बुनियादी विद्यालय में उन्हें स्कूल द्वारा नियत सीमाओं के अन्दर रहते हुए गतिविधि की स्वाधीनता रहती है। दोनों प्रकार के विद्यालयों में बालकों में पाये जाने वाले स्वभाव के अन्तर की व्याख्या केवल इस तथ्य द्वारा ही हो सकती है कि पुराने परम्परागत विद्यालयों में बालक सारे समय आदान ही आदान कर रहे होते हैं, समाज को कुछ प्रदान नहीं कर रहे होते, जबकि बुनियादी विद्यालयों में बालक कुछ न कुछ वस्तु उत्पन्न कर रहे होते हैं और उन्हें इस तथ्य का ज्ञान भी होता है।

परम्परागत शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध किये जाने वाले आक्षेपों में सबसे सबल आक्षेप यह है कि इस प्रकार के विद्यालयों में पाठ्य विषय यों ही बिना किसी योजना के चुन लिये जाते हैं; और प्रायः उन विषयों में परस्पर कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं होता, जो समझ में आ सके। इस प्रकार यह सम्भव है कि कोई बालक इतिहास, यन्त्र विज्ञान और किसी प्राचीन भाषा का अध्ययन कर रहा हो, और न तो उसे ही यह पता हो और न उसके शिक्षक को ही, कि ये खास विषय उसके अध्ययन के लिए क्यों चुने गये हैं। बुनियादी शिक्षा में इस त्रुटि को सुधारने का यत्न किया गया है और विद्यालय में पढ़ाये जाने वाले विभिन्न विषयों में परस्पर अंगांगी (और्गेनिक) सह सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है; और यह सम्बन्ध किसी एक चुनी हुई दस्तकारी के सम्बन्ध में उन विषयों को लागू करके स्पष्ट किया जाता है। एक अर्थ में यह सह सम्बंध की धारणा भी नयी नहीं है। बिल्कुल विभिन्न विचारधाराओं के पक्ष पोषक शिक्षा शास्त्रियों ने भी मानसिक जीवन की एकता को पुष्ट करने के लिए पाठ्य विषयों के समन्वय की आवश्यकता पर जोर दिया है। व्यक्ति का जीवन विभिन्न कृत्यों और आवश्यकताओं के मध्य निरन्तर होता हुआ साम्य स्थापन (ऐडजस्ट-मैन्ट) भर है। ऐसा साम्य स्थापन तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि विभिन्न गतिविधियों का परस्पर सह सम्बन्ध स्थापित न कर दिया जाय। यह आवश्यक है कि बालक को अपने प्रारम्भिक काल से ही अपनी रुचियों को सह सम्बन्धित

करना और उनका समन्वय करना सिखाया जाय। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा विद्यालय की विभिन्न गतिविधियों में सह सम्बन्ध स्थापित करने पर जोर देकर शिक्षण सम्बन्धी एक स्वस्थ सिद्धान्त का पालन कर रही होती है।

परन्तु यहाँ एक चेतावनी दे देना उचित होगा। जहाँ बुनियादी शिक्षा के आधारभूत सिद्धांत किसी दस्तकारी के माध्यम से बौद्धिक विषयों का आसपास की परिस्थितियों के साथ सह सम्बंध के समर्थन में सब कुछ कहा जा सकता है, वहाँ यह भी ठीक है कि हमें इस सिद्धांत को इतनी दूर तक नहीं घसीटना चाहिये कि यह बिल्कुल बेहूदा प्रतीत होने लगे। किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ने वाले पथ दर्शक लोग बहुत बार अपने उत्साह के कारण सही रास्ते से भटक जाते हैं। बुनियादी शिक्षा के ऐसे भी अनेक समर्थक हुए हैं, जिनका यह दावा है कि मामूली गिनती से लेकर 'थर्मोडाइनैमिक्स' तक सब विषय किसी एक ही दस्तकारी के माध्यम से पढ़ाये जा सकते हैं। स्पष्ट रूप से ही इस प्रकार के दावे बहुत अतिरंजित हैं; और थोड़ा-सा विचार करने से ही यह स्पष्ट हो जायगा कि सह सम्बंध की भी कुछ अपनी सीमाएँ हैं। बीजगणित–विद्यालय के स्तर का एक विषय यदि उदाहरण के लिए चुना जाय–बिना अस्वाभाविक और खींच-तान के उपायों का अवलम्बन किये किसी भी दस्तकारी के माध्यम से नहीं सिखाया जा सकता। जहाँ तक उच्चतर स्तर पर सैद्धान्तिक विषयों के अध्ययन का प्रश्न है, चाहे वह भौतिकी शास्त्र हो या अध्यात्म शास्त्र, चाहे वह रसायन शास्त्र हो या तर्क शास्त्र, सह सम्बंध की पद्धति से पढ़ाये जा पाने और भी कठिन हैं। यह ठीक है कि हैगल ने कहा है कि संसार में प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु से सम्बद्ध है; परंतु यह कहना कि जब भी कोई एक व्यक्ति छींकता है, तो उसके साथ ही सृष्टि के परम तत्व (ऐब्सोल्यूट) में भी कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाता है, हैगल के सिद्धांत की हँसी उड़ाना ही है। यदि सावधान न रहा जाय तो, बुनियादी शिक्षा के सिद्धांत को भी ऐसी ही बेहूदगी की सीमा तक घसीटा जा सकता है।

सह सम्बन्ध के सिद्धांत का उस समाज से भी सम्बन्ध होना चाहिये, जिसकी सेवा करने के लिए विद्यालय खोला गया है। क्योंकि विद्यालय का लक्ष्य समाज के जीवन को प्रतिबिम्बित करना है, इसलिए विद्यालय में ऐसी दस्तकारी चुनी जानी चाहिये जो स्थानीय परिवेश (ऐनवायरनमैन्ट्स) के साथ सम्बद्ध हो। चाहे यह कहना पिष्टपेषण ही जान पड़े, फिर भी इस बात पर ज़ोर देना आवश्यक

है कि यदि कोई ऐसी दस्तकारी बुनियादी शिक्षा के लिए माध्यम के रूप में चुन ली जाय, जिसका उस प्रदेश के साथ सम्बन्ध न हो, तो बुनियादी शिक्षा का एक मुख्य शिक्षरणात्मक लाभ जाता रहता है। बुनियादी शिक्षा का लक्ष्य यह है कि किसी परिचित दस्तकारी के साथ जुड़ी हुई गतिविधियों को बाकायदा और धीरे-धीरे बढ़ाते जाने के द्वारा बालक की योग्यताओं को परिपुष्ट किया जाय। यदि दस्तकारी परिचित नहीं है, तो वह बालक की ऊर्जा और रुचि पर एक अनुचित बोझ डाल देगी। इसलिए विद्यालय के लिए चुनी जाने वाली दस्तकारी ऐसी होनी चाहिये, जिसका अपने परिवेश के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध हो। यदि ऐसा न हो, तो दस्तकारी पर दिया जाने वाला ज़ोर बालक के व्यक्तित्व का समेकन (इंटैग्रेशन) करने में सहायक होने के बजाय उसके व्यक्तित्व में एक नयी दरार डालने का कारण बन सकता है।

किसी परिचित दस्तकारी का चुनाव एक और दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। सभी देशों में बाद में आने वाली पीढ़ियों में मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से अपने से पहली पीढ़ियों से दूर होते जाने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। उपन्यासकारों और नाटककारों ने अनेक बार पिताओं और पुत्रों के मध्य होने वाले संघर्ष का बड़ा सजीव चित्रण किया है। ऐसे देश में, जहाँ पुरानी पीढ़ी निरक्षर है, और नयी जवान पीढ़ी साक्षर, इस दूरी और संघर्ष की आशंका और भी अधिक है। यह संकट तब और भी अधिक उग्र बन जाता है, जबकि देश आधुनिकीकरण की तीव्र प्रक्रिया में से गुजर रहा हो। ऐसी दशा में सम्भव है कि बालकों के मन में अपने आपको अपने बड़ों से ऊँचा समझने की प्रवृत्ति जाग उठे। दूसरी ओर, बड़े लोगों में भी एक दोमुखी प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है, जिसके कारण एक ओर तो वे नये तौर-तरीकों को संदेह की दृष्टि से देखने लगें, और दूसरी ओर उन वस्तुओं को प्रशंसा और आदर की दृष्टि से देखने लगें, जिन्हें वे समझ नहीं पाते। यह भी सम्भव है कि वे साक्षरता से बहुत अधिक आशाएँ बाँध बैठें। बुनियादी शिक्षा की आधारभूत धारणा शिक्षण की प्रक्रिया को किसी परिचित दस्तकारी पर आधारित करने द्वारा यह संकट काफी सीमा तक कम हो सकता है; और यह विश्वास किया जा सकता है कि पिताओं और पुत्रों के बीच की खाई बहुत बड़ी नहीं हो पायेगी।

बुनियादी विद्यालय के लिए किसी दस्तकारी के चुनाव के प्रश्न पर कुछ

और भी विचार कर लेना आवश्यक है। क्योंकि यह सारी शिक्षा मूलतः दस्तकारी पर केन्द्रित है, इसलिए सफलता या असफलता दस्तकारी के चुनाव पर ही निर्भर हो सकती है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि किसी भी दस्तकारी का शिक्षण की दृष्टि से महत्व इस बात पर निर्भर है कि उस दस्तकारी का समाज के जीवन में क्या स्थान है। अब हमें एक कदम आगे बढ़ना है और यह देखना है कि किसी एक दस्तकारी पर आवश्यकता से अधिक बल देने के फलस्वरूप कौन-कौन-सी मर्यादाएँ (लिमिटेशन) उपस्थित हो जाती हैं। बुनियादी शिक्षा का लक्ष्य केवल भावी नागरिक को प्रशिक्षण देना ही नहीं है, बल्कि यह है कि वह प्रशिक्षण जीवन के साथ अधिक से अधिक घनिष्ठ दशाओं में रख कर दिया जाना है। इसलिए यह आवश्यक है कि बुनियादी विद्यालय में समाज का जीवन प्रतिबिम्बित होना चाहिये। कोई भी समाज किसी एक ही दस्तकारी पर निर्भर रहकर जीवित भी नहीं रह सकता, फिर पनपने का तो कहना ही क्या! इसलिए यदि कोई बुनियादी विद्यालय किसी एक ही दस्तकारी में मगन रहे, तो उस सीमा तक वह जीवन की विविधपक्षता को प्रतिबिम्बित करने में असफल रहेगा। प्रायः यह माना जाता है कि बुनियादी विद्यालयों के लिए केवल कातना और बुनना ही उपयुक्त दस्तकारियाँ हैं। जहाँ यह ठीक है कि कताई और बुनाई के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती, वहाँ यह भी ध्यान रखा जाना चाहिये कि केवल इन दो दस्तकारियों पर सारा ध्यान केन्द्रित कर देना और अन्य दस्तकारियों की बिलकुल उपेक्षा कर देना बुनियादी शिक्षा के स्वयं आधारभूत सिद्धान्त का उल्लंघन होगा।

किसी एक ही दस्तकारी पर सारा ध्यान केन्द्रित कर देना एक और दृष्टि से भी बुनियादी शिक्षा के तत्वार्थ (स्पिरिट) के साथ असंगत है। औपचारिक तथा किताबी शिक्षा में छात्र और अध्यापक दोनों पर ही एक निश्चित पाठ्यक्रम का बन्धन रहता है। विद्यालयों का ध्यान राज्य के लिए भावी नागरिक तैयार करने की अपेक्षा परीक्षा की तिथि के पहले पाठ्य पुस्तकों को पूरा कर डालने की ओर अधिक रहता है। बुनियादी शिक्षा का यह दावा है कि किसी गतिविधि के माध्यम से प्राप्त होने वाली शिक्षा में अध्यापक और छात्र दोनों को ही अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता रहती है। परन्तु यदि दस्तकारियों में कोई विकल्प न हो, तो इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं रह सकती। बुनियादी

शिक्षा को किसी एक दस्तकारी तक सीमित कर देने का अर्थ यह है कि जिन अध्यापकों और बालकों की रुचियाँ और योग्यताएँ भिन्न-भिन्न हैं, उन्हें अपनी रुचि की दस्तकारी चुनने की कोई स्वतन्त्रता नहीं होगी। इस प्रकार तीन कारणों से विभिन्न वैकल्पिक दस्तकारियों का रखा जाना आवश्यक है। अलग-अलग प्रकार की बहुत-सी दस्तकारियों में जीवन के अनेक पहलुओं का प्रतिबिम्ब-सा दीख पड़ता है। अलग-अलग दस्तकारियाँ होने से विभिन्न योग्यताओं वाले बालकों और अध्यापकों की आवश्यकताएँ पूरी होती रहती हैं। इनसे अधिक भी महत्वपूर्ण बात यह है कि वैकल्पिक दस्तकारियाँ होने की दशा में बालक को यह अनुभूति होती है कि उसे अपनी रुचि की दस्तकारी चुनने की स्वतन्त्रता है।

ऊपर दिये गये विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिये कि केवल शिक्षण की दृष्टि से यह असंदिग्ध रूप से आवश्यक है कि सब विद्यमान प्रारम्भिक विद्यालयों को धीरे-धीरे बुनियादी विद्यालयों में परिवर्तित कर दिया जाय। यह शिक्षण सम्बन्धी युक्ति तब और भी जोरदार हो जाती है जब हम भारत की आर्थिक स्थिति को देखते हैं। गांधी जी इस बुनियादी शिक्षा प्रणाली की ओर जो आकृष्ट हुए थे, उसमें शिक्षणात्मक मूल्य भी उतना ही अधिक कारण था, जितना कि यह विचार कि इस प्रणाली को जारी करने से ही देश में सब लोगों को शिक्षा प्राप्त हो सकती है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस समय हम आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं। इसलिए वर्तमान परिस्थितियों में हम ऐसी किसी भी प्रणाली को नहीं अपना सकते, जो खर्चीली हो; भले ही अन्य दृष्टियों से वह कितनी ही अच्छी क्यों न हो। बुनियादी शिक्षा में दस्तकारी पर जोर दिया गया है, इस कारण यह शिक्षा को कम से कम आंशिक रूप से तो आत्मनिर्भर बनाना चाहती है। बालकों के परिश्रम से तैयार की गयी वस्तुएँ सामाजिक दृष्टि से उपयोगी होंगी; और इसलिए उन्हें सामाजिक अर्थ व्यवस्था में खपाया जा सकेगा। अनेक कारणों से इस प्रकार की वस्तुओं का सबसे अच्छा उपयोग विद्यालय के अन्दर ही हो सकता है। यदि अध्यापकों और छात्रों के भोजन और वस्त्र का कुछ अंश उनके अपने परिश्रम की उपज द्वारा पूरा हो सके, तो राष्ट्र के शिक्षा सम्बन्धी आय-व्यय की एक बड़ी मद अपने आप पूरी हो जायेगी। इतना ही नहीं, यदि

अध्यापक और छात्र यह देखें कि उनके परिश्रम का फल फिर उन्हीं को प्राप्त हो रहा है, तो उन्हें नया उत्साह और प्रेरणा प्राप्त होगी; और उन्हें एक ऐसी अनुभूति होगी कि जैसे उन्होंने कोई अच्छा कार्य पूर्ण कर लिया है। यदि छात्रों और अध्यापकों की इन आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद भी कुछ उपज बची रह जाय, तो उसका उपयोग विद्यालय में होने वाले कुछ अन्य अनिवार्य खर्चों को पूरा करने के लिए किया जा सकता है।

बुनियादी शिक्षा के अर्थशास्त्र को बड़ी सावधानी के साथ क्रियान्वित किया जाना चाहिये। केवल इसके इस दावे की परीक्षा के लिए नहीं, कि इस प्रणाली द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा सुगम बनायी जा सकती है, बल्कि इससे भी अधिक दृष्टि से, कि बुनियादी शिक्षा में शिक्षण का महत्व कम न होने पाये। यदि उत्पादन पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाय, तो उसमें यह खतरा रहेगा ही कि विद्यालय एक ऐसा कारखाना न बन जाय, जिसमें बालकों के श्रम का शोषण किया जा रहा हो। यह खतरा इस तथ्य के कारण और भी अधिक बढ़ जाता है कि बुनियादी शिक्षा में पुराने ढंग के विद्यालयों की अपेक्षा शिक्षक के सिर पर अधिक बोझ रहता है। हम पहले संकेत कर चुके हैं कि बुनियादी शिक्षा में विद्यालय के काम में विविधता होने के कारण और पढ़ने लिखने की एकरसता को बीच-बीच में उत्पादनशील श्रम द्वारा तोड़ देने के कारण विद्यार्थी का भार बहुत हल्का हो जाता है। परन्तु छात्रों को एक निर्धारित पाठ्यक्रम से छुटकारा दे देने का परिणाम यह होता है कि अध्यापक के सिर विद्यालय की सब गतिविधियों का समन्वय करने का बोझ आ पड़ता है। इसके फलस्वरूप उसके ऊपर निरन्तर एक बोझ बना रहता है, क्योंकि उसे सदा उन समस्याओं का समाधान खोजते रहना होता है, जो इस पाठ्यक्रम में उत्पन्न हों। पुराने ढंग के अध्यापकों को यह सुविधा थी कि वे बंधी गत से पढ़ाते चले जाते थे, परन्तु बुनियादी विद्यालयों में ऐसा कोई सरल उपाय नहीं है। जब तक बुनियादी शिक्षा का कार्य तपस्वी शिक्षक लोग कर रहे हैं, तब तक इस बात का कुछ बड़ा संकट नहीं है। परन्तु जब इस प्रणाली का विस्तार होगा, और प्रारम्भिक सेवा भावना वाले अध्यापकों का स्थान पेशेवर आदमी ले लेंगे, जिनमें से सबसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अपने कार्य के लिए अपना जीवन समर्पण कर रहे होंगे, उस समय इस बात का वास्तविक संकट उपस्थित होगा कि अध्यापक

लोग बुनियादी शिक्षा के केवल उन पहलुओं पर ही ध्यान दें, जिनमें सफलता या असफलता को आसानी से नापा जा सके। क्योंकि शिक्षा के रचनात्मक पहलू अव्यक्त होते हैं, और उनको नापा नहीं जा सकता, इसलिए यह बड़ा स्पष्ट खतरा है कि बुनियादी शिक्षा का प्रसार बढ़ने पर कहीं अध्यापक लोग अपनी सफलता का एकमात्र नाप उत्पादन बढ़ाने को ही न समझ बैठें। यह पता करना बिलकुल सरल है कि किसी विद्यालय में निर्धारित परिमाण में वस्तुएँ तैयार हुई हैं या नहीं। किन्तु यह जाँच पाना उतना सरल नहीं कि किसी विद्यालय में छात्रों का चरित्र परिपुष्ट हुआ है या नहीं, और उन्हें जीवन के मूल्यों का उचित ज्ञान हो गया है अथवा नहीं।

वस्तुतः यह बात स्पष्ट है कि पहले दो या तीन वर्षों में बालकों द्वारा तैयार की गयी वस्तुओं का आर्थिक मूल्य बहुत थोड़ा ही हो सकता है। ज्यों-ज्यों बालक बड़े होंगे और अधिकाधिक निपुणता प्राप्त करते जायेंगे, त्यों-त्यों उनके द्वारा तैयार की गयी वस्तुओं की किस्म भी सुधरती जायगी। प्रमाप (स्टैन्डर्ड) ऊँचा बनाये रखने का आग्रह भी शिक्षा का एक अंग होना चाहिये। यदि बच्चों का प्रशिक्षण ठीक ढंग से किया गया हो, और वे अपना काम निपुणता, सावधानी और ईमानदारी के साथ करें, तो कोई कारण नहीं कि उनकी तैयार की हुई वस्तुएँ क्यों असन्तोषजनक या घटिया हों। यदि कोई काम करना ही है, तो वह ठीक ढंग से किया जाना चाहिये। अधकचरेपन या निपुणता के अभाव को कोई भला गुण नहीं माना जा सकता। इसलिए अच्छी किस्म की चीजों का उत्पादन उस प्रशिक्षण का ही एक अंग है, जो बालकों को विद्यालयों में प्राप्त होना चाहिये।

फिर भी इस बात पर जितना जोर दिया जाय, वह कम ही है कि विद्यालय भविष्य के नागरिकों के प्रशिक्षण का केन्द्र है, तात्कालिक उपभोग के लिए वस्तुएँ तैयार करने का कारखाना नहीं है। जिस भी दस्तकारी को केन्द्र बनाकर शिक्षा दी जा रही हो, उसके द्वारा बालक की योग्यताएँ निखरनी चाहियें, और उसे उस दस्तकारी के अन्य विषयों के साथ सह सम्बन्ध द्वारा समाज के सजीव स्वरूप का ज्ञान हो जाना चाहिये। यह ठीक है कि बालकों द्वारा तैयार की गयी वस्तुओं में से बहुत-सी विक्रय योग्य होनी चाहियें, और वे होंगी भी; परन्तु इस बात का प्रयत्न नहीं होना चाहिये कि उसके काम की एकमात्र कसौटी उन

वस्तुओं का विक्रय-योग्यता को ही बना दिया जाय। यह ध्यान रखा जाना चाहिये कि १४ या १५ साल का बालक भी अधिक से अधिक एक नौसिखिया ही हो सकता है। इस आयु में उसे एक निपुण कारीगर बनाने का प्रयत्न केवल तभी सफल हो सकता है, जबकि प्रमापों को बहुत नीचे गिरा दिया जाय। समाज के दृष्टिकोण से यह अधिक अच्छा है कि एक किशोर अर्धशिक्षित होनहार शिल्पी (टैक्नीशियन) बने, बजाय इसके कि वह एक घटिया दर्जे का पूर्ण कारीगर बन जाय।

इस प्रश्न पर विचार करते हुए एक और बात भी ध्यान में रखनी चाहिये। हमारा अभीष्ट लक्ष्य जो कुछ होगा, उसके अनुसार ही प्रशिक्षण के ढंग में भी अन्तर पड़ जायगा। यदि हमारा लक्ष्य उत्पादन को बढ़ाना हो, तो प्रशिक्षक शिक्षार्थी की निपुणता को बढ़ाने पर अधिक ध्यान देगा। यह निपुणता सबसे अधिक उस दशा में बढ़ायी जा सकती है, जबकि उत्पादन की प्रक्रिया को विभिन्न अलग-अलग दशाओं में विभक्त कर दिया जाय; और प्रत्येक शिक्षार्थी को एक अलग-अलग दशा के सम्बन्ध में विशेष निपुणता प्राप्त करायी जाय। और यदि हमारा लक्ष्य बालक की शिक्षा हो, तो ज्योंही वह उत्पादन की प्रक्रिया की किसी एक दशा में पर्याप्त निपुणता प्राप्त कर लेगा, त्योंही अध्यापक उसे उत्पादन की प्रक्रिया की किसी दूसरी दशा को सीखने में लगा देगा। यदि बढ़ईगीरी के किसी विद्यालय में लक्ष्य बड़ी संख्या में कुर्सियाँ तैयार करना हो, तो विद्यालय का प्रत्येक छात्र कुर्सियों के किसी एक खास अंग को तैयार करने में विशेष योग्यता प्राप्त करेगा। इसके विपरीत, यदि विद्यालय का उद्देश्य अच्छे और निपुण बढ़ई तैयार करना हो, तो उसमें प्रत्येक छात्र को बढ़ईगीरी की प्रत्येक दशा में से गुजार कर शिक्षा दी जायगी। इस प्रकार बालकों को एक दशा से दूसरी दशा की ओर परिवर्तित करते रहने से उनकी वस्तुओं को तैयार करने की क्षमता में कुछ न कुछ कमी अवश्य होगी। किन्तु इस प्रकार सिखाने से जो उनका अनुभव बढ़ेगा और उनके व्यक्तित्व का विकास होगा, उससे न केवल वह कमी पूरी हो जायगी, अपितु कुछ अधिक लाभ ही रहेगा इसलिए इस बात पर जितना जोर दिया जाय, वह कम ही है कि बुनियादी शिक्षा के विद्यालय में उत्पादन अनिवार्य रूप से एक गौण उपज (बाई प्रोडक्ट) ही समझी जानी चाहिये। यह ठीक है कि इस प्रकार तैयार की गयी

वस्तुओं की बिक्री या उपयोग से होने वाली आय का स्वागत किया जाय, परन्तु इस प्रकार की आय से राष्ट्र के शिक्षण सम्बंधी बजट के केवल एक छोटे-से भाग को ही पूरा किया जा सकता है; और इससे अधिक इससे आशा भी नहीं की जानी चाहिये।

बुनियादी शिक्षा का विस्तार होने के कारण, और इस क्षेत्र में काफी बड़ी संख्या में सेवा-भावना से शून्य अध्यापकों के आ जाने के कारण यह आवश्यक है कि कुछ ऐसे प्रतिबंध रखे जायँ, जिनसे अत्युत्साही अथवा सूझ-बूझ से शून्य अध्यापक जान-बूझकर या अनजाने बालकों का शोषण न कर सकें। यह ठीक है कि सूझ-बूझ और कल्पनाशील अध्यापक बालकों से बड़े-बड़े काम करवा सकता है; परन्तु इस बात का भय है कि लकीर पीटने वाला अध्यापक बालकों से इतना अधिक काम करवाना चाहे, कि जो उनके सामर्थ्य से बाहर हो; इसलिए इस प्रकार की कोई सीमा नियत की जानी चाहिए कि बालकों से इतनी मात्रा में काम करने की आशा की जाती है। ऐसी सीमा नियत करने से पहले इस सम्बन्ध में सावधानी के साथ विस्तृत परीक्षण करने की आवश्यकता है; और निश्चय चाहे जो कुछ किया जाय, इस प्रकार की सीमाएँ लचकीली होनी चाहियें, और संस्था तथा दस्तकारी की प्रकृति के अनुसार उनमें घटबढ़ हो सकनी चाहिये।

बुनियादी विद्यालयों में काफी अनुभव प्राप्त लोगों में से कुछ का विचार है कि यदि दस्तकारियों के लिए काम में लाये गये कच्चे माल की लागत भी विद्यालय में तैयार वस्तुओं द्वारा निकल सके, तो वह काफी समझी जानी चाहिये। परन्तु इतना पर्याप्त नहीं जान पड़ता। बुनियादी शिक्षा में अनुभव की दृष्टि से विहार सबसे आगे है। वहाँ कुछ बुनियादी विद्यालय तो विद्यालय पर होने वाले कुल व्यय का ५० प्रतिशत से भी अधिक भाग विद्यालय में तैयार वस्तुओं द्वारा पूरा कर चुके हैं। परन्तु अनेक कारणों से यह संदिग्ध है कि इन पथदर्शक संस्थाओं के अनुभव को कहीं दूसरी जगह ज्यों का त्यों दुहराया जा सकता है या नहीं। फिर भी बिहार में अनेक विद्यालय दस्तकारी के लिए कच्चे माल की खरीद पर व्यय की जाने वाली राशि से दुगुनी राशि कमा लेते हैं, और इतनी माँग बिल्कुल उचित जान पड़ती है। कोई-कोई यहाँ तक कह सकते हैं कि दस्तकारी में प्रयुक्त कच्चे माल की लागत और औजारों

का घिसाई खर्चा, कम से कम इतनी राशि अध्यापक और छात्रों द्वारा किये जाने वाले काम से अवश्य निकल सकनी चाहिये । यदि इतना भी न निकल सके, तो यह अध्यापक की योग्यता में कमी का सूचक समझा जाय । इसी प्रकार एक ऊपरी सीमा भी नियत कर दी जानी चाहिये; और यह सीमा विद्यालय पर होने वाले कुल व्यय का २० से लेकर ३० प्रतिशत तक होनी चाहिये । यदि इस सीमा से भी अधिक आय विद्यालय में तैयार वस्तुओं से हो रही हो, तो स्पष्ट रूप से यह समझना होगा कि विद्यालय में दस्तकारी के शिक्षणात्मक पहलू की अपेक्षा उत्पादन के पहलू पर अधिक जोर दिया जा रहा है ।

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (सैन्ट्रल एडवाइजरी बोर्ड आफ एजूकेशन) ने इस समस्या पर काफी विस्तार से विचार किया है । बोर्ड ने ऐसे लोगों के भी विचार सुने हैं, जिन्होंने प्रारम्भ में यहाँ तक दावा किया कि विद्यालय पूर्णतया आत्मनिर्भर होना चाहिये और वह अवश्य आत्मनिर्भर हो सकता है । परन्तु विचार-विमर्श के बाद उन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि यदि सब मामलों में बालक आत्मनिर्भर होना सीख जायँ, तो इतना ही काफी समझा जाना चाहिये । सावधानी के साथ विचार करने के बाद बोर्ड ने विद्यालयों में तैयार की जाने वाली वस्तुओं से प्राप्त होने वाली आय के सम्बन्ध में कोई अनुपात नियत करने से इन्कार कर दिया और केवल इतनी सिफारिश की कि यदि बुनियादी शिक्षा प्रणाली को सफल बनाना अभीष्ट है, तो इसके शिक्षणात्मक और उत्पादनात्मक पहलुओं पर समान ध्यान दिया जाना चाहिये ।

इस प्रकार, किसी दस्तकारी के उत्पादनात्मक पहलू पर आवश्यकता से अधिक बल देना एक ऐसा खतरा है, जिससे बुनियादी शिक्षा को बचना ही चाहिये । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह बात इस प्रणाली की कोई निंदा या आलोचना है; क्योंकि संसार में ऐसी कोई भी प्रणाली नहीं है, जिसमें दोष न ढूंढे जा सकें । अनेक प्रकार की दस्तकारियों की व्यवस्था का इस दृष्टि से भी विशेष महत्व है । अनेक दस्तकारियों का अर्थ यह होगा कि छात्रों और अध्यापकों, दोनों के लिए ही बहुत प्रकार की विविधता बनी रहे; और इससे बुनियादी शिक्षा के शिक्षणात्मक पहलू पर आर्थिक पहलू की अपेक्षा अधिक जोर देने में सहायता मिलेगी । साथ ही, अन्ततोगत्वा बुनियादी शिक्षा देश की आर्थिक उन्नति में भी सहायता देगी । भारत जैसे देश में दस्तकारियों की वृद्धि

की विशेषरूप से आवश्यकता है, क्योंकि हमारे देश में गरीबी बहुत अधिक फैली हुई है। अनेक प्रकार की दस्तकारियों वाले बुनियादी विद्यालय उद्योग और व्यापार के विस्तार की आधारशिला बन सकेंगे। सोवियत रूस में प्राप्त प्रारम्भिक दिनों के अनुभव के आधार पर इस प्रकार की आशा की जा सकती है : जब शिक्षा को विभिन्न दस्तकारियों के आधार पर प्रारम्भ किया गया, तो वहाँ सार्वजनीन शिक्षा की प्रगति को बड़ा प्रोत्साहन मिला। बालक और किशोर, सभी को अपनी निपुणता, और अर्थोपार्जन की शक्ति को बढ़ाने का अवसर प्राप्त हुआ। विद्यालयों को बहु शिल्प विद्यालयों के रूप में परिवर्तित करने की ओर यह पहला कदम था; और बहु शिल्प विद्यालयों की स्थापना ही वह आधारशिला थी, जिसके ऊपर सोवियत रूस ने अपने उद्योगीकरण और विकास का महल खड़ा किया। भारत में भी बुनियादी शिक्षा का प्रचार इस प्रकार के बहु शिल्प विद्यालयों की स्थापना का प्रारम्भ समझा जा सकता है।

स्वतन्त्रता और संगठन, ये वे दो सिद्धान्त हैं, जिनके आधार पर कोई समाज प्रगति कर सकता है और जीवित रह सकता है। इसलिए बालक में होश सँभालते ही स्वतंत्रता की भावना और संगठन के प्रति निष्ठा की भावना उत्पन्न की जानी चाहिये। इसीलिए बुनियादी विद्यालयों में यह एक मुख्य लक्ष्य रखा गया है कि बालक में स्वच्छंदता (स्पोन्टेनाइटी) और सामाजिकता की भावना को विकसित किया जाय। स्वच्छंदता के फलस्वरूप बालक की सब योग्यताएँ पनप उठती हैं। सामाजिकता की भावना के फलस्वरूप उसमें जिम्मेदारी का भाव जाग उठता है और वह इस बात को अनुभव करने लगता है कि वह स्वयं भी समाज का एक उत्पादनशील अंग है। कक्षाओं के मंत्रियों और कार्यकारिणी समितियों की प्रणाली के द्वारा उसमें पहल करने की शक्ति और उत्तरदायित्व की भावना परिपुष्ट हो जाती है। सामूहिक गतिविधियों में सहकारिता के महत्व पर बल दिया जाता है। ये सब चीजें मिलकर बालकों के लिए शिक्षा को एक वास्तविक रूप दे देती हैं, क्योंकि इनसे बालक यह अनुभव करने लगते हैं कि वे समाज के सदस्य हैं। हमारी शिक्षा की इस समय प्रचलित पद्धति में बालक को समाज के सम्बन्ध में बतलाया जाता है, और उसे बताया जाता है कि उसे क्या करना चाहिये। बुनियादी शिक्षा में बालक को समाज के एक सदस्य के रूप में जीना सिखाया जाता है। इनमें से पहली पद्धति केवल

शाब्दिक शिक्षा की है; और इसीलिए वह जीवन से बहुत दूर हटी हुई है। दूसरी पद्धति सामाजिक जीवन में वास्तविक रूप में भाग लेने की पद्धति है, और इसलिए वह नागरिकता की सीधी शिक्षा है।

इसलिए बुनियादी विद्यालय को प्रजातंत्र का व्यावहारिक उदाहरण बनना चाहिये। यह उद्देश्य सफल होता है या नहीं, यह बात मुख्य रूप से अध्यापक की योग्यता पर निर्भर है। सब प्रजातंत्रों की भाँति विद्यालय के समाज में भी प्रजातंत्र तभी सफलतापूर्वक काम कर सकता है, जब कि वहाँ बुद्धिमत्तापूर्ण और उचित नेतृत्व प्राप्त हो सके। मैंने पहले ही यह संकेत कर दिया है कि पाठ्य पुस्तकों और निर्धारित पाठ्य विषयों से छुटकारा दिला देने के साथ-साथ बुनियादी विद्यालयों में अध्यापक के ऊपर काफी अधिक बोझ आ पड़ता है। मैंने ऐसे भी बुनियादी विद्यालय देखे हैं, जहाँ भौतिकी विज्ञान या रसायन-विज्ञान को कताई की दस्तकारी के साथ मिलाकर पढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा था; परन्तु वहाँ के बालकों को अपने कक्षा भवन के क्षेत्रफल या लम्बाई-चौड़ाई तक का कुछ अन्दाज न था; और यहाँ तक कि उन्हें अपने भार और अपनी ऊँचाई तक का भी कुछ अनुमान न था। इसके विपरीत मैंने कुछ ऐसे बुनियादी विद्यालय भी देखे हैं, जहाँ पढ़ाई बालकों द्वारा निरन्तर बड़े जोश और उत्सुकता के साथ अपने परिवेश (ऐनवायरनमैण्ट) की खोज और जाँच-पड़ताल के रूप में चल रही थी। वैसे तो अन्ततोगत्वा हर एक प्रणाली में ही अध्यापक का सबसे अधिक महत्व होता है, परन्तु बुनियादी विद्यालयों में उसका महत्व सामान्य विद्यालयों की अपेक्षा कहीं अधिक होता है।

एक दृष्टि से सम्पूर्ण मानवीय गतिविधि का लक्ष्य आनन्द है। वस्तुतः कुछ मनोवैज्ञानिकों ने आनंद की परिभाषा किसी भी कृत्य की संतोषपूर्ण समाप्ति के रूप में की है। पुस्तकों और निर्जीव दिनचर्या को बालकों के ऊपर थोप देने के कारण उन्हें बहुत लम्बे समय तक निष्क्रिय बैठे रहना पड़ता था और इससे बालकों को बहुत कष्ट होता था। बुनियादी शिक्षा में बालक को स्वतंत्र और स्वच्छंद, लेकिन साथ ही सोद्देश्य और उपयोगी गतिविधियों का अवसर देकर इस दोष को हटाने का प्रयत्न किया गया है। विद्यालय में दस्तकारियाँ प्रारम्भ करने के फलस्वरूप विद्यालय बालक के लिए अपेक्षाकृत अधिक जीवनप्रद और रोचक बन जाता है; और इसके फलस्वरूप केवल किताबी (शास्त्रीय) या

साहित्यिक कार्य की नीरसता भंग हो जाती है। परन्तु यदि विद्यालयों को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाय, तो दस्तकारी बालक के लिए एक आनंदपूर्ण सृजनात्मक गतिविधि न रहकर एक थकाने वाला बोझ बन जायेगी।

लगभग सभी देशों में शिक्षा के राष्ट्रीय कार्यक्रमों में यह प्रयत्न किया जा रहा है कि अध्ययन की प्रक्रिया को आनंदपूर्ण बनाया जाय। थकान और एकरसता को हटाने और छात्रों की दिलचस्पी को बढ़ाने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये जा रहे हैं। भारत में भी इस स्वस्थ प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। भारत के विषय में इस बात को और भी अधिक जोर देकर कहना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि बहुत बार हमारे देश में कष्ट सहन की बहुत प्रशंसा की जाती है, जैसे कष्ट सहना अपने आप में कोई बड़ी अच्छी बात हो। बहुत-से भारतीयों को तपस्या की भावना बहुत प्रिय जान पड़ती है। जिन लोगों में आदर्श की भावना बड़ी उग्र है, वे यह अनुभव करते हैं कि अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आनन्द को त्याग देना उनकी विश्वासपरायणता की कसौटी है। किसी आदर्श के लिए कष्ट सहन करने से कोई व्यक्ति श्रेष्ठ बन सकता है, परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि कष्ट का अपने आप में कोई महत्व नहीं है; और उसे तभी उचित कहा जा सकता है, जबकि वह किसी उच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साधन के रूप में सहा जा रहा हो। बुनियादी विद्यालयों के कुछ अध्यापकों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे कष्ट सहन या तपस्या की इस रूप में प्रशंसा करते हैं कि जैसे वे अपने आप में कोई अच्छी वस्तुएँ हों। यदि इस प्रकार की प्रवृत्तियों को न रोका गया, तो यह भय है कि बुनियादी शिक्षा नयी पीढी की सृजनात्मक शक्तियों को उन्मुक्त करने वाली सिद्ध न होकर कहीं एक बाधक और भयावह वस्तु न बन जाय।

सही अर्थों में समझ ली गयी बुनियादी शिक्षा मानसिक और शारीरिक कार्यों को मिलाकर, और किताबी (शास्त्रीय) विषयों को किसी दस्तकारी की गतिविधियों के आधार पर सिखाकर बालक को एकरसता और नीरसता से छुटकारा दिला देती है। यह शिक्षा विद्यालय में स्वतन्त्रता और आनन्द का वातावरण उत्पन्न करना चाहती है। अतः बुनियादी शिक्षा बालक के लिए इस कारण अच्छी है, क्योंकि यह बालक के व्यक्तित्व को उन गतिविधियों द्वारा

परिपुष्ट करने में सहायता देती है, जिन्हें उस बालक ने स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक चुना है और जिनमें उसने स्वयं पहल की है। जो चीज बालक के लिए अच्छी है, वही समाज के लिए भी भली है। समाज को होने वाले एक लाभ का ऊपर उल्लेख कर दिया गया है। सार्वजनीन शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली पर होने वाले व्यय का कम से कम कुछ अंश पूरा करके यह शिक्षा को सबके लिए सुलभ बनाने में सहायता देती है। बुनियादी शिक्षा उन लोगों के आक्षेपों का भी समाधान कर देती है, जो सब मानवीय गतिविधियों का सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से भी मूल्यांकन करना चाहते हैं। इस बात पर सब सहमत हैं कि लम्बी अवधि में शिक्षा उत्पादनशील सिद्ध होती है; परन्तु अल्प अवधि में, अर्थात् तत्काल सामने आने वाली कठिनाइयों के कारण लम्बी अवधि में अर्थात् देर से होने वाले लाभों को प्राप्त कर पाने में रुकावट पड़ जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उचित रूप से किया गया विनियोग आगे चलकर मुनाफा देता है। परन्तु यदि किसी के पास विनियोग करने के लिए पूँजी ही न हो तो वह क्या करे ? यह है वह प्रश्न, जिसका उत्तर बुनियादी शिक्षा देने का प्रयत्न करती है। बुनियादी विद्यालयों का लक्ष्य यह सिद्ध करना है कि शिक्षा आवश्यक रूप से ऐसा विनियोग नहीं है, जो बहुत देर में और केवल परोक्ष रूप से ही मुनाफा देता हो, बल्कि ऐसा विनियोग है, जिसमें लाभ तुरन्त और प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त हो सकता है।

इस विवेचन को समाप्त करने से पहले अन्त में एक चेतावनी दे देना आवश्यक है। इस सारे मामले की प्रकृति को देखते हुए पुराने परम्परागत विद्यालयों को बुनियादी शिक्षा के विद्यालयों में परिवर्तित करने का काम क्रमशः और धीरे-धीरे ही होना चाहिये। दो लाख से भी अधिक विद्यालयों का बुनियादी विद्यालयों में परिवर्तन और लगभग १० लाख अध्यापकों का नये सिरे से प्रशिक्षण ऐसा कार्य है, जिसे कई वर्षों में फैलाकर करना ही आवश्यक होगा। क्योंकि इस संक्रमण काल में दोनों प्रणालियाँ जारी रहेंगी, इसलिए इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उन दोनों में परस्पर विरोध-भाव उत्पन्न न हो। इसलिए हमें इस विचार को नहीं पनपने देना चाहिये कि इन विद्यालयों के रूपान्तरण का अर्थ यह है कि अपने अतीत को एकदम छोड़ दिया जाय; बल्कि हमें इस परिवर्तन को इस रूप में देखना चाहिये कि हम अब फिर उन्हीं पुराने मूल्यों पर फिर से जोर

देने लगे हैं, जो बीच में कुछ समय तक अनेक कारणों से भुला दिये गये थे या उपेक्षित हो गये थे। छोटे बालकों को गतिविधियों के द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिये; विद्यालय के सब विषय एक समेकित (इन्टैग्रेटिड) रूप में पढ़ाये जाने चाहियें; और शिक्षा सोद्देश्य होनी चाहिये; ये ऐसे सत्य हैं, जिन्हें सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। इन सिद्धान्तों को व्यवहार में सभी अच्छे शिक्षाशास्त्रियों ने स्वीकार किया है, भले ही उन्होंने इन बातों को सुस्पष्ट सिद्धान्तों का रूप न भी दिया हो। फिर भी इन सिद्धान्तों को समझ-बूझकर स्वीकार करना इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है कि उससे प्रारम्भिक शिक्षा को बुनियादी शिक्षा की पद्धति में परिवर्तित करने के भारतीय निश्चय का क्रान्तिकारी महत्व स्पष्ट हो जायेगा।

अध्याय ३

माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन

कई बार यह कहा जाता है कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से शिक्षा की सबसे महत्वपूर्ण समस्याएँ वे हैं, जिनका सम्बन्ध प्रारम्भिक शिक्षा या वयस्क शिक्षा से है। ये समस्याएँ महत्वपूर्ण अवश्य हैं, फिर भी इस वक्तव्य को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। पहली बात तो यह है कि शिक्षा की विभिन्न दशाओं के बीच सीमा की कोई पक्की रेखा खींच पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि ये दशाएँ परस्पर एक दूसरे से इस प्रकार घुल-मिल गयी हैं कि उन्हें पहचान पाना कठिन है। एक और बात यह है कि प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा के लिए प्राप्त होने वाले सब अध्यापक माध्यमिक विद्यालयों में ही तैयार होते हैं। वयस्क शिक्षा के काम में लगे हुए अध्यापक भी मुख्यतया उसी स्रोत से प्राप्त होते हैं। इसलिये यदि माध्यमिक शिक्षा का विस्तार और पुनर्गठन न किया जाय, तो प्रारम्भिक शिक्षा का पुनर्गठन या वयस्क शिक्षा का प्रसार असम्भव हो जायगा। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय नीति का निर्धारण बहुत सीमा तक राष्ट्रीय नेताओं के निश्चयों पर निर्भर रहता है। ये राष्ट्रीय नेता मुख्यतया उस वर्ग में से होते हैं, जिसने उच्चतर शिक्षा प्राप्त की हुई है। परन्तु इस उच्चतर शिक्षा का पूरा लाभ तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता, जब तक कि माध्यमिक शिक्षा की दशा में की जाने वाली तैयारी अपूर्ण या दोषपूर्ण हो।

इसलिए समाज के शिक्षा के किसी भी कार्यक्रम में माध्यमिक शिक्षा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। यह माध्यमिक शिक्षा प्रारम्भिक शिक्षा और वयस्क शिक्षा दोनों के लिए ही अध्यापक प्रदान करती है। यह छात्रों को

विश्वविद्यालयों तथा उच्चतर अध्ययन की दूसरी संस्थाओं के लिए तैयार करती है। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसी स्थिति है, जिस पर सभी देशों में विद्यार्थियों की अधिकांश संख्या अपनी शिक्षा समाप्त समझती है। विद्यार्थियों की वह अल्प संख्या भी, जो उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने के लिए आगे जाती है, तब तक विश्वविद्यालयों में प्राप्त होने वाले अवसरों का पूरा लाभ नहीं उठा सकती, जब तक कि माध्यमिक शिक्षा की स्वस्थ प्रणाली द्वारा उसका आधार पक्का न कर दिया जाय। यदि और कोई कारण न भी हो, तो भी केवल इन कारणों को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है कि माध्यमिक शिक्षा उच्चतम कोटि की हो। तभी यह आधुनिक युग की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकेगी।

माध्यमिक शिक्षा को उत्कृष्ट कोटि का बनाने के लिए एक और भी कारण विद्यमान है। सभी समाजों में अधिकांश विद्यार्थी अपनी पढ़ाई प्रारम्भिक शिक्षा की समाप्ति पर ही खत्म कर देते हैं। वह थोड़ी-सी अल्प संख्या, जो माध्यमिक शिक्षा की स्थिति को पार करके उच्च शिक्षा प्राप्त करती है, देश को अच्छा नेतृत्व प्रदान कर सकती है। परन्तु यदि उस नेतृत्व के लक्ष्यों को प्रभावी (ऐफैक्टिव) कार्यक्रमों में क्रियान्वित करना अभीष्ट हो, तो ऐसे लोग भी काफी बड़ी संख्या में होने चाहियें, जो ज्ञान, प्रशिक्षण और चरित्र की दृष्टि से इसके लिए समर्थ हों। कुछ थोड़े-से सर्वोच्च नेता नीति का निश्चय कर सकते हैं, परन्तु उन नीतियों को क्रियान्वित कर पाना उन मध्यम स्तर के लोगों पर ही निर्भर है, जिनमें नेताओं के उद्देश्यों को ठीक-ठीक समझ पाने का ज्ञान और सूझबूझ हो।

माध्यमिक शिक्षा इन मध्यवर्ती लोगों को प्रशिक्षण दे सकती है, और उसे देना भी चाहिये। ये प्रशिक्षित लोग उच्चतम स्तर पर किये गये नीति सम्बन्धी निश्चयों को क्रियान्वित कर सकेंगे। इसलिए जो लोग अपनी पढ़ाई माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद समाप्त करें, उन्हें ज्ञान और सक्षमता (कौम्पीटैन्स) तो प्राप्त करनी ही चाहिये, साथ ही उनमें नेतृत्व का गुण और चरित्र भी विकसित हो जाना चाहिये। इनमें से कुछ लोग और आगे जा सकेंगे और वे उच्चतर नेताओं की कोटि में पहुँचेंगे; परन्तु शेष लोगों को भी कम से कम मध्यवर्ती व्यक्ति के कर्तव्यों को पूरा कर पाने में समर्थ होना चाहिये। ये मध्यवर्ती लोग सामान्य जनता के सम्मुख नेताओं के अभिप्रायों का स्पष्टीकरण कर सकेंगे।

इस बात पर साधारणतया सब लोग सहमत हैं कि माध्यमिक शिक्षा का एक मुख्य लक्ष्य यह भी है कि छात्रों में नेतृत्व के उन गुणों का विकास हो जाय, जिनकी जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आवश्यकता पड़ती है। प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य आधारभूत जानकारी और वह निपुणता प्रदान करना होता है, जिसके सहारे मनुष्य सरलता से जीवन-यापन कर सके। उच्चतर शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान की सीमाओं का विस्तार करना होता है और वह (उच्चतर शिक्षा) प्रायः अपने आप में एक लक्ष्य होती है। माध्यमिक शिक्षा इन दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है; और यह उन लोगों का चुनाव करने में सहायक होती है—या कम से कम इसे सहायक होना चाहिये—जिन्हें समाज के उच्चतर नेता बनना है।

यह स्पष्ट है कि यदि प्रजातन्त्र को वास्तविक बनाना है, तो शिक्षा को अधिकाधिक सुलभ बनाना होगा। साथ ही हमें यह भी याद रखना चाहिये कि शिक्षा में केवल मात्रा का विस्तार काफी नहीं है। जब तक शिक्षा की किस्म में भी सुधार न हो, तब तक केवल साक्षरता के प्रचार से उससे कहीं अधिक नयी समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं, जितनी कि साक्षरता द्वारा हल होंगी। शिक्षा की सुविधाओं के विस्तार का एक और भी पहलू है, जो सारे संसार में शिक्षा-शास्त्रियों के लिए चिन्ता का विषय बना हुआ है। शिक्षा की मात्रा में विस्तार करने के साथ यह खतरा सदा जुड़ा रहता है कि उससे शिक्षा की किस्म बिगड़ती चली जाय; अर्थात् शिक्षा घटिया दर्जे की होती जाय। शिक्षा की किस्म में सुधार न होने की दशा में केवल साक्षरता का प्रसार करते जाने से यह खतरा है कि इस प्रकार की शिक्षा से मनुष्य की केवल विनाशात्मकता में ही वृद्धि न हो जाय। अतीत काल में युद्ध प्रायः संकुचित भावना के पक्षपातों के कारण होते रहे हैं। परिमित वैज्ञानिक ज्ञान और सीमित संचार साधनों के कारण इस प्रकार के युद्धों के प्रभाव भी परिमित ही रहते थे। परन्तु आज के संसार में युद्ध का अर्थ यह है कि लगभग निश्चित रूप से उन सब वस्तुओं का विनाश हो जाय, जिनका मनुष्य प्रतिनिधि है। इसलिए हमें यह देखना होगा कि शिक्षा की सुविधाओं के विस्तार का परिणाम यह न हो कि शिक्षा के प्रमाप (स्टैण्डर्ड) नीचे गिर जायें। साथ ही हमें यह भी देखना होगा कि शिक्षा विभिन्न संस्कृतियों के सामाजिक मूल्यों की रक्षा करते हुए मनुष्य में स्वतन्त्र और सृजनात्मक भावना परिपुष्ट कर सके। अतीत में इन सामाजिक मूल्यों की रक्षा

केवल कुछ थोड़े-से ऐसे लोग ही करते रहे हैं, जिनकी पहुँच ज्ञान और जीवन के उच्चतर मूल्यों तक थी। परन्तु शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ प्रत्येक व्यक्ति की पहुँच इन तक हो सकती है; और इसके साथ ही यह खतरा है कि कहीं जीवन के ये मूल्य भ्रष्ट न होते चले जायँ।

हमें एक और खतरे से भी बचाव करना है। शिक्षा की सुविधाओं के विस्तार का परिणाम सैनिकीकरण (रैजीमेन्टेशन; विचारों पर अत्यधिक नियंत्रण) भी हो सकता है। जब भी कभी हम बहुत अधिक संख्या वाले लोगों के साथ व्यवहार कर रहे होते हैं, तो हमें इस बात का प्रलोभन होता है कि कार्य की ऐसी दिशा अपनायी जाय, जिसमें लोगों का प्रतिरोध कम से कम हो और समस्याओं के ऐसे समाधान ढूँढ़े जायँ, जो मोटे तौर पर सारी जनता पर लागू होते हों। परन्तु जीवन के उच्चतम मूल्यों की उपलब्धि एकान्त या मनुष्यों की पृथकता में ही होती है और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मुक्ति का उपाय स्वयं ढूँढ़ना होता है। शिक्षित व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होने के कारण हम इस तथ्य को भूल जा सकते हैं। सम्भव है कि हम सुविधाओं के विस्तार और व्यक्तित्व की सम्पन्नता में घपला कर बैठें। प्रारम्भिक शिक्षा के स्तर पर सैनिकीकरण की समस्या इतनी गम्भीर नहीं है। इसके कम से कम तीन कारण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक आयु में बालकों पर प्रभाव बहुत आसानी से और बहुत अधिक डाला जा सकता है। परन्तु वे बालक अत्यधिक स्थिति स्थापक (अर्थात् फिर अपनी पुरानी दशा की ओर वापस लौट आने वाले) और व्यक्तित्व-प्रधान होते हैं। उनकी व्यक्तिवादिता और स्थितिस्थापकता उन्हें काफी हद तक किसी बँधी गत पर चलते जाने से बचाती है। किन्तु सैनिकीकरण के खतरे से उनकी रक्षा का सबसे बड़ा कारण प्रारम्भिक शिक्षाक्रम की अवधि की स्वल्पता है, अर्थात् यह कि प्रारम्भिक शिक्षा का काल बहुत थोड़ा होता है। यह अवधि इतनी कम होती है कि न तो इसमें कोई ऐसा ज्ञान ही दिया जा सकता है, जो आगे चलकर उनके जीवन में काम आये; और न उनमें कुछ ऐसी आदतें ही डाली जा सकती हैं, जो स्थायी बन जायँ, और कभी बदलें नहीं। क्योंकि प्रारम्भिक शिक्षा में केवल आधारभूत जानकारी और निपुणता सिखाना ही प्रयोजन होता है, इसलिए यह शिक्षा सबके लिए एक जैसी ही होनी चाहिये। परन्तु जब हम प्रारम्भिक स्थिति से आगे बढ़ते हैं, तो शिक्षा को एकरूप रखने

का यह प्रयत्न बिगड़कर सैनिकीकरण के रूप में प्रकट हो सकता है। यदि ऐसा हो तो केवल इतना ही खतरा नहीं है कि छात्रों की उत्कृष्टता का अन्तर समाप्त हो जायगा, बल्कि यह खतरा है कि छात्रों के लिए अपने भविष्य जीवन का चुनाव कर पाना और भी अधिक कठिन हो जायेगा। इससे भी बुरी बात यह सम्भव है कि इससे समाज में एक ऐसा विचित्र स्वभाव उत्पन्न हो जाय, जिसके कारण या तो जीवन के सब वर्तमान मूल्यों को आँख मींचकर स्वीकार कर लिया जाय, या ठीक उसी तरह आँख मींचकर अस्वीकार कर दिया जाय।

२

इस प्रकार जहाँ किसी प्रजातन्त्रीय समाज में माध्यमिक शिक्षा का महत्व असंदिग्ध है, वहाँ यह भी स्वीकार करना होगा कि भारतीय शिक्षा की शृंखला में यह माध्यमिक शिक्षा ही सबसे कमजोर कड़ी समझी जाती रही है। विश्वविद्यालयों को शिकायत है कि माध्यमिक विद्यालयों से आने वाले छात्र आशानुकूल स्तर के नहीं होते। शिक्षण सम्बन्धी प्रशासकों को माध्यमिक शिक्षा प्राप्त इन छात्रों की प्रारम्भिक शिक्षक या समाज शिक्षक के रूप में सेवा कर पाने की क्षमता में बड़ा सन्देह है। जनता यह अनुभव करती है कि माध्यमिक शिक्षा अपने इस मुख्य उद्देश्य को पूरा नहीं करती कि वह छात्रों में नेतृत्व के उन गुणों को परिपुष्ट कर सके, जिनकी जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आवश्यकता पड़ती है। माध्यमिक शिक्षा असन्तोषजनक कोटि की होने के कारण प्रारम्भिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा दोनों को ही हानि पहुँची है।

सार्वजनिक जीवन या औद्योगिक क्षेत्र के किसी भी भाग पर दृष्टि डालते ही भारतीय माध्यमिक शिक्षा प्रणाली की दुर्बलता स्पष्ट दीखने लगती है। सार्वजनिक जीवन में नेताओं और अनुयायियों के बीच अन्तर देश के विभाजन के बाद हुई उथल-पुथल में बड़े ही दुःखद रूप में दृष्टिगोचर हुआ था। ज्ञान और उद्योग के क्षेत्रों में हमारे पास उच्च योग्यता वाले वैज्ञानिकों, इंजीनियरों और शिल्प विशेषज्ञों की संख्या बहुत थोड़ी है। हमारे देश में ऐसे कारीगर बड़ी संख्या में हैं, जो सम्भावित कुशलता और कार्य क्षमता की दृष्टि से दूसरे देशों के कारीगरों की अपेक्षा किसी प्रकार घटिया नहीं हैं। फिर भी एक भारतीय

कारीगर की उत्पादनशीलता उसी कोटि के अमेरिकन या यूरोपियन कारीगर की अपेक्षा सामान्यतया कम होती है। इसका कारण केवल यन्त्रीकरण की मात्रा का अन्तर ही नहीं है। ठीक एक ही ढंग की मशीनों पर भी भारतीय कारीगर मुकाबले में कम काम कर पाता है। इस अन्तर की एक मात्र युक्तिसंगत व्याख्या यही है कि हमारे यहाँ वैसे सुशिक्षित और कार्यक्षम मध्यवर्ती नेताओं का अभाव है, जो किसी कारखाने में फोरमैन या चार्जमैन के पद पर होते हैं।

हमारी माध्यमिक शिक्षा प्रणाली के मुख्य दोषों में से एक यह भी है कि इसके उद्देश्यों और कार्यक्षेत्र की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं की गयी। सामान्यतया इसे प्राथमिक शिक्षा को आगे जारी रखने जैसा ही समझा जाता है; या केवल कालिजों और विश्वविद्यालयों क. शिक्षा के लिए तैयारी के रूप में समझा जाता है। क्योंकि इसे प्रारम्भिक शिक्षा का ही और आगे विस्तार समझा जाता है, इसलिए बालक माध्यमिक विद्यालयों में इसलिए नहीं जाते, क्योंकि उनमें कोई विशेष योग्यता होती है, बल्कि इसलिए जाते हैं, क्योंकि उनके पास अपनी पढ़ाई को जारी रखने के लिए आर्थिक साधन होते हैं। इन्हीं कारणों से किशोर वय के बालक भी अपनी पढ़ाई माध्यमिक शिक्षा से आगे इसलिए जारी नहीं रखते, क्योंकि उनमें उस पढ़ाई के लिए आवश्यक योग्यता होती है, बल्कि इसलिए आगे पढ़ते हैं, क्योंकि उनके पास आवश्यक वित्तीय साधन होते हैं। क्योंकि माध्यमिक शिक्षा को अपने आप में एक ऐसी निश्चित मंजिल नहीं समझा जाता, जिसकी अपनी ही कुछ खास विशेषताएँ हों, इसलिए देश में माध्यमिक शिक्षा का सारा ढाँचा ही बहुत बेढंगा और अस्पष्ट-सा है।

माध्यमिक शिक्षा का कार्यक्षेत्र और इसके कार्यकलाप (फंक्शन) की स्पष्ट परिभाषा उस तरह नहीं की गयी, जिस तरह प्रारम्भिक और उच्चतर शिक्षा की गयी है। इसके कुछ इतिहासीय कारण हैं। अतीत काल में शिक्षा केवल थोड़े-से गिने-चुने लोगों का विशेषाधिकार थी; और ये लोग, जितना भी सम्भव हो, अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते थे। हमें कभी-कभी आश्चर्य होता है कि उस समय के न केवल विद्वान्, अपितु राजा और दूसरे वे लोग भी, जिनके पास कुछ खाली समय होता था, किस प्रकार इतना विश्वकोशों जैसा ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। उन्हें विभिन्न विषयों या ज्ञान के विभिन्न स्तरों में अन्तर करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी; और वे सब

प्रकार के ज्ञान को ग्रहण करने में जुटे रहते थे। क्योंकि उस समय शिक्षा को सत्य की खोज के रूप में समझा जाता था और इस बात का विचार नहीं किया जाता था कि इसके क्या-क्या व्यावहारिक उपयोग सम्भव हैं, इसलिए वे गिने-चुने लोग, जो इस प्रकार के बौद्धिक विकास में रुचि रखते थे, अपने ज्ञानवर्धन के लिए किसी प्रकार की मर्यादाओं (हदबन्दियों) को स्वीकार नहीं करते थे। वे सब प्रकार का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते थे। दूसरी ओर अधिकांश जनता अपने पेशों के लिए आवश्यक निपुणता मात्र प्राप्त करके सन्तुष्ट रहती थी और इस प्रकार की निपुणता प्राप्त करना सामान्यतया शिक्षा प्राप्त करना ही समझा जाता था। इसलिए शिक्षा का प्रारम्भिक, माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा के रूपों में विभाजन अपेक्षाकृत बहुत हाल की चीज है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों लगभग सभी देशों में माध्यमिक शिक्षा की सीमाएँ अनिश्चित-सी हैं। आजकल संयुक्त राज्य अमेरिका में माध्यमिक शिक्षा के कार्य क्षेत्र और कार्यकलाप के सम्बन्ध में काफी विवाद चल रहा है। कुछ विद्वानों का विचार है कि माध्यमिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य कृत्यात्मक (फंक्शनल) है; और इसका ध्येय यह है कि यह मनुष्य को अपनी रोजी कमाने में समर्थ बनाये। इसके विपरीत दूसरे विचारकों का ख्याल है कि यह माध्यमिक शिक्षा भी एक प्रकार की सामान्य शिक्षा ही है, जिसका उद्देश्य समाज को अच्छे नर और नारी प्रदान करना है।

भारत में माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों और कार्यक्षेत्र की परिभाषा कर पाना और भी अधिक कठिन क्यों रहा, इसके कुछ विशेष कारण हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली हमारे देश में उन्नीसवीं शताब्दी की प्रारम्भिक दशाब्दियों में दो मुख्य उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर प्रारम्भ की गयी थी। कुछ अंग्रेज शिक्षा-शास्त्री और सुधारक ऐसे थे, जिनका विचार था कि पश्चिमी विज्ञान और राजनीतिक विचारों के सम्पर्क में आने से भारत का पुनरुत्थान होगा। साथ ही कुछ ऐसे प्रशासक भी थे, जिनका उद्देश्य यह था कि देश में एक शिक्षित-वर्ग तैयार किया जाय, जो अंग्रेजी विचारों के अनुसार देश के प्रशासन को चलाने में सहायता करे। यह स्पष्ट था कि बहुत बड़े पैमाने पर अफसर इंग्लैंड से भारत में नहीं लाये जा सकते थे। उच्चतम पद अंग्रेजों के लिए सुरक्षित रखे गये, परन्तु प्रशासन के लिए दूसरे और तीसरे स्तर पर भी काम करने के

लिए बहुत बड़ी संख्या में कर्मचारियों की आवश्यकता थी। प्रशासकों की इच्छा थी कि इस प्रकार के स्थानों को भरने के लिए भारतीयों को प्रशिक्षण दिया जाय। इस प्रकार दोनों वर्गों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न थे, किन्तु वे दोनों एक ही उद्देश्य को पूरा करने में जुट गये; और वह उद्देश्य था भारत में पश्चिमी शिक्षा पद्धति का प्रारम्भ और प्रसार। इस पश्चिमी शिक्षा के प्रचार में कुछ भारतीय नेताओं ने भी बड़ी दिलचस्पी ली। क्योंकि उन्हें यह आशा थी कि इससे देश के पुनर्निर्माण में और देश को स्वाधीन कराने में सहायता मिलेगी। भारतीय नेताओं के इस उत्साह से भी पश्चिमी शिक्षा के प्रसार में बड़ी सहायता मिली।

इन सब लोगों के उद्देश्य भले ही कितने ही भिन्न क्यों न रहे हों, परन्तु वे सब एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। उनका विश्वास उस वस्तु में भी था, जिसे शिक्षा का अधःस्राव सिद्धान्त (परमिएशन थ्योरी) कहा जा सकता है। उनका विचार था कि यदि देश में कुछ थोड़े-से अल्प संख्यक शिक्षित लोग होंगे, तो उनको उदाहरण के रूप में देखकर लोगों को बड़ी संख्या में नये शिक्षण आदर्शों को अपनाने की प्रेरणा मिलेगी। इस प्रकार आधुनिक शिक्षा प्रणाली उच्च स्तरों से नीचे की ओर तब तक रिसती चली जायगी, जब तक वह सारे समाज में व्याप्त न हो जाय। भविष्य की शिक्षा नीति के सम्बन्ध में मैकौले के प्रसिद्ध स्मरण-लेख (मिनिट) के अनुसार उस समय की सरकार ने यह घोषणा की थी कि "ब्रिटिश सरकार का यह महान् उद्देश्य होना चाहिये कि भारत के देशवासियों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का प्रचार किया जाय और शिक्षा के प्रयोजन से नियत की गई सब निधियों का सर्वोत्तम उपयोग यह होगा कि उनका व्यय केवल अंग्रेजी शिक्षा के लिये किया जाय।" इस संस्ताव (रिजोल्यूशन) में यह भी कहा गया था कि इस प्रकार के विद्यालयों और कालेजों को जारी रखने की भी व्यवस्था की जानी चाहिये, जहाँ पुरानी, देशी ढंग की शिक्षा भी दी जाती हो। परन्तु बहुत शीघ्र ही यह बात उनकी केवल एक शुभ कामना का प्रदर्शन मात्र बनकर रह गयी। क्योंकि अंग्रेजी विद्यालयों की शिक्षा सरकारी और व्यापारी नौकरियों में प्रवेश के लिए पासपोर्ट-सा बन गयी थी, इसलिए इन विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए आने वाले विद्यार्थियों की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी। वस्तुतः इन नवशिक्षित

भारतीयों में से कुछ के मन में तो प्राचीन पौरस्त्य विद्याओं के प्रति मैकौले जैसी ही घृणा भी जाग उठी थी।

यह कहा जा सकता है कि, जहाँ तक सरकार का सम्बन्ध है, भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली १८५७ में विश्वविद्यालयों की स्थापना के साथ-साथ प्रारम्भ हुई। क्योंकि विश्वविद्यालय तब तक ठीक ढंग से काम नहीं कर सकते, जब तक कि माध्यमिक विद्यालयों से उत्तीर्ण होकर छात्र उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने न आयें, इसलिए अधिकाधिक मात्रा में माध्यमिक विद्यालय भी खोले गये; और क्रमशः इन माध्यमिक विद्यालयों के फलस्वरूप प्राथमिक शिक्षा का भी विस्तार हुआ। इस प्रकार यह दीखने लगा कि जैसे अधःस्राव सिद्धान्त (परमिएशन थ्योरी) आशानुकूल परिणाम उत्पन्न करने लगा है।

इसका एक फल यह हुआ कि शिक्षा के सारे क्षेत्र पर विश्वविद्यालयों का प्रभुत्व हो गया। माध्यमिक विद्यालय सारा ध्यान विश्वविद्यालयों के लिए छात्रों को तैयार करने पर देते थे। शिक्षा के माध्यम तक के रूप में मातृभाषा की बड़ी उपेक्षा की गयी। प्रारम्भिक या माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों को प्रशिक्षण देने के लिए बहुत कम प्रयत्न किया गया। पाठ्यक्रम किताबी (शास्त्रीय) हो गये; और उनका जीवन से कोई सम्बन्ध न रहा; क्योंकि विश्वविद्यालयों में व्यवसाय सम्बन्धी या शिल्प-सम्बन्धी पाठ्यक्रमों की कोई व्यवस्था नहीं थी। वस्तुतः मैट्रिकुलेशन परीक्षा के द्वारा विश्वविद्यालय न केवल माध्यमिक शिक्षा पर अपना प्रभुत्व जमा बैठे, अपितु प्राथमिक विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा पर भी प्रभाव डालने लगे। उन प्रारम्भिक दिनों में विश्वविद्यालय की उपाधि (डिग्री) लाभदायक नौकरी पाने की लगभग गारंटी ही बन गयी थी। इस तथ्य के कारण भी विश्वविद्यालयों का शिक्षा-क्षेत्र पर प्रभुत्व और भी पूर्ण हो गया।

माध्यमिक विद्यालयों पर विश्वविद्यालयों का बहुत अधिक प्रभाव होने का परिणाम यह हुआ कि इन विद्यालयों में बुद्धि के परिपोषण (डवलपमैन्ट) पर अनुचित रूप से बल दिया जाने लगा। बुद्धि का यह परिपोषण भी सम्पूर्ण रूप में नहीं था, बल्कि बुद्धि के केवल उसी पहलू पर बल दिया जाता था, जो स्मरण-शक्ति पर निर्भर रहता है, और अपने आपको भाषा सम्बन्धी योग्यता के रूप में प्रकट कर पाता है। माध्यमिक विद्यालयों में अध्यापन की प्रणाली केवल

थोड़े-से बालकों की रुचियों और अभियोग्यताओं (एप्टीट्यूड) के अनुकूल होती है। इसमें विभिन्न स्तरों पर कल्पना के, शारीरिक और अनुभूति संबंधी निपुणताओं के परिपोषण की अपेक्षा की गयी है। केवल उन थोड़े-से अल्प-संख्यक बालकों के सिवाय, जिनमें भाषा को सीखने की विशेष योग्यता होती है, शेष बालक प्रायः विद्यालय की शिक्षा को बहुत ही नीरस और सृजनशीलता से रहित अनुभव करते हैं। इसलिए विद्यालय उनकी सर्वोत्तम योग्यताओं को निखार नहीं पाता। वे विद्यालयों की परीक्षाओं को उत्तीर्ण अवश्य कर लेते हैं, परन्तु इन विद्यालयों में प्राप्त होने वाले अत्यन्त परिमित सुअवसरों का भी वे पूरा लाभ नहीं उठा पाते।

क्योंकि यह माध्यमिक शिक्षा जीवन से बहुत दूर हटी हुई है, इसलिए यह छात्रों को अपने नित्यप्रति के संसार को समझने की अन्तर्दृष्टि भी प्रदान नहीं कर पाती। जब वे पढ़-लिखकर विद्यालय से बाहर निकलते हैं, तो वे अपने आप को कुछ बेतुका-सा अनुभव करते हैं और समाज में आत्मविश्वास और सक्षमता के साथ अपना स्थान ग्रहण नहीं कर पाते। जीवन की वास्तविकताओं से शिक्षा के इस सम्बन्ध विच्छेद का एक परिणाम यह हुआ है कि व्यक्ति अपनी सामाजिक परिस्थितियों में अपने आपको कुछ अजनबी-सा अनुभव करने लगा है; और यह बात बड़ी खतरनाक है। इस शिक्षा के फलस्वरूप एक ऐसी बनावटी बाड़ खड़ी हो गयी है, जो इस शिक्षा प्राप्त करने वाले लोगों को शेष समाज से पृथक् कर देती है। इसका परिणाम यह होता है कि सामाजिकता की भावना भंग हो जाती है और फलस्वरूप समाज अलग-अलग बिखरे हुए टुकड़ों के रूप में विभक्त हो जाता है। व्यक्ति और समूह दोनों के ही जीवित रहने के लिए समाज की भावना आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि समूह उस दशा में रह ही नहीं सकता, जबकि उसके सदस्य यह अनुभव न करें कि इनका उस समूह से सम्बन्ध है या वे उस समूह के आत्मीय हैं। यह 'आत्मीयता' या 'सम्बन्ध होने' की भावना व्यक्ति के कल्याण के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है। जिस व्यक्ति को समूह का समर्थन प्राप्त न हो, उस पर निरन्तर एक बोझ और दबाव बना रहता है और वह बहुत जल्दी ही हताश होकर समाप्त हो जाता है। अन्ततोगत्वा, इस प्रकार की सामाजिक सहायता के अभाव के फलस्वरूप स्वयं व्यक्ति के अन्दर ही खंडीकरण (फ्रैगमेंटेशन) प्रारम्भ हो जाता है।

भारत में विद्यमान माध्यमिक शिक्षा प्रणाली के दोषों का विस्तृत विवरण यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है। इनमें से बहुत-से दोष तो सर्वविदित हैं और सैंकड़ों भाषण मंचों से अनेक बार दोहराये जा चुके हैं। फिर भी यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इन सब दोषों के होते हुए भी इस वर्तमान शिक्षा प्रणाली ने कुछ बड़े शानदार अध्यापक और बहुत-से उत्कृष्ट विद्यार्थी भी तैयार किये हैं। चाहे जो हो, वर्तमान शिक्षा प्रणाली की समूचे रूप में निन्दा करने का कोई लाभ नहीं है। किसी भी प्रणाली को सुधारने और उसका पुनर्गठन करने के लिए उसके दोषों को ढूँढ़ने और उनको हटाने के उपाय बनाने के लिए बड़े सावधान अध्ययन की आवश्यकता होती है। यह बात भी ध्यान रखनी चाहिये कि किसी भी शिक्षा प्रणाली को रातों रात नहीं बदला जा सकता। यहाँ कोई साफ सलेट नहीं है, जिस पर एकाएक कुछ भी लिखा जा सके; बल्कि यहाँ तो कहीं कुछ थोड़ा-सा नया जोड़ना होगा, और कहीं कुछ थोड़ा-सा मिटाना होगा; और इस प्रकार छोटे-छोटे संशोधनों की प्रक्रिया को जारी रखना होगा, हालाँकि अन्त में उनका कुल मिलाकर प्रभाव शायद यह हो कि पुरानी प्रणाली इतनी बदल जाय कि उसे पहचान पाना ही सम्भव न हो।

३

अब हम उन कुछ विशिष्ट समस्याओं पर विचार कर सकते हैं, जो इस समय भारत में माध्यमिक शिक्षा के सामने उपस्थित हैं। इन समस्याओं के कारण शिक्षा का पुनर्गठन और भी अधिक आवश्यक, और साथ ही और भी अधिक कठिन हो गया है। पहली समस्या तो यह है कि प्रारम्भिक शिक्षा और विश्वविद्यालय की शिक्षा के साथ माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध की नये सिरे से परिभाषा की जानी चाहिये, अर्थात् उसे स्पष्ट करके समझाया जाना चाहिये। यह समस्या सभी देशों में काफी कठिन बनी हुई है। इंग्लैंड में इस सम्बन्ध में विवाद अभी तक समाप्त नहीं हुआ है कि प्रारम्भिक वर्षों में माध्यमिक शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा के रूप में ही चलना चाहिये अथवा एक बिलकुल पृथक् धारा में चल पड़ना चाहिये। एक समय था, जब लोगों को ११ योग वर्ष की आयु (इलैवन प्लस) के जादू में दयनीय रूप से "अत्यधिक विश्वास था। मनो-वैज्ञानिकों के एक वर्ग का समर्थन प्राप्त करके शिक्षाशास्त्रियों का यह विश्वास

हो गया था कि ११ वर्ष की आयु में बालकों को उन दो वर्गों में बाँटा जा सकता है कि उनमें से कौन-से उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने के योग्य हैं और कौन-से नहीं। किन्तु अनुभव ने आशावादी लोगों के इस विश्वास की पुष्टि नहीं की। बुद्धिसूचक अंक (इन्टैलीजैन्स कोशियेन्ट) आजकल ऐसे नहीं माने जाते कि उनमें गलती हो ही न सके। इसलिए आजकल लोग पहले की अपेक्षा इस बात को कहीं अधिक स्वीकार करने लगे हैं कि प्रारम्भिक शिक्षा और माध्यमिक शिक्षा को विभक्त करने वाले अनिश्चितता के वर्षों में कुछ और ढील दी जाने की आवश्यकता है।

भारत में इन दोनों का ठीक-ठीक सीमा निर्धारण और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया है, क्योंकि यहाँ यह निश्चय कर लिया गया है कि प्रारम्भिक दशा में बुनियादी शिक्षा दी जायगी। बुनियादी शिक्षा में अध्यापन किसी दस्तकारी के माध्यम से किया जाता है। इस प्रकार की प्रविधि (टैकनीक) प्रारम्भिक स्तर पर कितनी ही उचित क्यों न हो, परन्तु माध्यमिक शिक्षा की दशा में किताबी (शास्त्रीय) और व्यावहारिक विषयों में परस्पर सह सम्बन्ध करने में अवश्य ही काफी कठिन समस्याएँ उपस्थित होंगी। इसके अतिरिक्त बुनियादी शिक्षा माध्यमिक शिक्षा के उस प्रारम्भिक भाग को ढाँप लेती है, जिसमें विविधीकरण (डाइवर्सीफिकेशन) और विभेदन (डिफरैंशियेशन) द्वारा शिक्षा में अव्यक्तता (ऐब्सट्रैक्शन) का सिद्धान्त प्रारम्भ किया जाता है। बुनियादी शिक्षा की एक विस्तृत और सूझबूझ युक्त धारणा द्वारा उन कठिनाइयों को हल करने में अवश्य ही सहायता मिलेगी। बुनियादी शिक्षा का ध्येय यह है कि वह जीवन का प्रतिबिम्ब बन जाय। जीवन में विविध प्रकार के तत्व अपने एक दूसरे से अन्तर को बनाये रखते हैं, और फिर भी अनुभव की एकता में वे परस्पर सह-सम्बद्ध दीख पड़ते हैं। इसलिए बुनियादी शिक्षा, जहाँ तक वह जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब है, वास्तविकता की विविधताओं को प्रदर्शित करेगी और माध्यमिक शिक्षा के संक्रमणकाल को अपेक्षाकृत सरल बनायेगी, कठिन नहीं।

एक विचारक वर्ग का यह आग्रह है कि पहले ८ वर्ष तक विद्यालय में अध्यापन बुनियादी ढंग पर होना चाहिये और वह सब बालकों के लिए एक जैसा होना चाहिये। उसके बाद तीन या चार साल तक माध्यमिक शिक्षा दी जानी चाहिये। किन्तु एक अन्य विचारधारा के समर्थकों का कथन है कि केवल

पहले ५ साल तक ही सब बालकों को समान ढंग की शिक्षा दी जानी चाहिये। उसके बाद विद्यार्थियों को दो मोटे भागों में विभक्त किया जा सकता है। जिन बालकों का इरादा उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने का है, वे उस विद्यालय में पढ़ेंगे, जिसे कनिष्ठ माध्यमिक विद्यालय (जूनियर सैकेंडरी स्कूल) कहा जा सकता है। जिन बालकों की शिक्षा प्रारम्भिक स्तर के बाद ही समाप्त हो जानी है, वे तीन साल तक वरिष्ठ बुनियादी पाठ्यक्रम (सीनियर बेसिक कोर्स) पूरा करेंगे। एक तीसरी विचारधारा के समर्थकों का कथन है कि इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त छात्रों का एक तीसरा वर्ग भी बनाया जाना चाहिये। वे अपनी शिक्षा चौदह वर्ष की आयु में समाप्त नहीं करेंगे, बल्कि उच्चतर ज्ञान सम्बन्धी पाठ्यक्रम के बजाय वे दो या तीन साल का व्यावसायिक पाठ्यक्रम पूरा करेंगे।

इस प्रकार के मामलों में जो एकमात्र सुरक्षित सिद्धान्त बनाया जा सकता है, वह यह है कि इस बात पर आग्रह रखा जाय कि इन सब विकल्पों में कोई बड़ा पक्का और अचल-अटल विभाजन न कर दिया जाय। यह आग्रह करना कि चौदह वर्ष तक प्रत्येक बालक को ठीक एक ही पाठ्यक्रम पढ़ना होगा, अनुचित प्रतीत होता है। इस बात के लिए प्रमाण विद्यमान हैं कि कुछ मामलों में रुचियों और अभियोग्यताओं की पृथकता ग्यारह वर्ष की आयु में, या कई बार उससे भी पहले दिखायी पड़ने लगती है। दूसरी ओर, इस बात पर आग्रह करना भी अनुचित प्रतीत होता है कि ग्यारह वर्ष की आयु में बालकों को इस प्रकार पृथक्-पृथक् विभक्त कर दिया जाय, कि जैसे ये तो रहीं भेड़ें, और ये रहीं बकरियाँ। इसलिए ग्यारह वर्ष की आयु के बाद विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था रहनी चाहिये। प्रारम्भिक शिक्षा के इन पिछले वर्षों में साथ-साथ किताबी शिक्षा, प्राविधिक (टैक्निकल या शिल्प सम्बन्धी शिक्षा) या व्यावसायिक ढंग के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था होनी चाहिये। ग्यारह वर्ष से चौदह वर्ष की आयु के बीच बालक को किसी भी समय एक पाठ्यक्रम को छोड़कर दूसरे पाठ्यक्रम को ले सकने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। वस्तुतः कुछ और आगे बढ़कर यहाँ तक कहा जा सकता है कि यदि किसी बालक या बालिका में चौदह वर्ष की आयु के बाद भी कुछ नयी अभियोग्यताएँ या रुचियाँ दीख पड़ें, तो उसको एक प्रकार के पाठ्यक्रम से हटा कर दूसरे प्रकार के पाठ्यक्रम की ओर परिवर्तित करने में कोई रुकावट नहीं होनी चाहिये।

जब एक बार बुनियादी शिक्षा और माध्यमिक शिक्षा का पारस्परिक सम्बन्ध ठीक-ठीक निर्धारित कर दिया जाय, तो उसके बाद माध्यमिक शिक्षा का विश्वविद्यालय की शिक्षा के साथ सम्बन्ध निश्चित कर पाना अपेक्षाकृत सरल होगा। माध्यमिक शिक्षा अपने आप में एक पूर्ण मंजिल होनी चाहिये। माध्यमिक शिक्षा को केवल उन व्यवसायों को छोड़कर, जिनके लिए ऊँची वैज्ञानिक, प्राविधिक या पेशे सम्बन्धी प्रशिक्षण की आवश्यकता है, अन्य सब व्यवसायों के लिए जीवन की तैयारी के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये। माध्यमिक शिक्षा के विभिन्न प्रकारों में आपस में समानता भी रहनी चाहिये, जिससे जो विद्यार्थी इच्छुक और समर्थ हों, वे किसी भी एक पाठ्यक्रम से किसी भी दूसरे पाठ्यक्रम की ओर परिवर्तित किये जा सकें, अथवा उच्चतर शिक्षा के लिए उचित मंजिल तक पहुँच सकें।

भारत में माध्यमिक शिक्षा के सम्मुख एक और बड़ी समस्या भाषाओं की विविधता के कारण उत्पन्न हो गयी है। अभी हाल तक भी माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली की एक मुख्य दुर्बलता यह थी कि इसमें अध्यापन के माध्यम के रूप में अंग्रेजी का उपयोग किया जाता था। इसके फलस्वरूप अधिकांश विद्यार्थियों पर एक अनुचित बोझ पड़ जाता था और उनके पूर्ण परिपोषण (डेवलपमैन्ट) में बाधा पड़ती थी। साथ ही इसके फलस्वरूप शिक्षितों की अल्प संख्या और उन लोगों की विशाल बहुसंख्या के बीच, जिन्हें कि विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला था, खाई चौड़ी और चौड़ी होती जाती थी।

वर्तमान शताब्दी की चौथी दशाब्दी के शुरू से अध्यापन के माध्यम के रूप में किसी भारतीय भाषा का प्रयोग करने की ओर परिवर्तन अधिकाधिक मात्रा में होता गया है। स्वाधीनता के बाद इस प्रक्रिया की गति और तीव्र हो गयी है और आजकल माध्यमिक विद्यालयों में लगभग सभी जगह अध्यापन का माध्यम बालक की मातृभाषा ही है। परन्तु इसके कारण दो नयी समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। पहली समस्या तो यह है कि विद्यालयों में अध्यापन के माध्यम और विश्वविद्यालयों में अध्यापन के माध्यम के बीच आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। जो छात्र माध्यमिक विद्यालय में किसी भारतीय भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करते हैं, उनके सम्मुख कालिजों और विश्वविद्यालयों में अध्यापन के माध्यम के रूप में एकाएक अंग्रेजी आ खड़ी होती है। बहुत बार वे कालिजों में

दिये जाने वाले भाषणों को समझ पाने और वहाँ मिलने वाली शिक्षा से पूरा लाभ उठा पाने में असमर्थ रहते हैं। इसके फलस्वरूप बाधित होकर विश्वविद्यालयों के प्रमापों (स्टैन्डर्ड) को भी नीचे गिरा जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि कालिज के तरुण छात्रों में अनुशासनहीनता का एक कारण यह भी है कि वे उन भाषणों को समझ पाने में असमर्थ रहते हैं, जो उन्हें कालिजों में विवश होकर सुनने पड़ते हैं।

दूसरी कठिनाई भारतीय भाषाओं की अनेकता के कारण उत्पन्न होती है। संविधान में चौदह भाषाओं को मान्यता दी गयी है। इनमें से तेरह भाषाएँ ऐसी हैं, जो लाखों लोगों द्वारा बोली जाती हैं और जिनमें साहित्य की सुदीर्घ और समृद्ध परम्परा विद्यमान है। इसलिए अध्यापन के माध्यम के रूप में प्रयोग किये जाने का उनका दावा अकाट्य है। परन्तु अध्यापन के माध्यम के रूप में मातृभाषा के उपयोग से जो लाभ होता है, वह एक ही देश में अध्यापन के अनेक माध्यमों के कारण होने वाली हानियों से सन्तुलित होकर बराबर हो जाता है। भाषाओं की अनेकता भारत की राष्ट्रीय एकता की भावना को दुर्बल कर दे सकती है। इस अनेकता के कारण अध्यापकों और विद्यार्थियों का एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में स्थानान्तरण निश्चित रूप से कठिन हो जाता है। विदेशी भाषा के अनेक दोष होते हुए भी अंग्रेजी ने भारत को दो बड़े लाभ पहुँचाये हैं। इसने देश के लोगों में एकता उत्पन्न करने में और उनमें एक सामान्य राष्ट्रीय चेतना जगाने में बड़ी सहायता की है। अंग्रेजी के कारण ही यह सम्भव हो सका है कि अध्यापकों और छात्रों को भारत के किसी भी एक कोने से उठा कर दूसरे कोने में भेज दिया जाय; और फिर भी उन्हें कोई कठिनाई या अजनबीपन अनुभव न हो।

भाषाओं की समस्या पर भारतीय शिक्षाशास्त्रियों ने बड़ी सावधानी से विचार किया। माध्यमिक शिक्षा आयोग ने भी इस समस्या पर बहुत ध्यान दिया था। इस सम्बन्ध में जो कुछ वाद-विवाद हो चुके हैं, उनसे निम्नलिखित ढंग का समाधान निकलता प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है कि सारे प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा काल में अध्यापन का माध्यम मातृभाषा ही होनी चाहिये। विश्वविद्यालयों में अध्यापन के माध्यम के सम्बन्ध में मतभेद हैं, परन्तु धीरे-धीरे इस माध्यम के लिए प्रादेशिक भाषा का दावा

जोरदार होता जा रहा है। भारत की एकता को बनाये रखने के लिए हिन्दी, जो कि भारतीय संघ की अधिकृत भाषा है, कनिष्ठ बुनियादी शिक्षाकाल के अन्त में प्रारम्भ की जानी चाहिये और कम से कम तीन साल तक एक अनिवार्य भाषा के रूप में पढ़ायी जानी चाहिये। इस शिक्षाकाल के बाद भी हिन्दी के अध्ययन के लिए सुविधाएँ, और वस्तुतः प्रोत्साहन, प्रदान किया जाना चाहिये। आधुनिक वैज्ञानिक विचारों की वाहक और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्पर्क स्थापन के माध्यम के रूप में अंग्रेजी को भी कनिष्ठ बुनियादी शिक्षाकाल के बाद प्रारम्भ किया जाना चाहिये और इसके लिए सुविधाएँ प्रदान करके अंग्रेजी को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। किन्तु साथ ही यह सिद्धान्त भी सामने रहना चाहिये कि एक ही वर्ष में दोनों भाषाएँ प्रारम्भ न की जायँ। जो विद्यार्थी माध्यमिक शिक्षा से भी आगे जाना चाहें, उनके लिए अंग्रेजी और हिन्दी दोनों ही अनिवार्य विषय होने चाहियें। इसके अतिरिक्त, जिन लोगों को भाषाएँ सीखने में विशेष रुचि हो, या जिनकी उसमें विशेष अभियोग्यता हो, उन्हें किसी एक प्राचीन भाषा का अध्ययन करने की सुविधा भी होनी चाहिये।

यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि इस प्रकार का प्रबन्ध होने के बाद भाषाओं की शिक्षा का नमूना क्या होगा। जो बालक प्रारम्भिक शिक्षा से आगे नहीं पढ़ना चाहते, वे केवल अपनी मातृभाषा का अध्ययन करेंगे। जो लोग माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, या उससे भी आगे जाना चाहते हैं, उन्हें कम से कम दो अन्य भाषाएँ, हिन्दी या अगर किसी की मातृभाषा हिन्दी है, तो उसे कोई एक अन्य आधुनिक भारतीय भाषा, और अंग्रेजी अनिवार्य विषयों के रूप में सीखनी पड़ेंगी। जिन बालकों की भाषाओं के अध्ययन में विशेष रुचि है, वे अपनी इच्छा से किसी अतिरिक्त भाषा का भी अध्ययन कर सकेंगे। यहाँ यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा पाने वाले अधिकांश विद्यार्थियों को तीन भाषाएँ सीखने के लिए मजबूर करना उनके ऊपर अनुचित बोझ डालना होगा। यदि उन बालकों को इन तीन भाषाओं के साहित्य का अध्ययन करने को विवश किया जाता, तो सचमुच ही इस आक्षेप का उत्तर दे पाना लगभग असम्भव हो जाता। परन्तु स्थिति यह है कि इनमें से अधिकांश विद्यार्थी तो दो भाषाओं का केवल कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करेंगे। साथ ही

भारत की विशेष परिस्थितियों में एकमात्र यही समाधान दिखायी पड़ता है। बेल्जियम, फ्राँस, स्विटजरलैंड और रूस जैसे देशों में प्राप्त हुए अनुभव से यह बात सिद्ध हो रही है कि जहाँ उचित पद्धतियाँ अपनायी जाती हैं, वहाँ तीन भाषाएँ सीखना कोई अनुचित बोझ नहीं रहता।

भा तीय माध्यमिक शिक्षा की एक और विशेष समस्या है विद्यालयों के पाठ्यक्रम में प्राविधिक (टैकनिकल) और व्यावसायिक (वोकेशनल) विषयों का उचित स्थान नियत करना। प्राचीन परम्परा के अनुसार भारत में व्यावहारिक पाठ्यक्रम की अपेक्षा बौद्धिक और अव्यक्त विषयों को अधिक ऊँचा स्थान दिया जाता रहा है। जातियों का ऊँच-नीच का वर्गीकरण—जिसमें सबसे ऊँचा स्थान ब्राह्मण को दिया गया था—इस बात का पर्याप्त प्रमाण है। भ.रत में शारीरिक श्रम के गौरव और प्रतिष्ठा को सदा पूरी तरह अनुभव नहीं किया गया। भारत की वर्ण-व्यवस्था के साथ अंग्रेजों की वर्ग-व्यवस्था के सम्पर्क का प्रभाव भी इस मनोवृत्ति को सुधारने में सहायक नहीं हुआ। एक समय था, जबकि भद्र पुरुष उस व्यक्ति को कहा जाता था, जो अपने हाथ से कोई काम न करता हो। अंग्रेजों के शासन काल में जो किताबी शिक्षा प्रारम्भ की गयी थी, उसके फल-स्वरूप पढ़े-लिखे लोगों को यह निश्चय रहता था कि उन्हें कोई न कोई ऐसी नौकरी मिल जायगी, जिसमें वे साफ-सफेद कपड़े पहनकर रह सकेंगे। इसका परिणाम यह हुआ कि शारीरिक श्रम के प्रति उनकी अरुचि और भी बढ़ गयी। इस कारण यह और भी अधिक आवश्यक हो गया है कि भारत में माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन में प्राविधिक और व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की उपेक्षा न होने पाये।

उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रों के चुनाव के सम्बन्ध में अपनाये जाने वाले सिद्धान्तों पर सभी शिक्षाशास्त्रियों को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि इंग्लैंड में ग्यारह वर्ष की आयु में बालकों को विभिन्न पाठ्यक्रमों के समूहों में बाँट देने पर चिन्ता व्यक्त की जा रही है। भारत जैसे देश में, जहाँ शिक्षा की सुविधाएँ आवश्यकता की तुलना में दु:खद रूप से अपर्याप्त हैं, बालकों के चुनाव का प्रश्न विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है। माध्यमिक विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने वाले प्रत्येक विद्यार्थी को एक दृष्टि से कुछ विशेष अधिकार (प्रिविलेज)-सा प्राप्त हो जाता है; और

हमें इस विषय में बड़ा सावधान रहना चाहिये कि यह विशेष अधिकार योग्यता के आधार पर ही दिया जाय। क्योंकि विद्यालयों में छात्रों के लिए स्थान बहुत कम होते हैं, इसलिए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि एक नियत योग्यता वाले बालक उस अवसर से वंचित न रह जायँ, जो उन्हें प्राप्त होना चाहिये; और दूसरे, वे बालक जो स्पष्ट रूप से अनुपयुक्त हैं, विद्यालयों में छात्रों के थोड़े-से स्थानों को घेर कर न बैठ जायँ।

यह स्वीकार करना होगा कि अब तक भारत में छात्रों का समुचित चुनाव नहीं होता रहा। विद्यार्थी माध्यमिक विद्यालयों में केवल इसलिए भरती हो जाते थे, क्योंकि उनके परिवार उनकी पढ़ाई-लिखाई का आवश्यक खर्चा दे पाने की स्थिति में होते थे और केवल इसीलिए वे अपनी पढ़ाई माध्यमिक शिक्षा से आगे भी जारी रख पाते थे। इस प्रकार भारत ऐसे अनेक लोगों की सेवाओं से वंचित रहा, जो पढ़-लिखकर देश के अच्छे नेता बन सकते थे, जबकि उनके स्थान पर घटिया किस्म के लोग ऊँची शिक्षा प्राप्त करते रहे। यह स्थिति और भी दयनीय इसलिए हो उठी है, क्योंकि देश में अच्छे विद्यालयों की संख्या बहुत कम है; और फिर भी इन विद्यालयों में बालकों का प्रवेश केवल सम्पन्न वर्ग तक सीमित है; और इस बात का ध्यान बिल्कुल नहीं रखा जाता कि विद्यार्थी में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की क्षमता है भी या नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि राष्ट्रीय दृष्टि से दुहरा अपव्यय होता है। बुद्धि और योग्यता को पनपने का अवसर नहीं मिलता जबकि देश के स्वल्प साधनों को वे लोग चाटे जा रहे होते हैं, जो उनका पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सकते। अब बिल्कुल हाल में आकर यह प्रयत्न शुरू किया गया है कि शिक्षा प्राप्त करने का अवसर योग्यता के आधार पर दिया जाय।

४

अब यह बात अधिकाधिक रूप में स्पष्ट हो चुकी है कि यदि माध्यमिक शिक्षा को अपना उद्देश्य पूरा करना है, तो इसका आमूल-चूल पुनर्गठन करना आवश्यक है। इसीलिए कम से कम पिछले ५० वर्षों से इसके सुधार के लिए निरन्तर प्रयत्न किये जा रहे हैं। नव जाग्रत भारत की आवश्यकताओं के उपयुक्त एक सृजनात्मक और नये ढंग की माध्यमिक शिक्षा प्रणाली तैयार करने का सबसे

महत्त्वपूर्ण प्रयोग रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था। शान्तिनिकेतन में उनके विद्यालय में यह उद्देश्य सम्मुख रखा गया था कि विभिन्न प्रकार की सृजनात्मक गतिविधियों की व्यवस्था करके बालकों के पूर्ण विकास का अवसर दिया जाय। उस समय की शिक्षा की, जो मुख्यरूप से किताबी शिक्षा थी, प्रतिक्रिया के रूप में उन्होंने यह चेष्टा की कि बालकों की योग्यता का प्रकृति के घनिष्ठ और निरन्तर सम्पर्क द्वारा विकास किया जाय। बंधी दिनचर्या और पाठ्यक्रम को घटाकर न्यूनतम कर दिया गया और बालक की सूझ-बूझ और मौलिकता को बढ़ाने के लिए यथासम्भव अधिकतम अवसर प्रदान किया गया। यद्यपि यह विद्यालय मूलतः भारतीय परम्परा के अनुसार चलाया जा रहा था, फिर भी इसमें आधुनिक युग की भावना का भी पूरा ख्याल रख गया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्तिनिकेतन की, जो बाद में विश्वभारती बन गया, पूर्व और पश्चिम के वास्तविक संगम स्थल के रूप में कल्पना की थी। उन्होंने अपनी रचना 'कवि का विद्यालय' में अपने इस परीक्षण का बहुत ही अद्भुत विवरण प्रस्तुत किया है। यहाँ इतना उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा कि इस शताब्दी के प्रारम्भ से भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में हुए लगभग प्रत्येक नये विकास का कुछ न कुछ श्रेय उस कार्य को है, जो शान्तिनिकेतन में प्रारम्भ किया गया था।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में प्रारम्भ किये गये बुनियादी शिक्षा के महान परीक्षण के कारण भी शिक्षा के सम्बन्ध में पुनर्विचार की आवश्यकता पड़ी। बुनियादी शिक्षा ने प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में भारतीय विचारों में बड़ा परिवर्तन कर दिया है और अब इसके प्रभाव माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर भी अनुभव होने लगे हैं। गांधी जी ने शिक्षा की परिभाषा करते हुए कहा था कि "शिक्षा वह है, जो सच्ची स्वतन्त्रता देती है।" उनके दृष्टिकोण से मूलभूत स्वतन्त्रता है —भय से स्वतन्त्र हो जाना; और यह भय से मुक्ति की दशा तब तक प्राप्त नहीं हो सकती, जबतक मनुष्य अभावों से मुक्ति प्राप्त न कर ले। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य सब लोगों को इस अभावग्रस्तता से स्वतन्त्र कराना है; और इस उद्देश्य को वह इस प्रकार पूरा करना चाहती है कि उन्हें अपने जीवन की बड़ी-बड़ी और तीव्र आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ बना दे और साथ ही उनमें एक ऐसी नयी सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि उत्पन्न कर दे, जिसमें इस प्रकार की आवश्यकताएँ सच्चे अर्थों में मानवीय साधनों द्वारा

पूरी हो सके। बुनियादी शिक्षा की मंजिल को पूरा कर लेने के बाद विद्यार्थियों में इतनी क्षमता आ जायगी कि वे अपने जीवन की व्यवस्था काफी कुछ सक्षमता और आत्मविश्वास के साथ-साथ कर सकें; इस शिक्षा से उनमें सहकारिता की आदतें भी पड़ जायंगी। बुनियादी शिक्षा १४ वर्ष की आयु में समाप्त हो जायगी; इसलिए यह स्पष्ट है कि जीवन के लिए अनेक बड़ी महत्वपूर्ण वस्तुएँ बुनियादी विद्यालय के कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं की जा सकतीं। पहली बात तो यह है कि १४ वर्ष की आयु तक बालक मानसिक और शारीरिक दृष्टि से जीवन के अनेक सबसे महत्वपूर्ण पाठों को आत्मसात् करने के लिए तैयार नहीं हुआ होता। एक और बात यह भी है कि उस आयु में प्राप्त ज्ञान और कौशल इतना नया होता है कि वह बालक के जीवन का आवश्यक अंग नहीं बन पाता।

उत्तर बुनियादी शिक्षा (पोस्ट बेसिक एजूकेशन) का उद्देश्य यह नियत किया गया है कि यह किशोर बालक को 'बुद्धिमत्तापूर्ण पितृत्व और मातृत्व तथा सृजनशील नागरिकता' के लिए तैयार करती है। इस शिक्षा का उद्देश्य यह है कि मध्यमिक शिक्षा में भी किसी दस्तकारी का उपयोग किया जाय; और इस प्रकार एक ओर तो यह कार्य और ज्ञान के बीच के अन्तर को समाप्त कर दे; और दूसरी ओर शिक्षा को आर्थिक दृष्टि से और अधिक आत्मनिर्भर बना दे। इस सारी शिक्षा में अधिक जोर सामाजिक सम्बन्धों पर दिया गया है; और इसका लक्ष्य यह है कि व्यक्तियों में सहकारी गतिविधि की ऐसी आदतें परिपुष्ट कर दी जायँ, जिनसे समाज के सब सदस्यों की शारीरिक, बौद्धिक, ललित और नैतिक आवश्यकताएँ उनके अपने कार्य द्वारा ही पूर्ण हो सकें।

शिक्षा के सभी स्तरों पर पुनर्गठन के कार्यक्रमों को १९३७ में प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना होने पर नया प्रोत्साहन मिला। तब से ले कर, और विशेषरूप से १९४७ के बाद से राज्य सरकारें भी विभिन्न प्रकार के सुधार प्रारम्भ करने में बड़ी सक्रिय दिलचस्पी ले रही हैं। अनेक राज्यों ने अपनी-अपनी समितियाँ नियुक्त कीं, जिन्होंने माध्यमिक शिक्षा के सुधार और उन्नति के लिए उपाय सुझाये। इस प्रकार प्रादेशिक या अनुभागीय (सैक्शनल) परिमाप (सर्वे) तो अनेक किये गये, परन्तु समूचे देश के लिए कोई सर्वांग सम्पूर्ण

परिमाप नहीं किया गया था। यह परिमाप अन्त में माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में नियुक्त किये गये 'लक्ष्मण स्वामी-आयोग' ने किया, जिसने अपनी रिपोर्ट १९५३ में प्रस्तुत की।

इस आयोग ने जो अनेक महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की थीं, उनमें से सबसे महत्वपूर्ण स्थान बहुप्रयोजन विद्यालयों की स्थापना की सिफारिश को दिया जा सकता है। भारतीय माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए इस सिफारिश का कितना अधिक महत्व है, इस सम्बन्ध में जितना कहा जाय कम ही है। जब तक हमारे यहाँ ऐसे विद्यालय न हों, जिनमें विविध प्रकार के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था हो, तबतक माध्यमिक शिक्षा अपने मुख्य लक्ष्यों को पूर्ण नहीं कर सकती। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, वर्तमान शिक्षा प्रणाली का एक बड़ा दोष यह है कि यह केवल एकमुखी है। माध्यमिक विद्यालयों में पढ़ने वाले सभी छात्रों को कुछ कम या कुछ अधिक एक ही नमूने की पढ़ाई पढ़नी पड़ती है। इससे उनके विकास में बाधा पड़ती है; क्योंकि यह स्पष्ट है कि एक ही ढंग की पढ़ाई सबके लिए उपयुक्त नहीं हो सकती। छात्रों का मोटे तौर पर इस ढंग से विभाजन किया जा सकता है कि कुछ छात्र ऐसे होंगे, जिनका झुकाव व्यावहारिक विषयों की ओर होगा; कुछ की रुचि गणित और विज्ञान में होगी; कुछ को किसी न किसी ललित कला में रुचि होगी और कुछ का रुझान साहित्य की ओर होगा। भारत में, और शायद दूसरे देशों में भी, माध्यमिक शिक्षा के सामने समस्या यह है कि छात्रों के लिए विविध पाठ्य क्रमों की व्यवस्था की जाय और साथ ही कुछ थोड़े-से विषय सबको समान रूप से पढ़ाये जायँ।

माध्यमिक शिक्षा बालक और बालिकाओं को उस समय प्राप्त हो रही होती है, जब कि वे बाल्यावस्था से युवावस्था में प्रवेश कर रहे होते हैं। इस प्रकार किशोर अवस्था की सारी अवधि माध्यमिक शिक्षा के काल में आ जाती है। बाल्यावस्था के विशिष्ट गुण कुल मिलाकर काफी स्पष्ट होते हैं और एकरूप होते हैं। इसलिए बालकों के साथ व्यवहार करना अपेक्षाकृत कहीं सरल और निरापद है। उन्हें एक निश्चित मात्रा में ज्ञान या जानकारी दी जानी होती है, और विचार तथा क्रिया के सम्बन्ध में कुछ निश्चित आदतों का प्रशिक्षण देना होता है। बड़े आदमियों अर्थात् वयस्क व्यक्तियों के साथ व्यवहार करते हुए भी हम अपेक्षाकृत काफी सुनिश्चित रुख रख सकते हैं, क्योंकि उनकी आदतें और

प्रवृत्तियाँ तुलना में अधिक पक्की हो चुकी होती हैं। परन्तु किशोर आयु के बालक न तो बालक ही होते हैं, और न वयस्क ही। और भी अधिक परेशानी की बात यह होती है कि वे आश्चर्यजनक तीव्रता से एक दौर से दूसरे दौर में जा रहे होते हैं। उस समय वे ऐसे शारीरिक, मानसिक और संवेगात्मक परिवर्तनों में से गुजर रहे होते हैं, जिनका व्यक्ति और समाज दोनों के लिए ही बहुत अधिक महत्व होता है। अतः उनके साथ बड़ी सहानुभूति, सावधानी और सूझ-बूझ से बर्ताव किया जाना चाहिये। इसलिए माध्यमिक शिक्षा में प्रारम्भिक शिक्षा की पद्धतियों को जारी रखने या विश्वविद्यालय की शिक्षा की पद्धतियों को प्रारम्भ कर देने का प्रयत्न खतरों से खाली नहीं है।

क्योंकि किशोरावस्था के प्रारम्भ में ही रुचियों और अभियोग्यताओं की विभिन्नता दिखायी पड़ने लगती है, इसलिए माध्यमिक विद्यालयों में किशोर बालकों की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने की व्यवस्था होनी चाहिये। प्रारम्भिक शिक्षा की प्रणाली काफी कुछ एक रूप रहे, इसके लिए कुछ न कुछ उचित कारण बतलाये जा सकते हैं। सभी बालकों को सब आवश्यक बुनियादी निपुणताएँ प्राप्त करनी ही चाहियें। इसके अतिरिक्त जीवन की इस प्रारम्भिक दशा में सामान्यतया उनकी अभियोग्यताओं में कोई बहुत अन्तर नहीं होता; परन्तु जब बालक बड़े होकर किशोर बन जाते हैं, तो इस परिस्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाता है। रुचियों और अभियोग्यताओं में अन्तर होने के साथ ही सब बालकों के लिए एकरूप शिक्षा की बात समाप्त हो जाती है। प्रत्येक किशोर को विद्यालय में कुछ न कुछ वस्तु ऐसी मिलनी चाहिये, जो उसकी सुप्त योग्यताओं को जाग्रत करके बाहर ला सके। ऐसा करने का एकमात्र उपाय यह है कि अधिकाधिक विविध प्रकार का ऐसा पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया जाय, जिसमें यह भरोसा रहे कि विद्यालय के प्रत्येक छात्र को अपनी रुचि की कुछ न कुछ वस्तु मिल सकेगी।

बहुप्रयोजन विद्यालय की स्थापना इस विशेष आवश्यकता को पूरा करने के लिए की गयी है। वैसे तो माध्यमिक विद्यालय के सुधार की आवश्यकता हर एक हालत में होती, परन्तु यह आवश्यकता इसलिए और भी तीव्र हो उठी है, क्योंकि सारे देश में प्रारम्भिक शिक्षा के लिए बुनियादी शिक्षा प्रणाली को लक्ष्य स्वीकार कर लिया गया है। बुनियादी विद्यालयों के छात्र शास्त्रीय

(ऐकैडैमिक) निपुणता दूसरी सामाजिक दृष्टि से उपयोगी गतिविधियों के सिलसिले में ही प्राप्त करेंगे। इसलिए विशुद्ध साहित्यिक ढंग की माध्यमिक शिक्षा उनके लिए उपयुक्त नहीं हो सकती। उन्हें यह आशा करने का अधिकार है कि प्रारम्भिक शिक्षा के काल में उन्हें जो सिद्धान्त सिखाये गये थे, माध्यमिक शिक्षा काल की अवधि में उन्हीं को कुछ और विस्तृत रूप दिया जायगा। छात्रों के लिए और अधिक विस्तृत चुनाव का अवसर होने का अर्थ यह होगा कि कुछ चुनी हुई दिशाओं में पहले की अपेक्षा और अधिक विकास किया जा सके। केवल इस प्रकार के प्रबन्ध द्वारा ही किसी विषय में विशेषज्ञता प्राप्त करने की, जिसकी कि हम विश्वविद्यालयों तथा उच्चतर शिक्षा की अन्य संस्थाओं में आशा करते हैं, पक्की आधारशिला तैयार की जा सकती है।

कुछ देशों में विविध प्रकार के पाठ्यक्रमों की इस आवश्यकता को विभिन्न प्रकार के माध्यमिक विद्यालय स्थापित करके पूरा किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि अमेरिका जैसे देश तक में भी, जहाँ के लोग श्रम के गौरव को पूरी तरह अनुभव करते हैं, यह परीक्षण पूरी तरह सफल रहा हो। अनेक बार ऐसा सुझाव दिया गया है कि अलग विद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले प्राविधिक या अन्य व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को कुछ हीनता की दृष्टि से देखा जाता है। भारत जैसे देश में, जहाँ कि पुरानी परम्परा के अनुसार बौद्धिक श्रम को शारीरिक श्रम की अपेक्षा कहीं ऊँचा माना जाता है, विभिन्न विद्यालयों में अलग-अलग प्रकार के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करने का परिणाम यही होता कि शारीरिक श्रम के प्रति सामाजिक अरुचि और भी पक्की हो जाती। शिल्प सम्बन्धी कृषि सम्बन्धी या अन्य दूसरे व्यवसायों से सम्बद्ध पाठ्यक्रमों की उसी विद्यालय में और उन्हीं दशाओं में व्यवस्था की जाय, जिनमें विशुद्ध साहित्य सम्बन्धी पाठ्यक्रमों की व्यवस्था हो। यह बात इन दोनों प्रकार के अनुशासनों के समान मूल्य का दृश्यमान प्रतीक बन सकेगी।

बहुप्रयोजन विद्यालय इस प्रकार तिहरे उद्देश्य को पूरा करने के लिए बनाये गये हैं। उनमें विविध अभियोग्यता और रुचियों वाले छात्रों के लिए विविध प्रकार के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था रहेगी। वे देश के कृषि सम्बन्धी, औद्योगिक तथा प्राविधिक कार्यक्रमों के लिए प्रशिक्षित और कार्यक्षम कर्मचारी प्रदान करने में भी सहायता देंगे; और इन दोनों से भी अधिक महत्वपूर्ण बात

यह है कि वे सामाजिक दृष्टिकोण में एक ऐसा परिवर्तन ला देंगे, जिसमें श्रम के गौरव का समुचित सम्मान किया जायगा।

बहुप्रयोजन विद्यालयों से यह आशा की जाती है कि वे विविध रुचियों और अभियोग्यता वाले छात्रों के लिए माध्यमिक शिक्षा को महत्वपूर्ण और सृजनशील बना देंगे। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक और आवश्यक उपाय यह है कि विद्यालयों में सह पाठ्यक्रम (को क्यूरीक्यूलर)-गतिविधियों को बढ़ाया जाय। इस प्रकार की सह पाठ्यक्रम गतिविधियों का शिक्षा पर सीधा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वे तरुण छात्रों की अतिरिक्त ऊर्जा (सरप्लस ऐनर्जी) को बाहर प्रकट होने के लिए सृजनात्मक मार्ग प्रस्तुत करती हैं। ये गतिविधियाँ तरुण व्यक्तियों को विशेष प्रकार की कारीगरियों और दस्तकारियों में प्रशिक्षण देने का साधन भी हैं। यह बात सर्व विदित है कि व्यक्ति अपनी रुचि के काम को पूरा करने के लिए जितनी कठिनाई उठा सकता है, उतनी अपने सामान्य कार्य के लिए कभी नहीं उठा सकता। सह पाठ्यक्रम गतिविधियाँ चरित्र और नेतृत्व के गुणों के परिपोषण के लिए भी बहुत अच्छे अवसर प्रदान करती हैं। इस प्रकार उनका विद्यालय के अनुशासन पर अनेक रूपों में प्रभाव पड़ता है। अनुशासन की समस्याएँ तभी उठ खड़ी होती हैं, जबकि विद्यार्थियों को उस काम में कोई दिलचस्पी न हो, जो उन्हें दिया गया है और वे पूरी तरह कार्यव्यस्त न हों। विभिन्न प्रकार की सह पाठ्यक्रम-गतिविधियाँ उन्हें व्यस्त रखेंगी और उन्हें सृजनात्मक आत्म अभिव्यक्ति के मार्ग दिखायेंगी और साथ ही साथ विद्यालय की सेवाओं को सुधारने में भी महत्वपूर्ण सहायता देंगी।

शारीरिक श्रम के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की दृष्टि से बहुप्रयोजन विद्यालय के महत्व का पहले उल्लेख किया जा चुका है। पाठ्यक्रम में किसी दस्तकारी को अनिवार्य विषय के रूप में रखने का उद्देश्य भी इसी लक्ष्य को पूरा करना है। दस्तकारी पर जोर देने का लक्ष्य यह है कि शारीरिक श्रम के प्रति विद्यमान सामान्य अरुचि समाप्त हो और छात्रों में श्रम के गौरव के प्रति एक नयी सम्मान की भावना परिपुष्ट हो। दस्तकारी का प्रशिक्षण दोनों दृष्टियों से मूल्यवान है; शिक्षणात्मक दृष्टि से भी, और इस दृष्टि से भी, कि यह विद्यार्थी को जीवन के लिए तैयार करने में सहायता देता है। प्रारम्भिक शिक्षा

के काल में दस्तकारी के प्रशिक्षण का उद्देश्य मुख्य रूप से बालक में अनुभूति की सूक्ष्मता और निपुणता को परिपुष्ट करना और स्थापित करना रहता है। उसके श्रम द्वारा तैयार की गयी वस्तुओं का आर्थिक दृष्टि से शायद ही कोई मूल्य होता हो, परन्तु माध्यमिक विद्यालय के छात्रों के काम द्वारा उनकी अपनी अनेक आवश्यकताएँ पूरी हो सकनी चाहियें और उनके द्वारा तैयार की गयी वस्तुएँ सामान्यतया समाज में स्वीकार की जा सकनी चाहियें। इस प्रकार माध्यमिक विद्यालय के पाठ्यक्रम में किसी दस्तकारी को सम्मिलित कर लेने से दुहरा प्रयोजन सिद्ध होगा। यह विद्यार्थी के व्यक्तित्व को परिपुष्ट करने में सहायक होगी। साथ ही यह उसके आत्मविश्वास को भी बढ़ायेगी, क्योंकि यदि आवश्यकता पड़े, तो वह अपनी सीखी हुई दस्तकारी द्वारा भी जीविका उपार्जन कर सकेगा।

आयोग की अन्य महत्वपूर्ण सिफारिशों में से कुछ सिफारिशें वे हैं, जिनमें विद्यालयों के पुस्तकालयों के सुधार, दृश्य-श्रव्य साधनों के प्रयोग, परीक्षा-प्रणाली में सुधार और गतिविधि पद्धति को उससे कहीं अधिक बड़े पैमाने पर अपनाने का सुझाव दिया गया है, जितना कि अब तक अपनाया जाता रहा है। पुस्तकालयों को माध्यमिक शिक्षा के परिपोषण के लिए एक अत्यावश्यक साधन समझा जाना चाहिये और उनको इस प्रकार संगठित किया जाना चाहिये कि जिससे छात्रों में सामान्य अध्ययन की आदत को प्रोत्साहन मिले। दृश्य-श्रव्य साधनों द्वारा अध्यापन और अधिक स्पष्ट तथा रोचक बन जायगा, और इससे अध्यापकों और छात्रों दोनों में ही प्रारंभण (इनिशियेटिव) की भावना परिपुष्ट होगी। यह आवश्यक नहीं है कि ये दृश्य-श्रव्य साधन विदेशों से मँगायी गयी महँगी सामग्री तक ही सीमित रहें। देहात में शिक्षा देने की पुरानी परम्परागत प्रणाली में भी दृश्य-श्रव्य पद्धतियों का बहुत बड़े पैमाने पर उपयोग किया जाता था। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उनका उपयोग विद्यालयों में अपेक्षाकृत अधिक औपचारिक अध्यापन में किया जाय। परीक्षाओं की वर्तमान प्रणाली का बिल्कुल नये सिरे से पुनर्गठन करने की ओर कदम बढ़ाते हुए आयोग ने यह सुझाव दिया है कि कुछ चुने हुए विद्यालयों को अपना पाठ्यक्रम, अध्यापन की पद्धतियाँ और परीक्षा की पद्धतियाँ स्वयं ही नियत करने की स्वतंत्रता दे दी जाय। सह पाठ्यक्रम-कार्यक्रमों के प्रारम्भ किये जाने

से विद्यालय की गतिविधियों की मात्रा में स्वयं ही काफी वृद्धि हो जायगी। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को कक्षा में होने वाले वास्तविक कार्य में भी कुछ और अधिक भाग लेना चाहिये। इसके लिए उन्हें कुछ पहले से नियत किया हुआ कार्य करने को दिया जा सकता है; या फिर उन्हें अपने अध्ययन का कार्य-क्रम स्वयं तैयार करने की अनुमति दी जा सकती है। बड़ी कक्षा के विद्यार्थियों का छोटी कक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए भी उपयोग किया जा सकता है और इसके दो लाभ होंगे। एक तो यह कि अध्यापक और अध्यापित के बीच का अनुपात ज्यादा अच्छा हो जायगा; और दूसरे, सब कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए विद्यालय का कार्य और अधिक रोचक बन जायगा।

'लक्ष्मण स्वामी-आयोग' द्वारा की गयी अनेक महत्वपूर्ण सिफारिशों पर विस्तार से विचार कर पाना यहाँ सम्भव नहीं। जिन लोगों को इस सम्बन्ध में रुचि हो, वे आयोग की रिपोर्ट में इस सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री पा सकते हैं। परन्तु एक और सिफारिश ऐसी है, जिसका यहाँ संक्षेप में विशेष रूप से उल्लेख कर देना उचित होगा। यह सिफारिश माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में एक वर्ष की अवधि और बढ़ा देने की है, जिससे माध्यमिक शिक्षा अपने आप में पूर्ण मंजिल समझी जा सके। इस सिफारिश का उद्देश्य माध्यमिक शिक्षा काल की समाप्ति पर बालक की योग्यता के प्रमाप (स्टैन्डर्ड) को ऊँचा उठाना है। अधिकांश बालकों का शिक्षा काल माध्यमिक शिक्षा के साथ ही समाप्त हो जाता है, इसलिए इस बात को खूब जोर देकर कहने की आवश्यकता शायद नहीं है कि माध्यमिक शिक्षा को अपने विशेष गुणों से युक्त एक सुनिश्चित मंजिल बनाने के प्रयत्न में कोई कसर नहीं छोड़ी जानी चाहिये। शिक्षाकाल में एक और वर्ष की वृद्धि कर देने से किशोरों को पहले की अपेक्षा अधिक शारी-रिक, मानसिक और संवेगात्मक परिपक्वता प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। इससे उनकी योग्यता भी बढ़ जायगी, जिससे माध्यमिक शिक्षा विभिन्न व्यवसायों में प्रवेश करने के लिये पर्याप्त प्रमाणपत्र समझी जा सकेगी।

५

यह स्पष्ट है कि भारत में माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन रातों रात नहीं किया जा सकता। चाहे हमारा संकल्प कितना ही भला क्यों न हो, परन्तु यह

सम्भव नहीं है कि तुरन्त नये, अच्छे और अपेक्षाकृत विविध प्रकार के माध्यमिक विद्यालय तैयार किये जा सकें। भारत में लगभग १८००० माध्यमिक विद्यालय हैं, जिनमें से लगभग १०००० उच्च विद्यालय या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय हैं। इनमें से लगभग सभी निरपवाद रूप से वासस्थान, उपकरणों (इक्विपमेंट) तथा क्रीड़ाक्षेत्रों की स्वल्पता से ग्रस्त हैं। उनमें अध्यापकों का वेतन अपर्याप्त है; और ये अध्यापक भी प्रायः अल्प समर्थ और अप्रशिक्षित हैं। इन अध्यापकों को अभीष्ट प्रमाप तक उन्नत करने का व्यय बहुत अधिक है और वह सम्भवतः हमारे देश के वर्तमान सामर्थ्य से परे है। यदि ये वित्तीय कठिनाइयाँ न भी हों, तो भी अभीष्ट योग्यता के अध्यापक पर्याप्त संख्या में उपलब्ध ही नहीं हैं। अपने कार्यक्रम को कई वर्षों की अवधि में फैलाये बिना इस प्रकार के अध्यापकों की भर्ती और प्रशिक्षण कर पाना भी सम्भव नहीं है।

सब विद्यालयों की उन्नति एक साथ नहीं की जा सकती। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य में कम से कम अच्छे ढंग के कुछ विद्यालय तैयार किये जायँ। जिस समाज ने प्रजातन्त्रात्मक रहने का निश्चय किया है, और जहाँ सबको समान अवसर दिया जाना है, वहाँ इस प्रकार का कदम उठाना तभी उचित कहा जा सकता है, जब इन अच्छे ढंग के विद्यालयों में प्रवेश केवल योग्यता के आधार पर ही हो सके। प्रत्येक देश में अधिकांश लोगों की औपचारिक शिक्षा प्रारम्भिक शिक्षा के बाद ही समाप्त हो जाती है। अमेरिका, इंग्लैंड, जापान और रूस जैसे देशों में भी सार्वजनीन निःशुल्क शिक्षा केवल १४, १५ वर्ष की आयु तक ही दी जाती है, जबकि माध्यमिक शिक्षा वस्तुतः इस आयु से प्रारम्भ होती है। भारत में संविधान में यह लक्ष्य नियत किया गया है कि सब बालकों को केवल चौदह वर्ष तक की आयु तक सार्वजनीन निःशुक्ल शिक्षा दी जाय। अभी तक वह लक्ष्य भी पूर्ण नहीं हो सका है। इसलिए माध्यमिक शिक्षा कुछ थोड़े-से अल्पसंख्यक लोगों का ही विशेषाधिकार है। ऐसी दशा में वरिष्ठ(सुपीरियर) कोटि के माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना केवल उसी दशा में उचित कही जा सकती है, जबकि वे पथदर्शक परियोजनाओं (प्रोजैक्ट्स) के रूप में स्थापित किये जायँ, जो अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण देश में माध्यमिक शिक्षा की किस्म को सुधारने में सहायक हों।

हाल ही में भारत सरकार ने कुछ चुने हुए विद्यालयों के सुधार में कुछ

और अधिक प्रत्यक्ष रुचि लेने की आवश्यकता को अनुभव किया है। यह निश्चित किया गया है कि देश के १०००० उच्च विद्यालयों में से कम से कम ५०० को जुलाई १९५६ तक बहुप्रयोजन विद्यालयों के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय। इसका अर्थ यह होगा कि इन विद्यालयों में कुछ और अधिक अध्यापक रखे जायेंगे; कुछ और अधिक भवनों और उपकरणों की व्यवस्था की जायगी; नये पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये जायेंगे और इस प्रकार के विद्यालयों के पुस्तकालयों को भी काफी उन्नत किया जायगा। यह भी प्रस्ताव किया गया है कि डेढ़ हजार अन्य उच्च विद्यालयों को पहले से उच्चतर स्तर पर लाने का प्रबन्ध किया जाय। इसके लिए इनमें अपेक्षाकृत अच्छे पुस्तकालयों और अच्छी प्रयोगशालाओं की व्यवस्था की जायगी और इनमें विज्ञान तथा अन्य व्यावहारिक पाठ्यक्रम शुरू किये जायेंगे।

देश के विभिन्न भागों में उत्तर बुनियादी विद्यालयों (पोस्ट बेसिक स्कूल) की स्थापना का भी यही उद्देश्य है कि समूचे रूप में माध्यमिक शिक्षा को सबल बनाया जाय। उत्तर बुनियादी विद्यालय अभी तक भी परीक्षणात्मक दशा में हैं और इन विद्यालयों का संचालन वे ही लोग कर रहे हैं, जिन्होंने अपना जीवन किसी आदर्श के लिए समर्पित कर दिया है। अपने प्रबल आदर्शवाद के कारण इस प्रकार के अध्यापक विद्यालय में ऐसा वातावरण उत्पन्न कर सकते हैं, और प्रायः करते हैं कि जिससे शिक्षा के फलस्वरूप विद्यार्थियों में नयी चेतना जाग उठती है। ज्यों-ज्यों उत्तर बुनियादी विद्यालयों की संख्या बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों उनके द्वारा माध्यमिक शिक्षा का शहर की ओर पक्षपात कम होता जायगा, और ऐसे विद्यालयों में देहातों में रहने वाली विशाल जनसंख्या के लिए भी नेता तैयार हो सकेंगे।

एक और महत्वपूर्ण निश्चय यह किया गया है कि देश में कुछ पब्लिक स्कूल खोले जायें और उन्हें विकसित किया जाय। जैसा कि अमेरिकन लेखकों ने अनेक बार कहा है, पब्लिक स्कूल एक भ्रामक नाम है; क्योंकि जिन विद्यालयों को 'पब्लिक स्कूल' कहा जाता है, वे एक विशेष प्रकार के गैर सरकारी विद्यालय होते हैं। सामान्यतया ऐसे विद्यालयों की स्थापना किसी एक गैर सरकारी व्यक्ति या संस्था द्वारा की गयी होती है। ये विद्यालय अनिवार्य रूप से सावास (रेजीडेंशियल) विद्यालय होते हैं, और इनके छात्र जनता के अपेक्षाकृत

अधिक सौभाग्यशाली वर्ग में से आते हैं। इन विद्यालयों के पास साधन अधिक होते हैं और इनमें स्वतन्त्रता भी अधिक होती है। इसलिए ये बालकों में नेतृत्व के गुणों को परिपुष्ट करने पर अधिक जोर देते हैं; और अपने छात्रों को अपेक्षाकृत कहीं अधिक सुविधाएँ प्रदान कर पाते हैं। इन सब लाभों के कारण वे माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में परीक्षण केन्द्रों के रूप में अत्यन्त मूल्यवान सिद्ध हो सकते हैं।

कुछ समय पहले भारत सरकार ने दो पब्लिक स्कूल चलाने का निश्चय किया था, जिनमें से एक उत्तर भारत में हो और दूसरा दक्षिण भारत में। उस समय इस निश्चय की जानकार लोगों तक के एक वर्ग ने काफी आलोचना की थी। आलोचकों का कथन था कि संविधान का उद्देश्य एक वर्गहीन समाज का निर्माण करना है। इस प्रकार के विद्यालयों को विशेष सहायता देना उनकी दृष्टि में संविधान की भावना के प्रतिकूल था; क्योंकि इस प्रकार के विद्यालयों में पढ़ने वाले बालकों को जीवन की दौड़ में पहले से ही काफी छूट मिल जायगी। सरकार इन आलोचकों के साथ सहमत नहीं थी। सरकार का विचार था कि क्योंकि सब माध्यमिक विद्यालयों का प्रमाप तुरन्त ऊँचा नहीं किया जा सकता, इसलिए अपेक्षाकृत अच्छी माध्यमिक शिक्षा के कम से कम कुछ केन्द्र तो बनाये जाने चाहियें। इस प्रकार के विद्यालय विद्यमान होने से पुराने ढंग के कट्टर विद्यालयों को एक चुनौती-सी मिलेगी और ये पब्लिक स्कूल परोक्ष रूप से माध्यमिक शिक्षा का प्रमाप ऊँचा करने में सहायक होंगे।

यह आक्षेप अवश्य सबल था कि अपेक्षाकृत अधिक सुविधाएँ देना तभी उचित कहा जा सकता है, जबकि वे सुविधाएँ अपेक्षाकृत अधिक योग्यता के आधार पर दी जा रही हों। इस आक्षेप का समाधान करने के लिए यह अनुभव किया गया कि इस प्रकार के विद्यालयों में अर्थात् पब्लिक स्कूलों में प्रवेश माता-पिता की आर्थिक स्थिति के आधार पर न होकर बालक की योग्यता के आधार पर होना चाहिये। इस सम्बन्ध में कोई विवाद ही नहीं उठ सकता कि यह एक ऐसा सिद्धान्त समझा जाना चाहिये, जिसका कोई अपवाद न हो। भारत में सब पब्लिक स्कूलों का लक्ष्य यह होना चाहिये कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जायँ, जिनमें अपेक्षाकृत अधिक सुविधाएँ अपेक्षाकृत अधिक योग्यता वाले बालकों को प्राप्त हो सकें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार

के सिद्धान्त को तत्काल और पूर्णतया क्रियान्वित करने में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। वित्तीय बाधाओं के अतिरिक्त छोटे बालकों की योग्यता का निर्णय करने में भी कम कठिनाइयाँ नहीं हैं; विशेषरूप से उन मामलों में, जहाँ कि बालक सीमांत रेखा के निकट हैं। फिर भी इस प्रकार की कोई पद्धति निकाली जानी चाहिये; जिसके द्वारा कम से कम सर्वोत्तम बालक को उसका उचित स्थान मिल सके; और जो बालक स्पष्ट रूप से अनुपयुक्त हो, उसे ऐसे विद्यालयों में स्थान न मिल सके। पब्लिक स्कूलों में योग्यता के आधार पर कुछ छात्रवृत्तियाँ प्रारम्भ करने का उद्देश्य भी यही है कि योग्य बालकों को इन विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के अवसर से केवल इसलिए वंचित न रह जाना पड़े, कि उनके पास साधनों का अभाव था।

पब्लिक स्कूलों के विरुद्ध एक और आक्षेप यह किया जाता है कि ये साधारण विद्यालयों की अपेक्षा अधिक खर्चीले होते हैं। यह भी कहा जाता है कि पब्लिक स्कूल सामाजिक दृष्टि से विशेषाधिकार प्राप्त लोगों का एक नया वर्ग उत्पन्न करने लगते हैं। आर्थिक दृष्टि से अल्प विकसित देश में पब्लिक स्कूल का अधिक खर्च केवल तभी उचित ठहराया जा सकता है, यदि यह सिद्ध हो जाय कि चरित्र और नेतृत्व को परिपुष्ट करने में पब्लिक स्कूल सामान्य विद्यालय की अपेक्षा बहुत स्पष्ट रूप से अधिक उत्कृष्ट है। परन्तु इस सम्बन्ध में अवश्य कोई कदम उठाया जाना चाहिये कि जिससे पब्लिक स्कूल एक विशेषाधिकार युक्त पृथक् वर्ग को जन्म न दे सके। उत्कृष्टता के सम्बन्ध में प्रतियोगिता हो सके, इस बात पर कोई भी आक्षेप नहीं कर सकता, परन्तु यदि पब्लिक स्कूल केवल सम्पन्न परिवारों के बालकों के पोषण स्थान बन जायें, तो वह अवश्य शिकायत के लिए पर्याप्त कारण होगा।

पब्लिक स्कूल पर अधिक व्यय होना शायद अनिवार्य-सा है। भारत में सामान्य माध्यमिक विद्यालय जैसा होना चाहिये, उससे कहीं अधिक घटिया किस्म का होता है। जिन स्थानों में लड़के अपने जीवन के ऐसे वर्ष बिताते हैं, जिनमें कि उन पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ सकता है, वे संकीर्ण, घिरे हुए और अत्यधिक भीड़-भाड़ वाले नहीं होने चाहियें। विद्यालय में उन्हें केवल औपचारिक शिक्षा ही नहीं मिलनी चाहिये, अपितु सहकारी और सृजनशील जीवन की कला का अभ्यास करने का अवसर भी मिलना चाहिये। इसका अर्थ

यह है कि ऐसे विद्यालयों में पाठ्येतर (ऐक्स्ट्रा क्यूरीक्युलर) गतिविधियों के लिए सुविधाएँ होनी चाहियें, जो अनेक दृष्टियों से विद्यालय के विशुद्ध साहित्यिक पहलू की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। खेलें, क्रीड़ा, अभिनय, वाद-विवाद-समितियाँ तथा अन्य सामाजिक गतिविधियाँ बालकों को नागरिकता की कला में प्रशिक्षित करती हैं। इस प्रकार की सेवाओं की व्यवस्था का अर्थ है— अब की अपेक्षा अधिक भवनों की आवश्यकता और अबकी अपेक्षा अधिक अच्छे तथा अधिक संख्या में अध्यापकों की आवश्यकता। इसलिए इस प्रकार का सुधार करने से सामान्य विद्यालयों का खर्च भी काफी बढ़ जायगा।

पब्लिक स्कूलों में खर्च का और भी अधिक होना अनिवार्य है, क्योंकि इस प्रकार के स्कूलों की एक आधारभूत विशेषता यह होती है कि वे मुख्यतया सावास (रैजिडेंशियल) विद्यालय होते हैं। इस विशेषता के कारण पब्लिक स्कूल में सब सहायक गतिविधियाँ उसकी अपेक्षा कहीं अधिक बड़े पैमाने पर की जा सकती हैं, जितनी कि वे केवल दिन में लगने वाले विद्यालय में हो पानी सम्भव हैं। इसके अतिरिक्त पब्लिक स्कूलों में बालक अपने अध्यापकों के कहीं अधिक घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं। शिक्षा केवल जानकारी प्रदान कर देने का नाम नहीं है; अपितु यह तो शिक्षक और शिक्षार्थी के मन के बीच सजीव सम्पर्क का नाम है। शायद आवास की व्यवस्था ही वह मुख्य तत्व है, जिसके कारण पब्लिक स्कूल की शिक्षा सामान्य ढंग के माध्यमिक विद्यालय की शिक्षा की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है। परन्तु साथ ही यही वह कारण भी है, जिसके कारण पब्लिक स्कूल सामान्य माध्यमिक विद्यालय की अपेक्षा अधिक खर्चीला होता है और वह होगा ही।

शिक्षा-सिद्धान्त के रूप में भारत में आवास के महत्व को बहुत प्राचीन काल में ही अनुभव कर लिया गया था। प्राचीन भारतीय प्रणाली में शिष्य अपने गुरु के पास रहने के लिए जाते थे। क्या यह उसी प्रणाली का प्रारम्भिक रूप नहीं है, जो आजकल सावास विद्यालयों के रूप में विकसित हुई है? समय के प्रवाह में पड़कर वह प्रणाली छिन्न-भिन्न हो गयी। परन्तु उसके अनेक मूल्य गुरु और शिष्य के मध्य व्यक्तिगत सम्बन्धों के कारण बाकी बचे रहे। अभी हाल तक भी माध्यमिक विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या बहुत थोड़ी होती थी; और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक विद्यालय का आकार

बहुत कुछ परिमित-सा होता था। इन विद्यालयों में से अधिकांश छोटे-छोटे शहरों में थे, जहाँ पर बालक अपने अध्यापकों के साथ निरन्तर सम्पर्क में आते रहते थे। व्यवहारतः विद्यालय का प्रत्येक बालक विद्यालय के प्रत्येक अध्यापक से व्यक्तिगत रूप से परिचित होता था। यहाँ तक कि बड़े-बड़े शहरों में भी—विद्यालय न तो इतने अधिक थे और न इतने बड़े थे, जितने कि वे आजकल हैं—विद्यालय का आकार इतना होता था कि प्रत्येक अध्यापक के लिए प्रत्येक बालक को जान पाना सम्भव था। परन्तु अब यह सब स्थिति बदल गयी है। विद्यालयों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गयी है; और इससे भी अधिक उल्लेखनीय वृद्धि विद्यालयों के आकार में और इन विद्यालयों के बड़े-बड़े शहरों में केन्द्रित होते जाने में हुई है। आजकल का माध्यमिक विद्यालय एक अध्यापन की दूकान से अधिक कुछ नहीं है, जहाँ कि शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच शायद ही कोई व्यक्तिगत सम्पर्क रह पाता हो।

इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा का आमूल-चूल पुनर्गठन करना बिल्कुल अनिवार्य है। परन्तु अपने वर्तमान साधनों के द्वारा भारत में सब माध्यमिक छात्रों के लिए सावास शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जा सकती। बहुत-से विद्यालयों को केवल दिन में पढ़ाई का विद्यालय ही रहना होगा, परन्तु उनमें पब्लिक स्कूलों की कुछ आकर्षक बातों का समावेश किया जा सकता है। पब्लिक स्कूल में सदन प्रणाली (हाउस सिस्टम) स्पष्टतया एक बड़ी अच्छी वस्तु है। इस प्रणाली को किसी न किसी रूप में सामान्य निरावास (नान रैजिडैंशियल) विद्यालयों में अपनाने के लिए कोई उपाय ढूँढ़ निकालना सम्भव होना चाहिये। और भी ऐसी कई अन्य बातें हैं, जो आजकल केवल पब्लिक स्कूलों में पायी जाती हैं और उन्हें बड़े लाभदायक ढंग से सामान्य निरावास विद्यालयों में अपनाया जा सकता है। इस प्रकार पब्लिक स्कूल पथ-दर्शक संस्थाओं के रूप में देश की सेवा कर सकते हैं, जहाँ रोचक नये सुधारों का अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल परिस्थितियों में पहले परीक्षण किया जा सके।

यदि पब्लिक स्कूल इस महत्वपूर्ण आवश्यकता को पूरा कर सकें और साथ ही यदि निम्नलिखित बातों पर उचित ध्यान दिया जाय तो भारत में पब्लिक स्कूलों का भविष्य उज्ज्वल बना रह सकता है:

(१) विद्यालय समाज के जीवन का प्रतिबिम्ब होता है और उसे होना भी चाहिये। इसलिए भारत में पब्लिक स्कूलों को भारतीय जीवन पद्धति के अधिकाधिक निकट लाया जाना चाहिये। इसका यह अर्थ होगा कि पब्लिक स्कूलों के बाहरी रूप और आन्तरिक विषय, दोनों में ही परिवर्तन किये जायँ। विद्यालय-जीवन के प्रमापों और प्रथाओं में काफी सादगी लायी जानी चाहिये। इसके साथ ही पाठ्यक्रमों में भी परिवर्तन करके उन्हें इस ढंग से नया किया जाना चाहिये कि उनमें उन सब परम्पराओं और आदर्शों का समावेश हो सके, जो भारतीय संस्कृति के अंग बन गये हैं।

(२) पब्लिक स्कूलों को अपने विशेष गुणों को बिना त्यागे शनैः-शनैः देश की सामान्य शिक्षा प्रणाली के अधिकाधिक निकट भी आना चाहिये। इस समय प्रत्येक पब्लिक स्कूल एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में परिपुष्ट होना चाहता है। जहाँ यह सत्य है कि विद्यालय की स्वायत्तता का बड़ा महत्व है और उसे बनाये रखा जाना चाहिये, वहाँ यह भी आवश्यक है कि पब्लिक स्कूल के परस्पर और देश की सामान्य शिक्षा प्रणाली के साथ अधिकाधिक सम्पर्क बढ़ाने के उपाय खोजे जायँ।

(३) पब्लिक स्कूलों के विशेष गुणों और उनकी किस्म को पहले जैसा ही बनाये रखते हुए, उन पर होने वाले खर्च को घटाने के लिए कदम उठाये जाने चाहियें। यह ठीक है कि वे सामान्य विद्यालयों की अपेक्षा अधिक खर्चीले रहेंगे, परन्तु इन दोनों के बीच की विषमता को कम करने के लिए प्रत्येक प्रयत्न किया जाना चाहिये। सादगी को अपनाने से भी कुछ अवश्य होगी, परन्तु व्यय और आय के बीच की खाई को कम करने के लिए अन्य उपाय भी सोचे जाने चाहियें। विद्यालय की फीसों में वृद्धि करके इस खाई को नहीं पाटा जा सकता; क्योंकि ये फीसें इस समय भी इतनी अधिक हैं कि देश की विशाल बहुसंख्या के बालक अब भी पब्लिक स्कूलों में प्रवेश नहीं पा सकते। सार्वजनिक निधियों से कुछ सहायता राशि अवश्य मिल सकती है, परन्तु पब्लिक स्कूलों को भी बुनियादी विद्यालयों में प्राप्त हुए अनुभव से लाभ उठाना चाहिये, जहाँ विद्यालय के व्यय का कुछ अंश छात्रों के दस्तकारी के काम द्वारा पूरा करने की कोशिश की जाती है। सम्भवतः पब्लिक स्कूल इस सिद्धान्त को क्रियान्वित करके लाभ उठा पाने की दृष्टि से कहीं अधिक अच्छी स्थिति में हैं।

पब्लिक स्कूलों में अपने सामान्य कार्यक्रमों में ही गतिविधि को काफी स्थान दिया जाता है और थोड़े-से ही हेर-फेर से इस गतिविधि को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी कामों में लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पब्लिक स्कूलों के छात्रों की आयु बुनियादी विद्यालयों के छात्रों की अपेक्षा अधिक होती है। बुनियादी विद्यालयों के छोटे बालकों की दस्तकारी का काम मुख्य रूप से कुछ खेल का-सा काम ही होना चाहिये ; परन्तु पब्लिक स्कूलों में यदि इस प्रकार का दस्तकारी का काम किया जाय, तो उससे कुछ आर्थिक प्राप्ति भी हो सकती है और होनी चाहिये।

(४) सामान्यतया सभी विद्यालयों को, और विशेष रूप से पब्लिक स्कूलों को इस सिद्धान्त का दृश्यमान प्रतीत होना चाहिये कि शिक्षा का कार्य समाज में अवसर की समानता उत्पन्न करना है। यह कहा जाता है कि बालक राष्ट्र की सबसे बड़ी निधि होते हैं। इसलिए इस बात की बड़ी सावधानी रखी जानी चाहिये कि राष्ट्र की इन निधियों का उपयोग समाज के अधिकतम लाभ के लिए किया जा रहा हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक बालक को सुविधाएँ उसकी आवश्यकताओं के अनुसार मिलें और उससे उन सेवाओं की आशा की जाय, जो उसके समार्थ्य में हों। अन्य किसी भी उपाय द्वारा मानव सामग्री का अनुकूलतम उपयोग नहीं किया जा सकता। ऐसा कदम उठाने पर भी पूर्ण समानता उत्पन्न नहीं हो सकेगी; और उन अर्थों में पूर्ण समानता उत्पन्न करना राज्य का कृत्य भी नहीं कहा जा सकता। अलग-अलग व्यक्तियों की रुचियों, अभियोग्यताओं और योग्यताओं में अवश्य ही कुछ न कुछ अन्तर होता है। परन्तु राज्य का कृत्य यह अवश्य है कि वह यह देखे कि सब लोगों को समान अवसर प्राप्त हो रहा है, और इस प्रकार समाज में प्रजातन्त्रात्मक सुदृढ़ता और कल्याण की भावना उत्पन्न करे।

६

सुयोग्य अध्यापकों की कमी और धन के अभाव के कारण यह और भी अधिक आवश्यक हो गया है कि भारतीय माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन की योजना बड़ी सावधानी के साथ बनायी जाय। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड

ने इस समस्या पर कई वर्ष तक विचार करने के पश्चात् जनवरी १९५५ में निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया था :

"बोर्ड ने माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति और विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए आवश्यक योग्यताओं के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी के साथ विचार किया है और वह सर्वसम्मति से निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचा है :

(क) पहली उपाधि (डिग्री) का पाठ्य क्रम तीन वर्ष का होना चाहिये और विश्वविद्यालयों में प्रवेश के लिए न्यूनतम आयु १७ योग वर्ष (१७ प्लस) होनी चाहिये ।

(ख) १७ योग वर्ष की आयु में माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति के साथ शिक्षा की समाप्ति समझी जानी चाहिये और विद्यार्थी को जीवन के लिए तैयार किया जाना चाहिये । किन्तु यह शिक्षा ऐसे प्रमाप की होनी चाहिये, जो उन्हें विश्वविद्यालय के तीन वर्ष के उपाधि-पाठ्यक्रम (डिग्री कोर्स) का अध्ययन करने में समर्थ बना सके ।

(ग) भारत सरकार से अनुरोध किया जाय कि वह उपरिलिखित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये एक समिति नियुक्त करे, जो विद्यालय की अन्तिम परीक्षा के लिये एक समेकित (इंटेग्रेटिड) पाठ्यक्रम तैयार करे ।

(घ) माध्यमिक शिक्षाकाल की अन्तिम कक्षा ग्यारहवीं कक्षा कहलानी चाहिये; और इस कक्षा में कोई भी छात्र कम से कम १० वर्ष विद्यालय में पढ़े बिना न पहुँच सके । विद्यालय प्रणाली की ठीक-ठीक अवधि का निर्धारण अलग-अलग राज्यों में उन-उन राज्यों की सरकारों द्वारा किया जाय ।"

लगभग ठीक इन्हीं शब्दों में एक और प्रस्ताव पहले उपकुलपतियों और माध्यमिक शिक्षा बोर्डों के अध्यक्षों के एक सम्मेलन में भी, जो नई दिल्ली में हुआ था, पास किया गया था । बाद में उस प्रस्ताव को अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड ने जनवरी के अन्त में हुए अपने पटना अधिवेशन में सर्व सम्मति से स्वीकार किया । इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा की सामान्य पद्धति और प्रथम उपाधि की संरचना (स्ट्रक्चर) के विषय में सब सम्बद्ध अधिकारियों में सहमति है, जो शायद पिछले ४० वर्षों में पहली बार हुई है ।

यहाँ यह बात लक्ष्य की जा सकती है कि शिक्षा के जिस नमूने को अन्त में जाकर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों और माध्यमिक शिक्षा बोर्डों ने स्वीकार

किया है, वह उस नमूने से थोड़ा-सा भिन्न है, जिसकी सिफारिश विश्वविद्यालय शिक्षा के सम्बन्ध में नियुक्त किये गये 'राधाकृष्णन-आयोग' या माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में नियुक्त किये गये 'लक्ष्मण स्वामी-आयोग' ने की थी। राधाकृष्णन-आयोग ने यह सिफारिश की थी कि वर्तमान इन्टरमीजियेट परीक्षा के बाद ३ वर्ष का उपाधि-पाठ्यक्रम होना चाहिये। लक्ष्मण स्वामी-अयोग की सिफारिश यह थी कि इंटरमीजियेट परीक्षा को समाप्त कर दिया जाय और ३ वर्ष के उपाधि-पाठ्यक्रम से पहले ४ वर्ष का माध्यमिक पाठ्यक्रम रखा जाय।

राधाकृष्णन-आयोग की इस सिफारिश में, कि उपाधि-पाठ्यक्रम में प्रविष्ट होने के लिए इंटरमीजियेट परीक्षा पास करने की शर्त को बनाये रखा जाय, इसलिए संशोधन करना पड़ा क्योंकि केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने केवल दो वर्षों की अवधि में दो सार्वजनिक परीक्षाएँ रखने के विरुद्ध दी गयी युक्तियों को सही माना। यह आम अनुभव की बात है कि किसी भी सार्वजनिक परीक्षा से कम से कम दो या तीन महीने पहले कक्षा के नियमित कार्य में विद्यार्थियों की रुचि समाप्त हो जाती है और वे अपना सारा समय और शक्ति परीक्षा की तैयारी में लगाने लगते हैं। अनेक शिक्षा संस्थाओं में कुछ समय के लिए कक्षाएँ बन्द कर दी जाती हैं, जिससे विद्यार्थी परीक्षाओं की तैयारी और अधिक अच्छी तरह कर सकें। इसके अतिरिक्त जब परीक्षा हो जाती है तो विद्यार्थी तीन या चार महीने तक परिणाम की प्रतीक्षा करते रहते हैं। उसके बाद कम से कम एक और महीना नयी कक्षा में प्रविष्ट होते और काम शुरू करते-करते बीत जाता है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक सार्वजनिक परीक्षा में काम के ६ या ७ महीने नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक परीक्षा के बोझ का प्रभाव भी विद्यार्थियों पर इतना अधिक पड़ता है कि जिन दिनों वे परिणाम की प्रतीक्षा कर रहे होते हैं, और इस प्रकार विवश होकर उन्हें विश्राम करना पड़ा रहा होता है, उस समय वे कोई भी गम्भीर काम शुरू नहीं कर सकते। अन्तिम, और शायद सबसे अधिक निर्णायक, युक्ति यह थी कि इन्टरमीजियेट परीक्षा शिक्षा की कोई सुस्पष्ट मंजिल नहीं है; इसलिए यह बिलकुल फालतू है और राष्ट्रीय दृष्टि से केवल अपव्यय मात्र है।

लक्ष्मण स्वामी-आयोग की इस सिफारिश में, कि माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम ४ वर्ष का रखा जाय, इस कारण संशोधन कर देना पड़ा क्योंकि

भारतीय संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि सब बालकों को १४ वर्ष की आयु तक अनिवार्य शिक्षा दी जाय। इसका अर्थ यह था कि यदि माध्यमिक शिक्षाकाल में ४ वर्ष का समेकित पाठ्यक्रम रखा जाता, तो विद्यालय-त्याग की आयु बढ़कर १८ वर्ष हो जाती और विद्यार्थी शीघ्र से शीघ्र २१ वर्ष की आयु में प्रथम उपाधि प्राप्त कर सकता। लक्ष्मण स्वामी-आयोग ने स्वयं यह उल्लेख किया था कि बालकों के संरक्षक और अध्यापक दोनों ही समान रूप से विद्यालय के शिक्षाकाल को १७ या १७ योग वर्ष से आगे बढ़ाने के विरोधी थे। जब केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए राज्य सरकारों के प्रतिनिधियों से पूछा तो एक भी राज्य विद्यालय-त्याग की आयु को बढ़ाकर १८ वर्ष करने के लिए तैयार नहीं था। सच तो यह है कि सभी राज्यों ने यह कहा कि १७ या १७ योग वर्ष को भी तिद्यालय त्याग की आयु बनाने पर उनके वित्तीय तथा अन्य साधनों पर काफी भारी बोझ पड़ेगा।

लक्ष्मण स्वामी-आयोग ने माध्यमिक शिक्षा काल की समाप्ति से पहले किये जाने वाले अध्यापन की अवधि के प्रश्न पर कुछ स्पष्ट मार्गदर्शन नहीं किया था। एक ओर तो इसका सुझाव था कि ८ वर्ष के प्रारम्भिक शिक्षाकाल के बाद ४ वर्ष का माध्यमिक शिक्षाकाल होना चाहिये और इस प्रकार विश्वविद्यालय शिक्षा से पहले की शिक्षा की अवधि १२ वर्ष हो जाती थी। दूसरी ओर इस आयोग ने सिफारिश की थी कि जिन राज्यों में इस समय विद्यालय त्याग का प्रमाण-पत्र १० वर्ष के अध्यापन के पश्चात् दिया जाता है, उनमें इस पाठ्यक्रम की अवधि एक वर्ष और बढ़ा दी जाय। इस प्रकार विश्वविद्यालय शिक्षा से पहले का शिक्षा काल ११ वर्ष का हो जाता था। इस आयोग के ऐसी अस्पष्ट सिफा-रिशें करने का कारण यह था कि अलग-अलग राज्यों में विद्यालय की शिक्षा की संरचना अलग-अलग ढंग की है। कुछ राज्यों में प्रारम्भिक शिक्षा का पाठ्यक्रम ४ वर्ष का है और कुछ में ५ वर्ष का। कुछ राज्यों में मध्य शिक्षा काल (मिडिल स्टेज) ३ वर्ष का है, और कुछ में ४ या ५ वर्ष का। स्वयं माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम भी अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग अवधि का है।

यह स्पष्ट था कि जब तक अलग-अलग राज्यों में ये विषमताएँ विद्यमान थीं, तब तक सब जगह माध्यमिक शिक्षा में एकरूपता तो दूर, एकतुल्यता

स्थापित कर पाना भी असम्भव था। इसलिए एकमात्र उपाय यह प्रतीत हुआ कि यह निश्चय किया जाय कि माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति किस निश्चित आयु में हो जानी चाहिये; और साथ ही वह प्रमाप भी निर्धारित कर दिया जाय, जिस तक उस आयु में बालक को पहुँच जाना चाहिये। यह सत्य है कि अनेक यूरोपियन देशों में माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति की आयु १८ वर्ष है, परन्तु ऊपर बताये गये कारणों से भारत में माध्यमिक शिक्षा के काल को बढ़ाकर १८ वर्ष की आयु तक कर पाना सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त भारत में लोगों का आयुष्य काल अपेक्षाकृत कम है, और सम्भवत: भारत के लोग यूरोपियनों की अपेक्षा परिपक्व भी कुछ जल्दी हो जाते हैं। इस देश में किशोरावस्था की समाप्ति १७ या १७ योग वर्ष की आयु समझना, और उसी को माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति का विन्दु नियत करना अनुचित न होगा। सभी राज्यों में निरपवाद रूप से इसका परिणाम यह होगा कि छात्र माध्यमिक विद्यालयों में उसकी अपेक्षा कहीं अधिक अवधि तक रह सकेंगे, जितनी अवधि तक वे इस समय रहते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो इस अवधि में वृद्धि करने का वित्तीय कारणों से विरोध करते हैं। परन्तु यदि माध्यमिक शिक्षा को अपना उद्देश्य पूर्ण करना हो, तो इस अवधि को बढ़ाने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। यदि माध्यमिक शिक्षा को शिक्षा की समाप्ति का एक बिन्दु बनाना है, और केवल विश्वविद्यालय में प्रवेश की तैयारी की स्थिति नहीं रखना, तो यह शिक्षा ऐसी होनी चाहिये कि इस शिक्षा काल की समाप्ति पर अधिकांश बालक और बालिकाएँ लाभदायक कार्य प्रारम्भ करने के लिए तैयार हो सकें और प्रजातन्त्रात्मक समाज में प्रभावपूर्ण ढंग से हिस्सा ले सकें। यदि माध्यमिक शिक्षा की आयु को बढ़ाकर कम से कम १७ योग वर्ष तक न किया जाय, तो माध्यमिक शिक्षा अपने दुहरे उद्देश्य को, अर्थात् छात्रों की अधिकांश संख्या को जीवन के लिए तैयार करने और कुछ थाड़े-से अल्पसंख्यक छात्रों को उच्चतर शिक्षा के लिए तैयार करने के उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती।

एक बिल्कुल विरोधी दृष्टिकोण से पहले पहल एक और आक्षेप उन राज्यों में उठाया गया था, जहाँ विद्यालय का पाठ्यक्रम ११ वर्ष का था। यह कहा गया था कि इस प्रकार के राज्यों में विद्यालय की अवधि में किसी प्रकार की

वृद्धि नहीं होगी। क्योंकि इन राज्यों में छात्रों को विश्वविद्यालय की कक्षाओं में भर्ती होने से पहले इन्टरमीजियेट कक्षाओं में पढ़ना पड़ता है, इसलिए, यह युक्ति दी गयी कि इन्टरमीजियेट पाठ्यक्रम को समाप्त कर देने से शिक्षा के प्रमाप ऊँचे होने के बजाय नीचे गिर जायेंगे। यह आक्षेप भी एक गलतफहमी पर ही आधारित है। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने जान-बूझकर ही उस आयु पर अधिक बल दिया है, जिस पर कि माध्यमिक शिक्षा समाप्त होगी और उन वर्षों की संख्या पर बल नहीं दिया, जो माध्यमिक शिक्षा प्रारम्भ करने से पहले व्यतीत होंगे। उन राज्यों में भी, जहाँ आजकल मैट्रिक परीक्षा से पहले ११ वर्ष विद्यालय में शिक्षा दी जाती है, अधिकांश विद्यार्थी १५ या १६ वर्ष को आयु में परीक्षा देते हैं। यह स्पष्ट है कि यदि अन्य परिस्थितियाँ ज्यों की त्यों रहें, तो छात्रों की योग्यता का प्रमाप १५ या १६ वर्ष की आयु की अपेक्षा १७ योग वर्ष की आयु अधिक होगा। इतना ही नहीं, एक सार्वजनिक परीक्षा को समाप्त कर देने के फलस्वरूप विद्यालयों में कार्य की अवधि कम से कम ६ मास और बढ़ जायेगी। विद्यालय के पाठ्य विषयों की योजना कुछ और बुद्धिमत्तापूर्वक करने तथा अध्यापन का माध्यम मातृभाषा को बनाने से भी अध्यापन तथा विद्यालय के विषयों में योग्यता प्राप्त करने के सामान्य प्रमाप को ऊँचा करने में काफी सहायता मिलेगी। इन सुधारों के साथ-साथ विद्यालय-त्याग की न्यूनतम आयु मो बढ़ाकर कुछ ऊँचा कर देने से इस बात का निश्चय रहेगा कि विद्यार्थी कालिज की शिक्षा प्राप्त करने के लिए शारीरिक, बौद्धिक तथा संवेगात्मक दृष्टि से अबकी अपेक्षा अधिक योग्य रहेंगे।

वस्तुतः, राधाकृष्णन-आयोग की इन्टरमीजियेट परीक्षा की आवश्यकता या लक्ष्मण स्वामी-आयोग की माध्यमिक शिक्षाकाल की अवधि के सम्बन्ध में सिफारिशों का उल्लंघन दीखता अधिक है, और वास्तविक कम है। राधाकृष्णन-आयोग ने इन्टरमीजियेट परीक्षा को बनाये रखने की सिफारिश इसलिए की थी, क्योंकि उसका विश्वास यह था कि विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए वर्तमान इंटरमीजियेट परीक्षा से कुछ कम प्रमाप अपर्याप्त रहेगा। केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की सिफारिशों में विश्वविद्यालय में प्रवेश की आयु उसी स्तर की रखी गयी है, जो वर्तमान इंटरमीजियेट का है। परन्तु पाठ्य विषयों के पहले की अपेक्षा अधिक अच्छे गठन और अध्यापन की पद्धतियों में सुधार द्वारा यह लक्ष्य रखा

गया है कि उतनी ही अवधि में पहले की अपेक्षा प्रमाप कुछ और ऊँचा किया जा सके। यहाँ पर यह कह देना उचित होगा कि इंग्लैंड या यूरोप में जो बालक और बालिकाएँ विश्वविद्यालय में प्रवेश करने को उद्यत होते हैं, उनकी योग्यता का प्रमाप १७ वर्ष की आयु में हमारी इंटरमीजियेट परीक्षा के प्रमाप से कहीं ऊँचा होता है। यह मानने के लिए कोई कारण नहीं है कि हमारे छात्र यूरोपियन देशों के छात्रों की अपेक्षा कुछ कम बुद्धिमान हैं। इसलिए बड़े विश्वास के साथ यह आशा की जा सकती है कि पाठ्य विषयों के कुछ और अच्छे गठन तथा कुछ और अच्छे अध्यापन द्वारा हमारे युवक और युवतियाँ १७ योग वर्ष की आयु में उसी प्रमाप तक पहुँच सकेंगे, जिस तक उस आयु में पश्चिमी देशों के छात्र पहुँच जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि लक्ष्मण स्वामी-आयोग ने यह सुझाव रखा था कि उच्चतर माध्यमिक शिक्षा काल की अवधि प्रारम्भिक शिक्षा के बाद ४ साल होनी चाहिये। परन्तु इन ४ वर्षों में से पहला वर्ष तो बहुत कुछ जाँच-पड़ताल का ही रहेगा, जिसमें लक्ष्य यह रहेगा कि छात्र की रुचियों और अभियोग्यताओं का ठीक-ठीक पता किया जाय। परन्तु इस बात के लिए कोई कारण नहीं कि इस प्रकार की जाँच ८ वर्षीय प्रारम्भिक शिक्षाकाल के अन्तिम वर्ष में या उससे भी पहले के वर्षों में क्यों प्रारम्भ न कर दी जाय? व्यक्तिगत रूप से मैं तो इस मामले में बहुत ढील देने के लिए तैयार हूँ; और यहाँ तक तैयार हूँ कि विद्यार्थी अपने विद्यालय जीवन में किसी भी समय एक प्रकार के पाठ्यक्रम को छोड़कर दूसरे प्रकार के पाठ्यक्रम को अपना सके। अधिकांश विद्यार्थियों के लिए पाठ्यक्रमों का पृथक्करण १३ या १४ वर्ष की आयु में हो जायगा। इससे जो विद्यार्थी माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने जायेंगे, उनमें से अधिकांश इस माध्यमिक शिक्षा-काल में ४ या ५ वर्ष विद्यालय में रह सकेंगे। ऐसे छात्र बहुत थोड़े-से होंगे, जो माध्यमिक शिक्षा के लिए इस आयु से कुछ पहले या कुछ बाद में माध्यमिक शिक्षा के लिए चुने जायंगे।

ऊपर बताये गये कारणों से सलाहकार बोर्ड ने माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति का बिन्दु १७ योग वर्ष की आयु नियत किया है और यह सिफारिश की है कि सब राज्यों में विश्वविद्यालय की शिक्षा से पहले की कक्षा को ग्यारहवीं कक्षा का नाम दिया जाय। परन्तु सलाहकार बोर्ड ने अलग-अलग राज्यों

में विद्यालय प्रणाली की वास्तविक अवधि का प्रश्न उन-उन राज्यों की सरकारों के ऊपर छोड़ दिया है। यदि किसी कारण कोई राज्य ग्यारहवीं कक्षा से पहले भी विद्यालय में ११ वर्ष की पढ़ाई जारी रखना चाहे, तो वह औपचारिक शिक्षा को पाँच वर्ष की आयु से प्रारम्भ करके ऐसा कर सकता है। परन्तु माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति की आयु, और उस दशा में योग्यताओं का प्रमाप सबके लिए एक जैसा ही होगा। इस प्रकार की व्यवस्था कम से कम संक्रमण काल में बहुत आवश्यक है; क्योंकि इस व्यवस्था द्वारा वर्तमान समय में राज्यों में विद्यमान् विभिन्न प्रणालियों में सबसे कम उलट-फेर होगा। परन्तु इस बात का निश्चय करने के लिए, कि विश्वविद्यालय से पूर्व की इस कक्षा में सारे देश में छात्रों की योग्यता का प्रमाप एक जैसा रहे, बोर्ड ने यह सिफारिश की है कि विद्यालय की अन्तिम परीक्षा के लिए एक समेकित पाठ्यक्रम एक केन्द्रीय समिति द्वारा तैयार किया जाय और उसे सब राज्यों पर लागू किया जाय। क्योंकि यह मानने के लिए कोई कारण नहीं है कि देश के विभिन्न भागों में बालक और बालिकाओं की सहज योग्यता में कोई अन्तर है, इसलिए माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति के लिए सब जगह एक ही आयु नियत कर देने से यह आशा की जाती है कि उस समय सारे देश में छात्रों की योग्यता एक समान ही होगी।

भारत में माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन का कार्य एक बहुत ही गुरुत्तर कार्य है। यद्यपि यह मुख्य रूप से राज्य सरकारों की जिम्मेदारी का विषय है, फिर भी भारत सरकार ने इस बात को अनुभव कर लिया है कि इस कार्य को पूर्ण करने में उसे भी प्रत्यक्ष रूप से रुचि लेनी होगी। पहले यह उल्लेख किया जा चुका है कि लगभग २००० वर्तमान विद्यालयों को उन्नत करने का निश्चय किया जा चुका है। जब ये सब २००० विद्यालय भी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय बन चुकेंगे, तब भी वर्तमान विद्यालयों की अधिकांश संख्या मामूली उच्च विद्यालयों के रूप में ही रहेगी। इस प्रकार इस संक्रमण काल में यह अनिवार्य ही है कि दोनों प्रकार के माध्यमिक विद्यालय साथ-साथ चलते रहें। उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के छात्र सीधे विश्वविद्यालय में तीन वर्ष के उपाधि-पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष में भरती होंगे। वर्तमान ढंग के उच्च विद्यालय के छात्रों को विश्वविद्यालयों में प्रवेश की तैयारी के लिए एक और अतिरिक्त वर्ष लगाना

पड़ेगा। जिससे वर्तमान व्यवस्था में कम से कम उलट-फेर करना पड़े, ऐसे उपाय के रूप में यह सुझाव प्रस्तुत किया गया है कि विश्वविद्यालय से पूर्व की यह कक्षा उन कालिजों में ही लगायी जाय, जिनमें इस समय दो वर्ष के इंटरमीजियेट के पाठ्यक्रम के बाद दो वर्ष का उपाधि का पाठ्यक्रम रहता है। इसके लिए केवल इतना परिवर्तन करना आवश्यक होगा कि जहाँ अब दो वर्ष जमा दो वर्ष का पाठ्यक्रम है, वहाँ एक जमा तीन वर्ष का पाठ्यक्रम कर देना पड़ेगा। जिन विश्वविद्यालयों में उपाधि का पाठ्यक्रम तीन वर्ष का है, उनके लिए भी इस विश्वविद्यालय में पूर्व की कक्षा को विद्यालयों की अपेक्षा कालेजों में रखना अधिक सरल होगा।

परन्तु विचारकों का एक वर्ग ऐसा भी है, जो यह चाहता है कि यह अतिरिक्त वर्ष की कक्षा विद्यालयों में ही लगायी जाय। इसके लिए उनकी मुख्य युक्ति यह है कि इस अतिरिक्त वर्ष में जो पढ़ाई होगी, वह विद्यालय की शिक्षण पद्धति के अनुसार होनी चाहिये। विश्वविद्यालय में अध्यापक सौ या इससे भी अधिक छात्रों की कक्षा में भाषण देता है। विद्यार्थियों से यह आशा की जाती है कि वे अध्यापक के भाषण में से जिन बातों को संगत और महत्व-पूर्ण समझें, उन्हें स्वयं ही चुन लें। विद्यालय की अध्यापन प्रणाली में शिक्षक से यह आशा की जाती है कि वह उसे सौंपे गये सब छात्रों पर व्यक्तिशः ध्यान देगा और उनका उचित पथ-प्रदर्शन करेगा। यही मुख्य कारण है कि विद्यालयों में कक्षा में केवल तीस या चालीस छात्र रहते हैं, जबकि कालेज की कक्षाओं में संख्या इससे दुगुनी या तिगुनी तक होती है। इस विश्वविद्यालय से पूर्व की कक्षा को विद्यालय में रखने के पक्ष में एक और युक्ति यह है कि यह कक्षा माध्यमिक शिक्षा काल की सबसे ऊँची कक्षा होगी, इसलिए विद्यालय में इस पर जितना ध्यान दिया जा सकेगा, उतना कालेज में कदापि नहीं दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त विद्यालय में ही इस कक्षा को लगाने से छात्रों में नेतृत्व के गुण परिपुष्ट होने का अधिक अवसर रहेगा और कालेज में कम। परन्तु यह एक ऐसा मामला है, जिसके निर्णय का भार राज्य सरकारों पर छोड़ा जा सकता है कि वे अपने सम्बद्ध विश्वविद्यालयों से विद्यालयों और कालिजों में उपलब्ध सुविधाओं को दृष्टि में रखकर परामर्श करने के बाद जो उचित समझें, निश्चय कर लें।

७

वैसे तो शिक्षा की सभी स्थितियों में अध्यापक का कार्य बहुत महत्वपूर्ण रहता है, परन्तु माध्यमिक शिक्षा में कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं, जिनके कारण इस शिक्षा काल में अध्यापक का कार्य और भी अधिक निर्णायक तथा महत्वपूर्ण हो उठता है। प्रारम्भिक विद्यालयों में अध्यापकों के सिर पर भारी जिम्मेदारी रहती है; क्योंकि वे उन्हें सौंपे गये छोटे बालकों के परिपोषण को निर्धारित करते हैं। परन्तु बालक कुल मिलाकर सत्यवादी होते हैं और शिक्षा ग्रहण करने को तैयार रहते हैं। वे हर हालत में अध्यापक द्वारा बनाये गये अनुशासन को स्वीकार करने के लिए अधिक आसानी से तैयार हो जाते हैं। दूसरी सीमा पर, विश्वविद्यालयों तथा उच्चतर अध्ययन की अन्य संस्थाओं में विद्यार्थी अध्यापक से बहुत कुछ स्वतन्त्र हो जाते हैं। वे अपनी पढ़ाई अपने आप करते हैं और अध्यापक से केवल सामान्य पथप्रदर्शन और शिक्षा निर्देशन की ही आशा रखते हैं। साथ ही वे अपेक्षाकृत परिपक्व हो चुके होते हैं और अध्यापक को उन पर निरन्तर ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु माध्यमिक शिक्षाकाल में छात्रों में छोटे बालकों की-सी शिक्षा ग्रहण करने की भावना और अध्यापक पर आश्रित रहने की प्रवृत्ति तो रहती नहीं, और दूसरी ओर कालेज के विद्यार्थियों की-सी परिपक्वता और स्वाधीनता की भावना उनमें परिपुष्ट नहीं हुई होती। विद्यमान मूल्यों के प्रति किशोरों का अविश्वास उनमें भरा होता है, और वे निरन्तर विद्रोह और अशान्ति की मनोदशा में रह रहे होते हैं। उनमें यौवन का अधीर आदर्शवाद भरा होता है और वे संसार को अपने स्वप्नों के अनुकूल नये सिरे से गढ़ डालना चाहते हैं। उनके अध्यापक या तो उनके पूजनीय नायक बन जाते हैं, या फिर ऐसे अत्याचारी समझे जाने लगते हैं, जिनके आदेशों का उल्लंघन हर हालत में किया ही जाना चाहिये। इसलिए शिक्षा की अन्य किसी भी दशा में यह बात इतनी आवश्यक नहीं है जितनी कि माध्यमिक शिक्षा काल में, कि अध्यापकों में बुद्धिमत्ता और धैर्य होना चाहिये, और उनमें एक दृढ़विश्वास होना चाहिये, जिसके द्वारा वे उन्हें सौंपे गये छात्रों का उचित पथ प्रदर्शन कर सकें।

इस प्रकार के प्रयत्न में मुख्याध्यापक (हैड मास्टर) को काफी निर्णायक कर्तव्य पूरा करना होगा। विद्यालय की उत्कृष्टता और विद्यालय का वातावरण

मुख्यतया उसके व्यक्तित्व और उसकी रुचियों पर निर्भर है। यदि विद्यालय का अध्यक्ष सतर्क, कार्यक्षम और सहानुभूतिशील हो, तो सारे विद्यालय का वातावरण सुधरा रहता है। परन्तु यदि किसी अच्छे मुख्याध्यापक का समर्थन प्राप्त न हो, तो ऊर्जस्वी और भली-भाँति प्रशिक्षित अध्यापक भी चाहते हुए भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। बहुत-से मुख्याध्यापक बड़े अच्छे विचारों को लेकर अपना कार्य प्रारम्भ करते हैं, परन्तु सहानुभूतिहीन परिवेश (ऐनवायरनमैन्ट) और दिनचर्या के बोझ के कारण उनका प्रारम्भिक उत्साह धीमे-धीमे मन्द पड़ता जाता है ; और ऐसे अधिकांश मुख्याध्यापक विद्यालय के काम को बँधी गत पर चलाते रहने में ही सन्तोष अनुभव करने लगते हैं।

सहानुभूतिहीन सामाजिक पृष्ठभूमि के अतिरिक्त सभी अध्यापक, और मुख्याध्यापक भी इसका अपवाद नहीं हैं, उस एकरसता से ग्रस्त रहने लगते हैं, जो कक्षाओं को पढ़ाने के काम में बनी रहती है। विश्वविद्यालयों में कक्षा अध्यापन की यह एकरसता इस कारण अंशतः कम हो जाती है कि वहाँ अपने ज्ञान की सीमाओं को विस्तृत करते जाने के लिए निरन्तर प्रेरणा मिलती रहती है। परन्तु विद्यालयों में इस प्रकार का एकरसता से छुटकारा देने वाला कोई उपाय नहीं है। विद्यालयों के अध्यापक सामान्यतया विद्यार्थियों को केवल उतना ज्ञान देकर सन्तुष्ट हो जाते हैं, जितना समाज की प्राचीन परम्परा (विरासत) का अंग बन चुका है। अध्यापक के काम की नवीनता बहुत जल्दी समाप्त हो जाती है और फिर एक बिल्कुल निर्जीव एकरसता छाने लगती है। एक बार जब अध्यापक को अपने काम में रुचि न रहे, तो फिर वह अपने छात्रों में अध्ययन के प्रति किस प्रकार रुचि जाग्रत कर सकता है ? और किस प्रकार उस रुचि को बनाये रख सकता है ? इसलिए यह आवश्यक है कि अध्यापक को इस बँधी दिनचर्या की एकरसता से छुटकारा पाने में और ऐसे नये अनुभव प्राप्त करने में सहायता दी जाय, जिनसे कि वह अपने काम को और अच्छे ढंग से कर सके।

हाल ही में भारत में इस समस्या को हल करने का एक प्रयत्न किया गया है। अध्यापकों की संख्या इतनी अधिक है—माध्यमिक विद्यालयों में लगभग २००००० अध्यापक हैं—कि सब अध्यापकों के लिए पर्याप्त सुविधाओं का प्रबन्ध करना असम्भव है। परन्तु यह अनुभव किया गया कि इस कार्य का

प्रारम्भ मुख्याध्यापकों से होना चाहिये। १९५३ में शिमला में, जो पहले भारत की ग्रीष्म कालीन राजधानी थी, एक सैमिनार-सह-ग्रीष्म कैम्प का आयोजन किया गया था, जिसमें विभिन्न राज्यों के मुख्याध्यापकों को परस्पर मिलने-जुलने, विचार-विनिमय करने, अपने अनुभवों का आदान-प्रदान करने और समान रुचि के विषयों का विवेचन करने का अवसर मिल सके। इस योजना से उन्हें अपनी प्रतिदिन की दिनचर्या से भी छुटकारा मिल सका। अध्यापकों के आर्थिक साधन इतने नहीं होते कि वे लम्बी यात्रा कर सकें। अपने राज्य से बाहर की यात्रा भी थोड़े-से मुख्याध्यापक ही कर पाते हैं और किसी पर्वतीय स्थान पर जाकर छुट्टियाँ बिताने का विचार भी उनमें से अनेक के लिए एक असम्भव स्वप्नमात्र है। इसलिए यह आशा की गयी थी कि इस प्रकार का अवसर दिये जाने से उनमें कुछ नयी रुचि और नया उत्साह जाग्रत होगा। दूर-दूर फैले हुए राज्यों के मुख्याध्यापकों का परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क भी उनमें सच्चा राष्ट्रीय दृष्टिकोण परिपुष्ट करने में सहायक होगा। इस प्रकार ये सैमिनार-सह-ग्रीष्म कैम्प सारे देश में शिक्षण सम्बन्धी विचार और व्यवहार में अधिकाधिक एकरूपता लाने में सहायक होंगे।

कुछ और भी कारण थे, जिनके कारण इन सैमिनार-सह-कैम्पों को चालू करना उचित समझा गया। अनेक प्रकार की कठिनाइयों और बाधाओं के होते हुए भी देश में ऐसे अनेक मुख्याध्यापक हैं जो बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। परन्तु दुर्भाग्य से उनके इस अच्छे काम का पता प्रायः उनके तात्कालिक परिवेश अर्थात् आस-पास के लोगों के अतिरिक्त और किसी को नहीं चल पाता। सब मुख्याध्यापकों के परस्पर मिलने-जुलने से इन कैम्पों में भाग लेने वाले लोगों का अनुभव बढ़ेगा और इस प्रकार अलग-अलग प्रदेशों में परिपुष्ट हुई कुछ सर्वोत्तम पद्धतियों और विचारों को सारे देश में पहुँचा पाना सम्भव होगा। राज्य सरकारों से अनुरोध किया गया था कि वे इस सैमिनार-सह-कैम्प में अपने अच्छे से अच्छे मुख्याध्यापक भेजें। राज्यों द्वारा अच्छे-अच्छे मुख्याध्यापकों का चुनाव उन मुख्याध्यापकों की विशेष कार्य क्षमता की स्वीकृति का चिह्न था और इसका उद्देश्य यह था कि अन्य मुख्याध्यापकों को भी अपने विद्यालयों के सुधार के लिये विशेष प्रयत्न करने का प्रोत्साहन मिले।

यह परीक्षण इतना अधिक सफल हुआ कि यह निश्चय किया गया कि

इस प्रकार के सैमिनार-सह-कैम्पों को माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के कार्यक्रम का एक नियमित अंग बना दिया जाय। तदनुसार १९५४ में प्रादेशिक आधार पर दस अन्तर्राज्यीय कैम्प लगाये गये और १९५५ में भी दस और कैम्प लगाने की योजना बनायी गयी थी। राज्य सरकारों ने भी इसी प्रकार के सैमिनार-सह-कैम्प लगाने प्रारम्भ कर दिये थे। यह आशा की जाती है कि अगले पाँच वर्षों में तीन या चार हजार मुख्याध्यापकों को केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार द्वारा लगाये गये किसी न किसी सैमिनार-सह-कैम्प में भाग लेने का अवसर मिल जायगा।

शीघ्र ही यह भी अनुभव किया गया कि मुख्याध्यापकों का इस प्रकार एकत्रित होना तो मूल्यवान है ही, परन्तु पूरी सफलता प्राप्त करने के लिए निदेशालय के तथा निरीक्षक कर्मचारियों को भी इसमें सम्मिलित करना आवश्यक है। यह सम्भव है कि मुख्याध्यापक लोग कुछ नवीनताओं और नये परीक्षणों के सुझाव प्रस्तुत कर सकें, परन्तु यदि निदेशालय इन सुझावों का स्वागत न करे, या कम से कम उन्हें सहन करने को तैयार न हो, तो विद्यालय के प्रबन्धक बहुत शीघ्र उन परीक्षणों के सम्भावित परिणामों के सम्बन्ध में धीरज छोड़ बैठते हैं। शिमला में हुए पहले ही सैमिनार-सह-कैम्प में विभिन्न राज्यों के निदेशालयों को आने और कुछ समय तक इस कैम्प में भाग लेने के लिए निमन्त्रित किया गया था। १९५४ और १९५५ में हुए प्रादेशिक सैमिनारों में निरीक्षक कर्मचारियों को और अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया था। राज्यों की ओर से किये जाने वाले सैमिनारों में भी निरीक्षक कर्मचारियों के उपस्थित रहने की व्यवस्था की जा रही है। इसके अतिरिक्त लगभग ये सभी सैमिनार-कैम्प शिक्षा मंत्रियों, उपकुलपतियों तथा शिक्षा जगत् के अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों को आकृष्ट कर पाने में समर्थ हुए। वे लोग बहुत देर तक अवश्य नहीं ठहरे, फिर भी उनका एक दिन का आना भी मुख्याध्यापकों के लिए प्रोत्साहनप्रद सिद्ध हुआ और आगन्तुकों को उससे काफी कुछ सीखने को मिला।

अब इसी प्रकार के सैमिनार प्रशिक्षण कालेजों के प्रिंसिपलों के लिए भी प्रारम्भ किये गये हैं। पहिले बताये जा चुके कारणों से माध्यमिक विद्यालयों के सब अध्यापकों के लिए इस प्रकार के कैम्पों की व्यवस्था कर पाना अभी तक सम्भव नहीं हुआ। फिर भी इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि एक

ही जिले के विद्यालयों के एक ही विषय के अध्यापकों के लिये सप्ताह के अन्त में विचार-विमर्श-गोष्ठियों का संगठन किया जाय। भारत जैसे बड़े देश में, जिसमें कि इतनी सारी राज्य सरकारें हैं, इस काम को भी पूरा करने में काफी समय लगेगा और फिर भी यह पूरी तरह सन्तोषजनक नहीं हो सकेगा। इसी कारण अब प्रशिक्षण कालेजों पर ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है। यह अनुभव किया गया है कि यदि इस प्रकार के कालेजों के प्रिंसिपल मुख्याध्यापकों के कैम्पों में भाग लें और अपने भी विशेष कैम्प लगायें, तो इससे प्रशिक्षण कालेजों के वातावरण में बहुत परिवर्तन हो जायगा; क्योंकि वे प्रिंसिपल लोग इस बात को भली भाँति अनुभव कर सकेंगे कि माध्यमिक विद्यालय के मुख्याध्यापक को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

प्रशिक्षण कालेजों की प्रभावोत्पादकता को बढ़ाने के लिए एक और प्रस्ताव किया गया है, जिसका यहाँ विशेष रूप से उल्लेख कर देना उचित है। वह प्रस्ताव यह है कि कुछ चुने हुए प्रशिक्षण कालेजों में एक नये ढंग की विस्तार सेवा (ऐक्स्टैन्शन सर्विस) चालू की जाय। इन कालेजों का अपने-अपने क्षेत्रों के कुछ उच्च विद्यालयों से एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध बना दिया जायगा। आशा की जाती है कि इससे प्रशिक्षण के सब कार्यक्रमों पर दुहरा प्रभाव पड़ेगा। अब तक प्रशिक्षण कालेज ऐसे स्थान बने रहे हैं, जहाँ पर लोग—चाहे वे अध्यापन का कार्य कर रहे हों, या फिर अध्यापन कार्य के लिये युवक उम्मीदवार हों—प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए आते हैं। इस नये प्रस्ताव के अनुसार इस काम के लिए चुना गया प्रत्येक कालेज अपने कार्यक्षेत्र में विद्यमान सब उच्च विद्यालयों तक पहुँचा करेगा। इस प्रकार एक ओर तो प्रशिक्षण केवल व्यक्तिशः अध्यापकों तक को ही प्राप्त नहीं होगा, बल्कि समूचे विद्यालय को प्राप्त होगा; और दूसरी ओर प्रशिक्षण कालेज का इस प्रकार विस्तार होने से वह विद्यालय के जीवन के अन्दर तक पहुँच सकेगा। इस प्रकार प्रशिक्षण कालेज नये भरती होने वाले अध्यापकों की किस्म को सुधार कर और अध्यापन व्यवसाय में पहले से विद्यमान अध्यापकों के दृष्टिकोण में नया परिवर्तन ला कर एक इस प्रकार की निःशब्द क्रान्ति प्रारम्भ करने में सहायक हो सकते हैं, कि जिससे हमारे वर्तमान माध्यमिक विद्यालय इतने अधिक परिवर्तित हो जायँ कि उनको पहचान पाना ही कठिन हो जाय।

अध्याय ४

समाज शिक्षा की धारणा

यह बात, कि राज्य को सब नागरिकों को शिक्षा देने की व्यवस्था करनी चाहिये, बहुत हाल में ही व्यापक रूप से स्वीकृत की गयी है। फिर भी यह बात बड़ी आश्चर्यजनक है कि इस उत्तरदायित्व को पहचानने में इतना लम्बा समय लगा। शारीरिक सामर्थ्य की दृष्टि से सृष्टि के क्रम में मनुष्य का स्थान काफी नीचे है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी बहुत ही दुर्बल हैं। फिर भी यदि उसने शेष सृष्टि पर विजय प्राप्त की है, तो इसका रहस्य उसके इस सामर्थ्य में निहित है कि वह वर्तमान और अतीत की पीढ़ियों के दूसरे लोगों के अनुभव से लाभ उठाकर अपने अनुभव को बढ़ाता जाता है। शिक्षा की सबसे सीधी-सादी परिभाषा यह की जा सकती है कि यह वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा बाबा आदम के जमाने से लेकर व्यक्ति और समाज के अनुभव में इस प्रकार की वृद्धि होती रही है।

इस अर्थ में शिक्षा मानवीय प्रगति के लिये और वस्तुत: मानवीय अस्तित्व के लिए एक अनिवार्य शर्त बनी रही है। इस बात को अतीत काल में इतने व्यापक रूप से नहीं पहचाना गया, इसका कारण यह था कि अधिकांश प्रारम्भिक समाजों की रचना इस ढंग की थी कि जिसमें कुछ थोड़े-से लोगों का प्रभुत्व रहता था। इस प्रकार के समाजों में—चाहे वे राजतन्त्रात्मक हों या कुलीन तन्त्रात्मक, चाहे वे धार्मिक पुरोहित वर्ग से शासित हों अथवा कुछ थोड़े-से सामन्तों के द्वारा—एक बड़ा स्पष्ट ढंग का वर्गतन्त्र(हियरार्की) विद्यमान रहता

था; और सभी निर्णय अपेक्षाकृत कुछ थोड़े-से लोगों द्वारा किये जाते थे। इसलिए उस समय समाज के लिए काम कर पाना, और यहाँ तक कि उन्नति कर पाना उस दशा में भी सम्भव था, जबकि शिक्षा और उसके फलस्वरूप होने वाला अनुभव का विस्तार सब लोगों को प्राप्त न भी हो सके। परन्तु आजकल स्थिति बिल्कुल भिन्न है। निर्णय करने का कार्य अब भी थोड़े-से लोगों के हाथों में है, परन्तु इन थोड़े-से लोगों को अपनी शक्ति और अधिकार बहुमत को मनाकर ही प्राप्त होता है, भले ही यह न कहा जा सके कि वह शक्ति और अधिकार बहुमत की स्वेच्छापूर्ण सहमति से प्राप्त होता है। सबसे अधिक शक्तिशाली अधिनायक (तानाशाह) भी पूरी तरह और सर्वदा जनता की इच्छा के प्रतिकूल नहीं जा सकता। कुछ थोड़े-से समय के लिये और कुछ थोड़े-से विशिष्ट प्रश्नों पर उसके निर्णय भले ही मान लिये जायँ, परन्तु लम्बी अवधि में उसकी नीति की मुख्य दिशा का निर्धारण उन लोगों के, जिनके ऊपर शासन करने का वह दावा करता है, चरित्र और स्वभाव द्वारा ही निर्धारित होता है और होना भी चाहिये।

इसलिए भारत जैसे देश में, जिसने अपने लिए प्रजातन्त्र को अपने जीवन-पथ के रूप में अंगीकार किया है, जनता की शिक्षा अत्यधिक वांछित वस्तु होनी चाहिये। प्रजातन्त्र केवल उसी दशा में सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है, जबकि देश के सब लोगों को सामान्य समस्याओं का कुछ-कुछ ज्ञान हो, और विशेषज्ञों के अपेक्षाकृत छोटे-छोटे समूहों को अपने विषय का विशेष और गम्भीर ज्ञान हो। ज्ञान की यह गम्भीरता नेतृत्व के वर्गतन्त्र में उनकी स्थिति के अनुसार ही होनी चाहिये। आधुनिक परिस्थितियों ने सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता को और भी अधिक तीव्र बना दिया है। विज्ञान की प्रगति ने सारे संसार को एक परिवार के रूप में परिवर्तित करके हमारे अनुभव के क्षेत्र को अत्यधिक विस्तृत कर दिया है। साथ ही इस विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में विनाश के ऐसे साधन दे दिये हैं, जिनके द्वारा मानव जाति का नाम-निशान मिटाया जा सकता है। सारे संसार में लोगों में परस्पर बढ़ते हुए सम्बन्धों के कारण भारतीय जनता पर एक और महान् दायित्व इसलिए भी आ पड़ा है कि भारत ने प्रजातन्त्रात्मक जीवन प्रणाली को अपनाने का निश्चय किया है। यदि भारतीय प्रजातन्त्र को वास्तविक बनाना

है, तो देश के सभी लोगों को भारत और संसार के सम्बन्ध में जानकारी होनी चाहिये ।

हम प्रायः यह समझते हैं कि प्रजातन्त्र और वर्गतन्त्र साथ-साथ नहीं रहते। परन्तु प्रजातन्त्र का यह अर्थ नहीं है, और हो भी नहीं सकता, कि यह सब लोगों का शासन है; अपितु इसका केवल इतना अर्थ होता है कि इसमें सब लोगों को शासन करने का अवसर रहता है। प्रजातन्त्र में भी कोई एक नेता या नेताओं का एक ऐसा दल होना चाहिये, जो राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न स्तरों पर निर्णय करने में समर्थ हो। पुराने समाज के वर्गतन्त्रात्मक रूपों में नेतृत्व जन्म, पद या सम्पत्ति का एक आकस्मिक संयोग मात्र ही होता था। प्रत्येक दशा में यह नेतृत्व अपेक्षाकृत थोड़े और सीमित वर्ग के लोगों के हाथों तक ही रहता था। आज सब स्तरों तक नेतृत्व का अवसर समाज के सब सदस्यों के लिए खुला है। प्रजातन्त्र में सब लोगों को नेतृत्व करने का अवसर प्राप्त रहता है, वास्तविक नेतृत्व प्राप्त नहीं रहता।

प्रजातन्त्र में समाज के जीवन में शिक्षा विस्तृत रूप से व्याप्त रहनी चाहिये। इसके लिए यह आवश्यक है कि नयी पीढ़ी के लिए सार्वजनीन निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाय। यह बात भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि सार्वजनीन निःशुल्क शिक्षा की धारणा का विकास भी जनता में मतदान के विस्तार के बाद ही हुआ है। बालकों की शिक्षा अधिकाधिक ऐसी होती जा रही है कि सबसे पहले उसके लिए राष्ट्र के साधनों का उपयोग किया जाना चाहिये। परन्तु बच्चों के बड़ा होने में समय लगता है; और इस बीच के समय में संसार की घटनाएँ रुकी नहीं रहेंगी। इस प्रकार उन देशों में, जहाँ शिक्षा का प्रचार नहीं है और जिन्होंने प्रजातन्त्रात्मक जीवन प्रणाली को अपना लिया है, वयस्क लोगों की निरक्षरता को समाप्त करने के लिए विशेष कार्यक्रमों का प्रारम्भ करना आवश्यक हो गया है। केवल इसी उपाय से शिक्षा की सुविधाओं के अभाव के फलस्वरूप अतीत में उत्पन्न कमियों को पूरा किया जा सकता है।

वयस्कों की शिक्षा के कार्यक्रम पर विशेष रूप से बल देने का एक और भी कारण है। बालकों की अनिवार्य सार्वजनीन शिक्षा का कोई भी कार्यक्रम शायद वयस्कों की सचेष्ट सहायता के बिना सफल नहीं हो सकता। राज्य शिक्षा को अनिवार्य बनाने के सम्बन्ध में कानून पास कर सकता है, परन्तु जब

तक लोग इस प्रकार के कानूनों को स्वीकार न करें, तब तक कोई भी राज्य सेना या पुलिस की सहायता से इस प्रकार के कानूनों को लागू नहीं कर सकता। यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए देश आर्थिक दृष्टि से भी पिछड़े होते हैं। ऐसी दशा में परिवार की आय में थोड़ी-सी वृद्धि होने से भी काफी फर्क पड़ जाता है और बालकों को छोटी उम्र में ही कुछ न कुछ कमाई का धन्धा शुरू कर देना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में बालक को विद्यालय भेजने का निश्चय करना परिवार की ओर से जानते-बूझते कुछ बलिदान करने जैसा ही होता है। यदि वयस्कों को इस प्रकार के बलिदान की आवश्यकता अनुभव करानी हो, तो उसके लिए वयस्क-शिक्षा का एक विशाल कार्यक्रम प्रारम्भ किया जाना आवश्यक है।

२

१९४७ में जब भारत स्वतन्त्र हुआ, तब मुश्किल से यहाँ की १५ प्रतिशत जनता साक्षर थी। यदि केवल वयस्कों को ही गिना जाय—और प्रजातन्त्र में निर्णय करने का अधिकार केवल वयस्कों के ही हाथ में होता है—तो साक्षर लोगों की प्रतिशतता और भी कम थी; शायद १० प्रतिशत से भी कम। दूसरे शब्दों में प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र में जिन लोगों ने प्रभुसत्ता के अधिकार पर प्रयोग करना था, उनमें से ९० प्रतिशत में अपने देश और देश से बाहर की दशाओं के सम्बन्ध में जानकारी संग्रह करने के साधन अर्थात् शिक्षा का अभाव था। साथ ही यह बात भी स्वतः सिद्ध है कि आर्थिक या राजनीतिक क्षेत्र में कुछ भी निर्णय करने के लिए इस प्रकार की जानकारी का होना अनिवार्य है। एक कहावत है कि लोगों को उसी प्रकार का शासन प्राप्त होता है, जिसके कि वे योग्य होते हैं। यह इतिहास का एक चमत्कार ही है कि भारत ने, जिसकी जनता का ९० प्रतिशत भाग विश्व की समस्याओं से अनभिज्ञ था, एक ऐसी सरकार चुनी, जो आधुनिक संसार की आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील थी और विश्वशान्ति स्थापित करने के लिए कटिबद्ध थी।

इसका एक कारण यह है कि साक्षरता के अभाव के बावजूद हमारे देश में लोकप्रिय शिक्षा काफी व्यापक रही है, जो मुख्यतया मौखिक रही है। विदेशों से आने वाले लोग प्रायः निरक्षर भारतीयों तक में पाई जाने वाली संस्कृति की

भावना और सभ्यतापूर्ण व्यवहार को देखकर बहुत प्रभावित हुए हैं और जब भारतीय लोग भी इस सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो वे भी कम प्रभावित नहीं होते। पहली दृष्टि में निरक्षरता और संस्कृति एक दूसरे की विरोधी जान पड़ती हैं, परन्तु इस विरोध का समाधान तब हो जाता है, जब हम यह स्मरण करते हैं कि भारत में मौखिक शिक्षा की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। पुरानी प्रथाएँ, प्राचीन विश्वास, कहावतें और कहानियाँ, पुराण और स्मृतियाँ कर्ण-परम्परा से ही पीढ़ी दर पीढ़ी चलती चली आ रही हैं और किसी सीमा तक उन्होंने अक्षर ज्ञान द्वारा दी जाने वाली शिक्षा के अभाव को पूरा कर दिया है।

इस प्रकार की मौखिक शिक्षा अतीत काल में पर्याप्त समझी जा सकती थी, जबकि संसार एक दूसरे से पृथक् अनेक समाजों में बँटा हुआ था। सम्पर्क-स्थापन की कठिनाइयों के कारण प्रत्येक समाज कुछ कम या कुछ अधिक अपने आप तक ही सीमित रहता था। उन समाजों में जो समस्याएँ कभी उठ खड़ी होती थीं, उनके समाधान के लिए पुरानी रीतियाँ और रूढ़ियाँ और परम्परागत विश्वास पर्याप्त होते थे। आजकल, जबकि अलग-अलग दृष्टिकोणों और पृष्ठ-भूमियों वाले समाज एक दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क में आ रहे हैं और संसार दिनों-दिन अधिकाधिक एक होता जा रहा है, रीतियाँ और परम्परागत विश्वास नई परिस्थितियों की चुनौती का सामना करने में और नई समस्याओं का समाधान करने में असमर्थ हैं। एक बात तो यह है कि एक दूसरे से भिन्न रीतियों और विश्वासों के अस्तित्व के कारण उनमें से प्रत्येक का प्रभाव उनके मानने वालों पर कम और कम होता जाता है। दूसरी बात यह है कि एक समाज के विश्वास और प्रथाएँ, चाहे वे कितने ही बद्धमूल क्यों न हों, दो भिन्न-भिन्न समाजों के संघर्ष से उत्पन्न हुई समस्याओं का समाधान नहीं कर सकतीं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि परम्परागत विश्वासों को, विवेक को जाग्रत करके सबल बनाया जाय। मौखिक शिक्षा का स्थान भी अधिकाधिक लिखित शिक्षा को लेना चाहिये। मौखिक शिक्षा का वाहन स्मृति है। आजकल तथ्यों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गयी है, और वे इतने पेचीदे हो गये हैं कि केवल स्मृति उन सबका भार नहीं ढो सकती। जो शिक्षा आदिमकालीन मनुष्य को प्राकृतिक शक्तियों पर विजय पाने में सहायता देती थी, उसे आज विभिन्न सामाजिक

शक्तियों और विचारों के संघर्ष से उत्पन्न समस्याओं पर विजय पाने में सहायता देनी चाहिये। शिक्षा के द्वारा मनुष्य की लचक भी बढ़नी चाहिये, जिससे मनुष्य विदेशों से आने वाली नयी-नयी बातों को उस सीमा तक ग्रहण कर सके, जहाँ तक कि वे मानव कल्याण में सहायक हैं।

भारत के सौभाग्य से यहाँ का सामाजिक वातावरण शिक्षा के लिए सदा अनुकूल रहा है। प्राचीन भारतीय परम्परा में ब्राह्मण का, जो मुख्य रूप से अध्यापक होता था, स्थान सामाजिक वर्गतन्त्र में सबसे ऊपर था। मध्य युग में भी मुस्लिम मौलवियों को इसी प्रकार का आदर प्राप्त था। इस समय ब्राह्मण को पहले जैसा आदर तो प्राप्त नहीं था, परन्तु उसे समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था। आधुनिक भारत में यदि कोई बात हुई है, तो वह यह कि शिक्षा के लिए सामान्य लालसा और अधिक तीव्र हो गयी है। जो वयस्क स्वयं निरक्षर हैं, वे भी अपने बच्चों को शिक्षा दिलाने और स्वयं शिक्षा प्राप्त करने के लिए उत्कंठित हैं। इस कारण प्रशासकों का कार्य काफी सरल हो जाता है। वस्तुतः भारत में स्थिति यह है कि राज्य जितनी जल्दी और जितनी शिक्षा देने की व्यवस्था कर सकता है, लोग उससे कहीं अधिक जल्दी और कहीं बड़े पैमाने पर शिक्षा प्राप्त करने के लिए लालायित हैं।

राजनीतिक चेतना की वृद्धि और जनता को सत्ता की प्राप्ति के साथ-साथ ज्यों-ज्यों सब स्तरों पर शिक्षा में वृद्धि हुई है, त्यों-त्यों सभी क्षेत्रों में, और विशेषरूप से वयस्क शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा की माँग बहुत बढ़ी है। १९३७ से लेकर बहुत कुछ प्रांतीय आधार पर, और १९४८ के बाद से सम्पूर्ण राष्ट्रीय पैमाने पर वयस्कों की निरक्षरता को समाप्त करने के लिए महान् प्रयत्न किया जा रहा है। अब दिनोंदिन यह भी बात स्वीकार की जा रही है कि भारत की गरीबी के मुख्य कारणों में से एक यह भी है कि यहाँ शिक्षा का अभाव है। यह कहा जाता है कि कोई भी देश प्रकृत्या सम्पन्न या दरिद्र नहीं होता। किसी भी देश के लोग वहाँ विद्यमान साधनों का जैसा उपयोग करते हैं, वह देश वैसा ही हो जाता है। जापान जैसा देश, जो प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से सम्पन्न नहीं है, संसार के अत्यधिक उद्योगीकृत और समृद्ध देशों में से एक गिना जाता है, क्योंकि वहाँ के लोगों ने अपने प्रयत्न से उसे वैसा बनाया है। इसके विपरीत

एशिया और अफ्रीका के उष्ण कटिबन्ध के देश विशाल प्राकृतिक सम्पत्ति के होते हुए भी दरिद्र और दीन दशा में पड़े हैं। भारतीय जनता ने भी इस बात को अनुभव कर लिया है कि आर्थिक समृद्धि और राजनीतिक प्रयत्न के लिए भी व्यापक शिक्षा बहुत आवश्यक है।

१९३७ के बाद से वयस्क शिक्षा के आन्दोलनों की सफलताओं और असफलताओं का विहंगावलोकन काफी मनोरंजक और ज्ञानवर्धक रहेगा। प्रान्तीय स्वशासन और देहाती क्षेत्रों में मताधिकार के प्रसार के फलस्वरूप वयस्क शिक्षा को तात्कालिक और बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला। परन्तु यह जोश बहुत देर तक बना न रह सका। अंशतः इसका कारण यह था कि १९३९ में दूसरा विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया। पर इससे भी बड़ा कारण यह था कि वयस्क शिक्षा की धारणा ही अपर्याप्त थी। उस समय सारा जोर केवल साक्षरता पर दिया जाता था; और इस बात पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता था कि वयस्कों और बालकों की रुचियों में अन्तर होता है। इसका परिणाम यह हुआ कि वयस्कों को पढ़ने के लिए जो बालकों की किताबें दी जाती थीं, उनसे वे बहुत जल्दी ऊब उठते थे। इसकी प्रतिक्रिया यह होती थी कि वे साक्षरता के महत्व को बहुत कम समझने लगे। कुछ ऐसे भी कार्यक्रम तैयार किये गये, जिनका उद्देश्य पढ़ाई और लिखाई के माध्यम के बिना ही वयस्कों को शिक्षा देना था। इस प्रकार के परीक्षणों की सफलता स्वभावतः सीमित ही हो सकती थी। बिना अक्षर ज्ञान के शिक्षा अतीत के सीधे-सादे जमाने में उपयोगी हो सकती थी; परन्तु आजकल की पेचीदा परिस्थितियों में साक्षरता शिक्षा का अनिवार्य अंग बन गयी है।

थोड़ा-सा विचार करने से ही यह स्पष्ट बात हो जाती है कि वयस्क साक्षरता के कार्यक्रमों की अपनी कुछ खास समस्याएँ हैं। जिन लोगों ने साक्षरता का अभ्यास बचपन में किया होता है, वे प्रायः उन विशिष्ट कठिनाइयों को अनुभव नहीं कर पाते, जो वयस्क विद्यार्थी के सम्मुख उपस्थित होती हैं। बालक की स्मृतिशक्ति बहुत कुछ फोटो के कैमरे जैसी होती है। उसका अनुभव का कोश परिमित होता है; परन्तु उसकी जिज्ञासा और उत्सुकता असीम होती है। इसलिए उसके वास्ते पढ़ना सीखना एक साहस यात्रा जैसी और आनन्द की वस्तु होती है। वयस्क व्यक्ति इतना कुछ ज्ञान और अनुभव प्राप्त करे होता है, जो

सामान्यतया उसकी अधिकांश आवश्यकताओं के लिए काफी होता है। इस प्रकार उसे अक्षर ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई तात्कालिक प्रेरणा नहीं रहती। वस्तुतः अनेक मामलों में तो उसे पढ़ना सीखने के लिए अपनी जड़ता की आदत और कुछ सीखने के विरुद्ध आंतरिक विरोध पर विजय प्राप्त करनी होती है।

अक्षर ज्ञान कराने की विधि का विकास बालकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर किया गया है। बालक वर्णमाला को चित्रों और या कविताओं के सहारे सीखता है। अक्षर सीखने के लिए किये गये प्रयत्न का प्रतिफल उसके लिये लय और तुक मात्र (अन्त्यानुप्रास) प्रायः पर्याप्त रहता है। साहस की कहानियाँ उसकी और अधिक अनुभव प्राप्त करने की भूख को उत्तेजित करती हैं। परन्तु वयस्क के साथ यह बात नहीं है। इसलिए उनकी कठिनाइयों को हल करने के लिए अनेक प्रकार के उपाय अपनाने की आवश्यकता होती है। एक उपाय यह है कि किसी अक्षर को सिखाने के लिए उन पदार्थों के नाम चुने जायँ, जिनकी आकृति उस अक्षर की बनावट से मिलती-जुलती हो, जिससे वह शब्द प्रारम्भ होता है। कुछ अन्य लोगों का विचार है कि वयस्कों की पढ़ाई का प्रारम्भ यदि वाक्यों से न भी किया जाय, तो कम शब्दों से तो अवश्य ही होना चाहिये; क्योंकि उनका खयाल है कि यदि वयस्कों से एक-एक अक्षर सीखने को कहा जाय, तो उनका ध्यान केन्द्रित नहीं हो पाता। इन सब पद्धतियों का प्रयोग किया गया है और इनसे कहीं कम और कहीं अधिक सफलता मिली है। परन्तु अब तक प्राप्त सारे अनुभव के आधार पर इनमें से किसी भी एक प्रविधि (टैक्नीक) को दूसरी की अपेक्षा निश्चित रूप से अच्छा नहीं कहा जा सकता। सच तो यह है कि सामान्यतया सफलता का मुख्य कारण अध्यापक का उत्साह और सूझ-बूझ ही होती है।

अक्षर ज्ञान की समस्या के साथ ही सम्बद्ध एक और समस्या वयस्कों के लिए उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें तैयार करने की समस्या है। यह बात तो बिलकुल स्पष्ट है कि वयस्कों का काम बालकों के लिए तैयार की गई पुस्तकों से नहीं चलेगा। वयस्क निरक्षर भले ही हों, परन्तु उनका मस्तिष्क बिलकुल परिपक्व होता है। उनकी रुचियाँ और शब्दावली भी बालकों की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत होती है। इसलिए उनके लिये तैयार की गई पुस्तकें सामग्री की दृष्टि

से वयस्कोचित होनी चाहियें; किन्तु उनमें प्रयुक्त किये गये शब्दों में यथासंभव संयुक्त अक्षरों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में भी अनेक पद्धतियों के प्रयोग किये गये हैं। अधिकांश भारतीय वर्णमालाओं में संयुक्त अक्षर होते हैं, जो बालकों के लिए भी सीख पाने कठिन होते हैं और वयस्क नवसाक्षर को तो उन्हें देखकर और भी अधिक डर लगता है। कुछ पाठ्य पुस्तकों में संयुक्त अक्षरों का प्रयोग बिलकुल नहीं किया जाता। इससे उन पुस्तकों में अधिक लचक आ जाती है, क्योंकि उनमें वयस्कों की रुचि के विषय भी सम्मिलित किये जा सकते हैं। एक और पद्धति यह अपनायी गयी है, और इसमें काफी सफलता भी मिली है, कि वयस्कों के लिए पाठ्य पुस्तकों के रूप में सामान्य ज्ञान या इतिहास की पुस्तकें प्रयोग में लायी जायँ। इस पद्धति का यह लाभ हुआ है कि वयस्क को अपने परिपक्व मस्तिष्क के अनुकूल सामग्री मिल जाती है; और जहाँ वह पढ़ने का अभ्यास कर रहा होता है, वहाँ साथ-साथ उसे नया ज्ञान भी प्राप्त होता जाता है।

एक दृष्टि से वयस्कों के लिए पाठ्य पुस्तकों की अपेक्षा भी अधिक महत्व-पूर्ण समस्या उनके लिए बाद में पढ़ने योग्य साहित्य तैयार करने की है। बालक भी यदि अपनी पढ़ते रहने की आदत न बनाये रखें, तो कुछ समय बाद फिर निरक्षर हो जाते हैं। वयस्क लोगों में पढ़ना-लिखना भूल जाने की यह प्रवृति और भी अधिक होती है; इसलिए वयस्कों के पढ़ने के उपयुक्त साहित्य की रचना को अत्यधिक अग्रता (प्रायोरिटी) दी जानी चाहिये। इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि इस प्रकार का साहित्य उच्चकोटि का हो। यह ठीक है कि राज्य इस प्रकार का साहित्य तैयार नहीं कर सकता; परन्तु वह ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में सहायता अवश्य दे सकता है, जिनमें कि स्वस्थ और उत्कृष्ट साहित्य की अधिकाधिक बिक्री हो सके।

अनुभव और वयस्क शिक्षा के विषय पर अधिकाधिक विचार के परिणाम-स्वरूप धीरे-धीरे वयस्क शिक्षा की एक नयी धारणा सामने आयी है। इस धारणा में यह स्वीकार कर लिया गया है कि यदि वयस्क शिक्षा के कार्यक्रम को सफल बनाना है, तो वयस्कों की विभिन्न रुचियों को पूर्ण तृप्त करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। यह सिद्धान्त एक पंचसूत्री कार्यक्रम में निहित है, जिसका उद्देश्य वयस्कों की आवश्यकताओं को यथासम्भव अधिकतम रूप में पूर्ण करना

है। इस कार्यक्रम में पाँच वस्तुओं, (१) साक्षरता (२) स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान (३) वयस्कों के आर्थिक स्तर को उन्नत करने का प्रशिक्षरण (४) अपने कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति सजगता के साथ-साथ नागरिकता की भावना और (५) समाज और व्यक्ति की आवश्यकताओं के अनुकूल मनोरंजन के स्वस्थ रूपों का ज्ञान देने की व्यवस्था की गयी है। इन उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए उन सब साधनों की सहायता ली गयी है, जो आधुनिक विज्ञान द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। क्योंकि इस कार्यक्रम का उद्देश्य व्यक्ति को समाज का पहले की अपेक्षा एक अच्छा सदस्य बनाना है, और साथ ही साथ सारे समाज के जीवन के स्तर को ऊँचा करना है, इसलिए पुराने, केवल साक्षरता के कार्यक्रमों से भेद करने के लिए इसका नाम 'समाज शिक्षा' रखा गया है।

इस प्रकार 'समाज शिक्षा' की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि यह वह पाठ्यक्रम है, जिसके द्वारा लोगों में नागरिकता की चेतना उत्पन्न की जाती है और उनमें सामाजिक सुसंगठितता (सोलिडैरिटी) की भावना वृद्धि की जाती है। समाज शिक्षा बड़ी आयु के लोगों को केवल अक्षर ज्ञान करा कर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाती, बल्कि इसका लक्ष्य सामान्य जनता में एक सुशिक्षित मन का निर्माण करना रहता है। इसके स्वाभाविक परिणाम के रूप में समाज शिक्षा का लक्ष्य यह रहता है कि लोगों में व्यक्तिगत रूप में और समाज के एक सदस्य के नाते अपने अधिकारों और कर्तव्यों की सचेष्ट भावना उत्पन्न की जाय।

३

स्वतन्त्र भारत को सारे देश में फैली हुई वयस्क निरक्षरता की बाधा पर विजय प्राप्त करनी है। देश की जनता के अधिकांश भाग में पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा जीवन बिताने की आकांक्षा भी उत्पन्न की जानी है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अभी बिलकुल हाल तक भी हमारे अधिकांश गाँव मृतप्राय थे। किसान—और वह ही भारतीय जनता का अत्यधिक विशाल भाग है—वर्तमान में बिना किसी तृप्ति के, और भविष्य के लिए बिना किसी आशा के जीवन बिताता था। अनेक बार तो उसे इस बात का भान तक भी नहीं होता था कि उसकी वर्तमान दशा में कोई सुधार भी हो सकता है। भारत के चिर-प्राचीन भाग्य में विश्वास और कर्मफल के सिद्धान्त के कारण उसने

उन परिस्थितियों के साथ भी कुछ समझौता-सा कर लिया था, जो कभी-कभी तो असह्य हो उठती थीं।

लोगों की राजनैतिक शक्ति में वृद्धि होने के साथ गाँवों में एक नयी जाग्रति प्रारम्भ हुई। मताधिकार का देहाती क्षेत्रों में प्रसार होने का परिणाम यह हुआ कि गाँवों में वे लोग भी आने लगे, जिनकी गतिविधि पहले केवल शहरों तक ही सीमित रहती थी। जब गरीब और निरक्षर किसान ने देखा कि तथा-कथित समाज के बड़े लोग उसके दरवाजे पर याचक बन कर आते हैं, तो उसके मन में आत्मगौरव की एक नयी भावना परिपुष्ट होने लगी। यह ठीक है कि शुरू-शुरू में उसे अपने मताधिकार के महत्व का पूरा ज्ञान नहीं था, और कुछ लोग तो मत को एक विक्रय योग्य पदार्थ तक भी समझते थे, और अधिक से अधिक जो कीमत मिल सके, उसके बदले अपना मत दे देते थे। परन्तु अब वह किसान इस बात को अधिकाधिक समझता जा रहा है कि मतदान का अधिकार केवल एक विशेषाधिकार ही नहीं है, बल्कि यह एक उत्तरदायित्व भी है। १९४७ के बाद, और विशेष रूप से पिछले तीन वर्षों में जनता के सभी वर्गों में सार्वजनिक चेतना बहुत अधिक जाग उठी है। १९४८ में समाज शिक्षा की जो नयी धारणा बनायी गयी थी, वह इसी परिपुष्टि की प्रत्याशा (ऐन्टीसिपेशन) मात्र थी।

समाज शिक्षा की इस नयी धारणा की महत्वपूर्ण कड़ियों में से एक है—नागरिकता की भावना का परिपोषण (डैवलपमेंट)। इसके लिए यह आवश्यक है कि लोगों को अपने देश के इतिहास और भूगोल का, और इस देश की सामाजिक दशाओं का ज्ञान हो। इस धारणा में यह भी निहित है कि उन्हें राज्य की कार्य प्रणाली का, और विशेषरूप से अपने मत अर्थात् वोट के अर्थ और मूल्य का ठीक-ठीक ज्ञान हो। शुरू-शुरू की मत को एक विक्रय योग्य पदार्थ समझने की प्रवृत्ति के स्थान पर एक यह नयी चेतना उत्पन्न करनी होगी कि यह मत एक उत्तरदायित्व है, और व्यक्ति की नागरिकता का प्रतीक है। किसी भी प्रजातन्त्रात्मक समाज में नागरिकता का अर्थ जनता की प्रभुसत्ता में हिस्सा लेना होता है। इसलिए मत (वोट) उस प्रभुसत्ता में व्यक्ति के भाग का प्रमाण है।

यह स्पष्ट है कि सामाजिक और राजनीतिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में

इस प्रकार की शिक्षा स्थानीय स्वशासन की कार्यविधि के ज्ञान से प्रारम्भ होनी चाहिये। यही कारण है कि समाज शिक्षा के सब कार्यक्रमों में इस बात पर बड़ा बल दिया गया है कि नागरिक को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान केवल राज्य के सदस्य के रूप में ही न कराया जाय, अपितु उन अनेक छोटे-छोटे समुदायों के सदस्य के रूप में भी कराया जाय, जिनमें राज्य संगठित है। १९५२ के बाद 'सामुदायिक विकास परियोजना' और 'राष्ट्रीय विस्तार सेवा' कही जाने वाली गतिविधियों का बड़ा विकास हुआ है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम का लक्ष्य यह है कि किसी एक समूचे देहाती क्षेत्र को उन अनेक सेवाओं की व्यवस्था करके विकसित किया जाय, जो अब तक केवल शहरों में ही उपलब्ध थी। राष्ट्रीय विस्तार कार्यक्रम का लक्ष्य भी इसी प्रकार की सेवाओं की व्यवस्था अपेक्षाकृत कुछ छोटे पैमाने पर करना है और इसे सामुदायिक परियोजना की ओर पहला कदम समझा जा सकता है। जहाँ इन परियोजनाओं के लिए केन्द्रीय सहायता और पथप्रदर्शन दिया जाता रहा, वहाँ मुख्यरूप से बल इस बात पर दिया गया कि इन्हें पूरा करने के लिए स्थानीय लोगों को प्रोत्साहित किया जाय। इसके फलस्वरूप उस क्षेत्र के लोगों में नेतृत्व और पहल करने (प्रारंभण) की शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। यह प्रस्ताव किया गया है कि समाज शिक्षा के सब कार्यक्रमों को इन राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं के साथ सम्बद्ध कर दिया जाय, जिससे औसत नागरिक के लिए नागरिकता की शिक्षा वास्तविक और ठोस बन सके।

राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं का यह अर्थ है कि जनता के जीवन के स्तर को ऊँचा करने के लिए सब दिशाओं में पूरा प्रयत्न किया जाय। १९४८ में नयी धारणा को स्वीकार कर लेने के बाद समाज शिक्षा का भी यही उद्देश्य रहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज शिक्षा के कार्यक्रमों में व्यक्तिगत और सार्वजनिक स्वास्थ्य के सिद्धान्तों की शिक्षा के साथ-साथ, जिसमें कि स्वच्छ और स्वस्थ जीवन पर विशेष बल दिया जाना चाहिये, आर्थिक उन्नति के उपायों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था होनी चाहिये। वैयक्तिक और सार्वजनिक स्वास्थ्य की उन्नति के लिए समाज के पास बहुत अधिक साधन होने की आवश्यकता है। इसलिए समाज शिक्षा दस्तकारियों की शिक्षा के लिए सुविधाओं का प्रबन्ध करना चाहती है, जिससे स्वास्थ्य सुधार के लिए आवश्यक

सम्पत्ति का उपार्जन समाज कर सके। क्योंकि भारतीय जनता का एक विशाल भाग जीविका के लिए भूमि पर निर्भर रहता है, इसलिए समाज शिक्षा कृषि की उन्नति पर विशेष रूप से ध्यान दे रही है। समाज शिक्षा का प्रयत्न यह भी है कि जिन दिनों भारतीय किसानों को विवश होकर खाली रहना पड़ता है, उन दिनों उन्हें कुछ उपयोगी धन्धे करने का मार्ग दिखाया जाय। देहातों में कार्य के लिए पर्याप्त ऋण नहीं मिल सकता, इसलिए काम में न आ रहे श्रम और अपूर्ण आवश्यकताओं को मिलाकर समाज की सम्पत्ति में वृद्धि करने का प्रयत्न किया जा रहा है। एक शब्द में कहा जाय, तो समाज शिक्षा औसत नागरिक को पूर्णतः और स्वतन्त्रतः जीवन बिताने का ज्ञान प्रदान करने वाला शक्तिशाली साधन है।

यहाँ इतना और कह देना उचित होगा कि समाज शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य निरक्षर वयस्क लोगों में सुशिक्षित मन का निर्माण करना है। शिक्षा पर इस प्रकार बल देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसलिए केवल साक्षरता को पर्याप्त नहीं समझा गया। हाल के दिनों में हमारे सामने ऐसे देशों और जातियों के उदाहरण आये हैं, जो अक्षर ज्ञान की दृष्टि से तो बहुत आगे बढ़ी हुई हैं, परन्तु जातीय या वर्ग पक्षपात के कारण जिनकी शिक्षा अपूर्ण रही है। आज भी संसार में ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, जिनमें अक्षर ज्ञान तो बहुत है, परन्तु लोगों की संस्कृति उससे बहुत घटिया है, जैसी होनी चाहिये और जैसी हो सकती है। संस्कृति के इस प्रकार के अभाव का एक रूप सनसनीखेज पत्रकारिता की होती हुई वृद्धि में, सस्ते ढंग के साहित्य की रचना में, तथा अपरिष्कृत और ग्राम्य ढंग की फिल्मों के प्रदर्शन में प्रकट होता है।

साक्षरता और संस्कृति का अभाव, इन दोनों का साथ-साथ रह सकना मुख्यरूप से इसी युग में पाया जा रहा है। ऐसी स्थिति केवल उसी समय उत्पन्न हो सकती है, जबकि समाज के मनोरंजन की आवश्यकताओं पर समुचित ध्यान न दिया गया हो। औद्योगिक क्रान्ति की सफलता का श्रेय मुख्यरूप से श्रम के विभाजन के सिद्धान्त को था, जिसके फलस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि हो गयी। इसके फलस्वरूप इस सिद्धान्त को जीवन के मामलों पर भी लागू करने का प्रोत्साहन मिला; और इसका परिणाम यह हुआ कि मनोरंजन और कार्य दोनों में बहुत स्पष्ट अन्तर हो गया। परन्तु मनोरंजन

और कार्य, दोनों एक ही जीवन के अलग-अलग रूप हैं, और उन दोनों को इस प्रकार पृथक् कर पाना सम्भव नहीं है। जितना ही अधिक समाज कार्य की चिन्ता में लगता गया, उतना ही अधिक व्यक्ति को मनोरंजन और आमोद-प्रमोद की दृष्टि से अपने साधनों के ऊपर ही निर्भर रहना पड़ता गया। १९३७ में भारत में वयस्क शिक्षा के कार्यक्रमों में प्राप्त अनुभव से यह बात सिद्ध हो गयी कि यदि मनोरंजन को मुख्य केन्द्र न बनाया जाय, तो वयस्क लोग निर-क्षरता को समाप्त करने के प्रयत्न से बहुत जल्दी ही थक जाते हैं। मनोरंजन के द्वारा, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, मनुष्य अपने अवकाश के समय का उपयोग इस रूप में कर सकता है कि फिर जब वह अपने काम पर लौटे, तो उस समय वह बिलकुल तरोताजा हो। इस प्रकार समाज शिक्षा की समस्या बड़े घनिष्ठ रूप से अवकाश की समस्या, अर्थात् खाली छुट्टी के समय के साथ जुड़ी हुई है। अतीत में अवकाश या खाली समय केवल थोड़े-से ही लोगों का विशेषाधिकार था। उन थोड़े-से लोगों को अपने इस विशेषाधिकार का उचित ढंग से उपयोग करने का प्रशिक्षण दिया जाता था और उन्हीं लोगों ने मानवीय कला की अनेक श्रेष्ठ कृतियों का सृजन किया है। परन्तु आज सबके लिए अवकाश प्राप्त कर पाना सम्भव है। किन्तु अनेक लोग यह नहीं जानते कि इस अवकाश का उपयोग किस तरह किया जाय। सुशिक्षित मन की परिभाषा इस रूप में की जा सकती है कि सुशिक्षित मन वही है, जो अपने अवकाश को सृजनशील ढंग से उपयोग कर सके।

समाज शिक्षा के कार्यक्रमों में कला, साहित्य, संगीत, नृत्य तथा अन्य सृजनशील गतिविधियों के माध्यम से भावनाओं का प्रशिक्षण करने का यत्न किया जाता है। इस प्रकार का साहित्य तैयार करने का भी यत्न किया जा रहा है, जिससे सहिष्णुता, सदभावना और आवश्यकताओं को कम करने की प्राचीन भारतीय परम्परा को बनाये रखने में सहायता मिले, किन्तु साथ ही उस प्रकार की कठोरता न रहे, जैसी कि भारत में बाद में चलकर उत्पन्न हो गयी थी। साहित्य, नृत्य, नाटक और संगीत तथा दृश्य कलाओं के क्षेत्र में स्वायत्त (ओटोनोमस) अकादेमियों की स्थापना के द्वारा राज्य यह प्रयत्न कर रहा है कि सब प्रकार के कलाकारों को अपनी सृजनशील आत्म अभिव्यक्ति के लिए अधिक से अधिक अवसर मिले। नवसाक्षर वयस्कों के लिए साहित्य सृजन

की आवश्यकता की ओर कलाकारों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए विशेष पुरस्कारों की घोषणा की गयी है। इस प्रकार के पुरस्कारों के लिए पुस्तकों का चुनाव राज्य के अधिकारी नहीं करते, अपितु साहित्यकारों और समालोचकों की समितियाँ करती हैं, जिनकी सिफारिशें निरपवाद रूप से बिना किसी हेर-फेर के स्वीकार कर ली जाती हैं। यह भी प्रस्ताव किया गया है कि अपने आप में स्वतन्त्र एक नेशनल बुक ट्रस्ट (राष्ट्रीय पुस्तकन्यास) की स्थापना की जाय, जो भारत तथा अन्य देशों के श्रेष्ठ साहित्य के सस्ते संस्करण प्रकाशित करे, अथवा प्रकाशित करने में सहायता दे; और साथ ही उन सब विषयों पर, जिनमें किसी प्रजातन्त्र देश के नागरिक को रुचि हो सकती है, मौलिक पुस्तकें प्रकाशित करे, या करवाने का प्रबन्ध करे।

भारत का सारा इतिहास ही विभिन्न जातियों, विभिन्न दृष्टिकोणों और विभिन्न परम्पराओं में परस्पर मेल-मिलाप करने के प्रयत्नों से भरा है। आधुनिक संसार में परस्पर मेल-मिलाप की यह प्रवृत्ति इसलिए और भी अधिक आवश्यक हो गयी है, क्योंकि विविध राष्ट्रों और देशों के लोग एक दूसरे के सम्पर्क में आ रहे हैं। इसलिए समाज शिक्षा के सभी कार्यक्रमों में मानवीय भ्रातृत्व और सार्वजनीन सदाचार के सिद्धान्तों पर विशेष बल दिया जाता है। इस बात पर भी बहुत अधिक जोर दिया जाता है कि प्रजातन्त्र शासन में आपसी मतभेदों के प्रति सहिष्णुता की आवश्यकता होती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बालकों की शिक्षा में तब तक प्रगति नहीं हो सकती, जब तक कि वयस्क लोगों का प्रयत्न भी उसके साथ-साथ न हो। दूसरी ओर समाज शिक्षा की प्रगति तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि उसका समाज की सामान्य शिक्षणात्मक गतिविधियों से घनिष्ठ सम्बन्ध न हो। इसलिए यह प्रस्ताव रखा गया है कि समाज शिक्षा के सारे कार्यक्रम गाँव में विद्यमान विद्यालय द्वारा ही क्रियान्वित कराये जायँ, जिससे विद्यालय सामाजिक जीवन के केन्द्र बन जायँ। इस सम्बन्ध में लगभग सभी लोग सहमत हैं कि जनता को समाज शिक्षा की नयी प्रेरणा देने के लिए मुख्य उपकरण के रूप में विद्यालय के अध्यापकों का ही उपयोग किया जाना चाहिये।

४

समाज शिक्षा के इन मोटे आदर्शों को सभी राज्यों ने स्वीकार कर लिया है। किन्तु यह स्वाभाविक ही था कि इस कार्यक्रम को क्रियान्वित करते हुए कोई राज्य किसी एक पहलू पर बल दे और कोई दूसरे पहलू पर। इस समय भी कुछ राज्यों में मुख्यरूप से साक्षरता पर ही जोर दिया जा रहा है; किन्तु दूसरी ओर एक या दो राज्य ऐसे भी हैं, जहाँ समाज शिक्षा पुरानी परम्परागत मौखिक पद्धतियों से ही दी जा रही है। अनेक आधुनिक दृश्य-श्रव्य उपकरणों का प्रयोग करने का भी प्रयत्न हो रहा है; और यद्यपि ये साधन भले ही भिन्न हों, किन्तु दृश्य-श्रव्य उपकरणों के प्रयोग का सिद्धान्त शताब्दियों के अनुभव पर आधारित है। पहले बताये जा चुके कारणों से आधुनिक जगत् में केवल मौखिक परम्परा पर आधारित शिक्षा पर्याप्त नहीं समझी जा सकती। अनुभव से सब राज्य धीरे-धीरे यह अनुभव कर रहे हैं कि उन्हें अपने शिक्षा के कार्यक्रमों में साक्षरता को अधिक महत्व देना चाहिये।

इस क्षेत्र में एक मनोरंजक विकास दिल्ली राज्य में शिक्षा कारवाँ (एजूकेशनल कैरावान) के रूप में हुआ है। ये कारवाँ तीन या चार जीप मोटर गाड़ियों से बने होते हैं, जिनके पीछे एक-एक मोटर ठेला लगा होता है, या नहीं भी लगा होता। इस प्रकार के कारवाँ में एक गाड़ी में चलता-फिरता रंगमंच होता है; दूसरी में एक छोटा-सा चलता-फिरता पुस्तकालय होता है; तीसरी में एक प्रदर्शनी होती है; और एक चौथी गाड़ी में सिनेमा का प्रोजैक्टर (प्रक्षेपक) लगा होता है। यह कारवाँ किसी ऐसे गाँव में जाता है, जिसके आस-पास और बहुत-से गाँव बसे हुए हों, और वहाँ स्वास्थ्य तथा आरोग्य तथा कृषि एवं उद्योग से उत्पन्न वस्तुओं की एक संयुक्त प्रदर्शनी का आयोजन करता है। शारीरिक व्यायाम के खेल और दंगल और कबड्डी के साम्मुख्य, जिनमें बालक और वयस्क, दोनों ही भाग लेते हैं, स्थानीय लोगों की उत्सुकता को जगाने में सहायक होते हैं। स्थानीय लोगों की प्रतिभा की सहायता से नाटक भी प्रस्तुत किये जाते हैं। इन नाटकों में सामान्यतया किसी स्थानीय समस्या पर प्रकाश डाला जाता है और गाँव वालों को शिक्षा का महत्व समझाया जाता है। जब शिक्षा कारवाँ अपनी प्रदर्शनियों, भाषणों, अनेक प्रकार के प्रदर्शनों और प्रति-

योगिताओं द्वारा लोगों में समाज शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न कर चुकता है, तब बीस या तीस अध्यापकों का एक दल जिसमें पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही होते हैं, उस प्रदेश में चार या छह सप्ताह के लिए जाता है। वे यथासम्भव अधिक से अधिक संख्या में पुरुषों और स्त्रियों के लिए समाज शिक्षा की कक्षाएँ संगठित करते हैं। इस प्रकार निरक्षरता के गढ़ की दीवार तोड़ दी जाती है। जब यह दल वापस लौट जाता है, तब स्थानीय अध्यापक काम को सँभाल लेते हैं और कार्यक्रम को जारी रखते हैं। सामान्यतया तीन या छह महीने के बाद साक्षरता के प्रमाणपत्र दे दिये जाते हैं।

दिल्ली राज्य का लक्ष्य यह है कि १९५७ के अन्त तक चालीस वर्ष या उससे नीचे की आयु वाले वयस्कों में से ५० प्रतिशत को साक्षर कर दिया जाय। जब यह कार्यक्रम १९५० में प्रारम्भ हुआ, उस समय साक्षरता केवल १० प्रतिशत थी; इसलिए यह लक्ष्य बहुत नीचा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए भी उसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है, जितना कि अब तक किया जा रहा है। स्थानीय अध्यापक अपनी ओर से यथाशक्ति अधिकतम कार्य कर रहे हैं, परन्तु उनकी संख्या इतनी भी नहीं है कि वह शिक्षा चाहने वाले बालकों की आवश्यकता को भी पूरा कर सके। इसलिए समाज शिक्षा का यह लक्ष्य तभी पूरा हो सकता है, जब इस क्षेत्र में कार्यकर्ताओं की संख्या में काफी वृद्धि हो जाय। यह वृद्धि तभी हो सकती है, जब विश्वविद्यालय और उच्च विद्यालयों की ऊँची कक्षाओं में पढ़ने वाले छात्र समाज शिक्षा के कार्य को अपनी शिक्षा के कार्यक्रम का ही एक अंग समझकर इस क्षेत्र में सामने आयें।

मध्य प्रदेश में समाज शिक्षा के लिए बनाये गये कार्यक्रम का भी विशेष रूप से उल्लेख कर देना उचित होगा। १९४८ से ही राज्य सरकार निरक्षरता को दूर करने और जनता को प्रजातन्त्रात्मक समाज में उसके (जनता के) ऊपर आने वाली जिम्मेदारियों के सम्बन्ध में सचेत करने के लिए जोरदार आन्दोलन कर रही है। इस सम्बन्ध में पाठ्यक्रम उपरिलिखित ढंग का ही है। परन्तु मध्य प्रदेश के कार्यक्रम की विशेषता यह है कि वहाँ अध्यापकों पर वयस्क शिक्षा के कार्य का दायित्व डाल दिया गया है। मध्य प्रदेश ही पहला राज्य था, जिसने भारत में बहुप्रयोजनी समाज शिक्षा के लिए सिनेमा गाड़ियों का पहले पहल उपयोग

करके चलते-फिरते विद्यालयों की कल्पना को साकार किया। सामुदायिक रूप से सुनने के लिए रेडियो सैटों का भी काफी बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया है और नवसाक्षर वयस्कों की शिक्षा और रुचि को बनाये रखने के लिए देहाती पुस्तकालयों की स्थापना की गयी है। यह बात उल्लेखनीय है कि जिन लोगों ने इस राज्य के समाज शिक्षा के कार्यक्रमों से लाभ उठाया है उनमें से लगभग २० प्रतिशत स्त्रियाँ हैं।

यहाँ पर बिहार और राजस्थान जैसे राज्यों द्वारा देहाती क्षेत्रों में समाज-शिक्षा को फैलाने के लिए किये गये प्रयत्नों का भी उल्लेख कर देना उचित होगा। अतीत में गायकों के दल गाँवों में जाया करते थे और भक्ति के गीत गाकर लोगों में धार्मिक भावनाएँ जगाया करते थे। बिहार में इस प्रकार के गायक दलों का उपयोग आधुनिक विचारों के प्रसार के लिए किया जा रहा है। राजस्थान में यह परीक्षण किया गया है कि बड़ी आयु के देहाती लोगों की शिक्षा में रुचि जाग्रत करने के लिए बालकों का प्रयोग किया जाय। कई दृष्टियों से राजस्थान का देहाती समाज भारत के अधिकांश अन्य भागों की अपेक्षा कहीं अधिक अनुदार और परम्परा-प्रेमी है। राज्य के शिक्षा अधिकारियों ने वयस्क लोगों की शिक्षा के प्रति उदासीनता या विरोध को समाप्त करने के लिए विद्यालय के छात्रों द्वारा समस्यापरक नाटकों का अभिनय करवाया। जिन बच्चों ने इन नाटकों का अभिनय किया था, उनके माता-पिता तथा अन्य वयस्क लोग इन्हें देखने आये। क्योंकि इस प्रकार के नाटकों में निरक्षरता की बुराइयों पर जोर दिया जाता है, इसलिए इस प्रकार के नाटकों का परिमाण प्रायः यह होता है कि समाज शिक्षा के प्रति वयस्क लोगों के रुख में काफी उत्साहजनक परिवर्तन हो जाता है।

५

समाज शिक्षा आन्दोलन का सबसे अधिक आशाजनक पहलू यह है कि इसके कार्यक्रमों में स्त्रियों ने बड़ी रुचि ली है। जहाँ तक स्त्रियों में समाज शिक्षा के प्रसार का सम्बन्ध है, बम्बई राज्य कुछ दृष्टियों से सब राज्यों से आगे है। यहाँ तक कि राजस्थान जैसे राज्य में भी, जो कि बहुत हाल तक भी सामन्तशाही शासन के आधीन था, स्त्री-कार्यकर्ताओं के प्रयत्नों के परिणाम बहुत

ही उत्साहजनक हुए हैं। यदि वे स्त्रियाँ, जिनके पास कुछ खाली समय है और साधन हैं, समाज शिक्षा के कार्य को निरक्षर वयस्क स्त्रियों में प्रारम्भ करें, तो परिणाम अवश्य ही और भी अधिक आश्चर्यजनक होंगे। एक बार यदि स्त्रियों में साक्षरता और शिक्षा का प्रचार हो जाय, तो भावी पीढ़ी की शिक्षा की समस्या बहुत सरल हो जायगी। एक लड़के को शिक्षा देने का अर्थ है केवल एक लड़के को शिक्षा देना; परन्तु एक लड़की को शिक्षा देने का अर्थ है एक पूरे परिवार को शिक्षा देना।

स्त्रियों में समाज शिक्षा के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए दो शर्तें आवश्यक प्रतीत होती हैं। पहली शर्त तो यह है कि इन स्त्रियों की कक्षाओं के लिए कोई उचित समय चुना जाय। सामान्यतया स्त्रियाँ अपने घर के कामों में सबेरे से लेकर दोपहर तक व्यस्त रहती हैं। शाम के समय उनका घर का काम फिर शुरू हो जाता है। भारतीय स्त्रियाँ आमतौर से पास-पड़ौस के घरों में मिलने-जुलने के लिए दोपहर बाद ही जाती हैं। गपशप भी कम से कम उतनी ही लोकप्रिय अवश्य है, जितनी दुपहरी की नींद। इसलिए सुविधा और परम्परा, दोनों की ही दृष्टि से स्त्रियों के लिए शाम के समय कक्षाएँ लगाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ-जहाँ भी स्त्रियों के लिए समाज शिक्षा की कक्षाएँ दोपहर बाद लगायी गयीं, वहाँ परिणाम काफी सन्तोषजनक रहे हैं।

दूसरी शर्त यह है कि समाज शिक्षा को अविलम्ब व्यावहारिक बना दिया जाय। अधिकांश वयस्क स्त्रियाँ अपने परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने में व्यस्त रहती हैं। उनके लिए आय और व्यय का सन्तुलन बनाये रखना निरन्तर चिन्ता का विषय रहता है। इसलिए यदि समाज शिक्षा स्त्रियों को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती है, तो यह आवश्यक है कि उन्हें आर्थिक लाभ की आशा बँधाई जाय। विभिन्न कुटीर उद्योगों और दस्तकारियों में प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करने से न केवल स्त्रियाँ समाज शिक्षा की ओर आकृष्ट होती हैं, बल्कि उससे उन्हें अपने परिवार के आय-व्ययक को सुधारने में भी सहायता मिलती है। रहन-सहन का व्यय बढ़ जाने के कारण मध्यम वर्ग के अनेक परिवारों को विवश होकर अपना जीवन का स्तर घटा देना पड़ा है। कामगर वर्ग के परिवारों की भी यही हालत होगी, यदि उनके परिवार की स्त्रियाँ उपार्जन करना शुरू न कर दें। जिस भी काम से परिवार की आय में

कुछ भी वृद्धि होती है, वह तुरन्त स्वीकार कर लिया जाता है। यह वृद्धि बिलकुल प्रत्यक्ष रूप से अधिक पैसे की प्राप्ति के रूप में भी हो सकती है, या फिर अप्रत्यक्ष रूप में परिवार के वस्त्र और भोजन पर होने वाले व्यय में हुई बचत के रूप में भी हो सकती है। कोई भी स्त्री ऐसी शिक्षा का स्वागत करेगी, जो उसे अपने और अपने बच्चों के कपड़े तैयार करना सिखा दे, या उन भोजनों और अन्य वस्तुओं को तैयार करना सिखा दे, जो अन्यथा बाजार से खरीदनी पड़तीं। इस प्रकार की शिक्षा यदि विधवाओं को मिल सके; तो इसके द्वारा वे अपनी जीविका का उपार्जन स्वयं कर सकेंगी।

स्त्रियों में समाज शिक्षा का प्रसार होने से जाति-भेद तथा अन्य पक्षपातों की कठोरता कम हो जायगी। अतीत में भारत की दुर्बलता का एक मुख्य कारण यह रहा है कि यहाँ जातिगत साम्प्रदायिक तथा प्रान्तीय संकीर्णता के कारण लोगों में अलग-अलग बँटे रहने की प्रवृत्ति रही है। आज भी भारत की एकता को सबसे बड़ा खतरा जातिवाद से ही है। यह ठीक है कि जात-पाँत अब काफी कम हो गयी है और अस्पृश्यता को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया है, परन्तु देहाती क्षेत्रों में जात-पाँत अब भी बहुत बड़ी शक्ति बनी हुई है। एक बार स्त्रियों में जात-पाँत की भावना समाप्त हो जाय, तो फिर सारे देश से जात-पाँत समाप्त होते देर न लगेगी।

इसलिए स्त्रियों में, विशेष रूप से देहाती क्षेत्रों में, शिक्षा के प्रसार के लिए विशेष प्रयत्न किया जाना चाहिये। परन्तु दुर्भाग्य से सचाई यह है कि अनेक कारणों से इसी क्षेत्र में अब तक सबसे कम प्रगति हुई है। हाल के वर्षों में सारे देश में स्त्रियों की शिक्षा को बड़ी गति मिली है, परन्तु देहाती क्षेत्र अब तक भी इस आन्दोलन से अधिकतर अछूते-से ही हैं। क्योंकि देहाती क्षेत्रों में ही हमें अतीत की कमियों को सबसे अधिक पूरा करना है, इसलिए बड़ा भय यह है कि कहीं शहरी क्षेत्रों में होने वाली तीव्र प्रगति के कारण गाँवों और शहरों के बीच पहले से ही विद्यमान खाई और भी अधिक गहरी और चौड़ी न हो जाय। जनता के एक बड़े वर्ग का निरन्तर निरक्षर बने रहना केवल देश की प्रगति की चाल को ही धीमा नहीं कर देता, बल्कि समाज की संरचना (स्ट्रक्चर) को भी असन्तुलित कर देता है। कुल मिलाकर गाँव अभी तक वैसी उन्नति नहीं कर पाये, जैसी कि शहरों में हो चुकी है। स्त्रियों और लड़कियों की शिक्षा

की दृष्टि से गाँवों और शहरों का यह अन्तर और भी अधिक है। इसलिए इस अन्तर के कारणों की जाँच-पड़ताल करना और उन्हें यथाशीघ्र समाप्त करने के उपाय सुझाना और भी अधिक आवश्यक हो जाता है।

वयस्क स्त्रियाँ इसलिए निरक्षर होती हैं, क्योंकि जब वे लड़कियाँ थीं, तब उन्हें विद्यालय में शिक्षा नहीं मिल सकी। इसका एक बड़ा कारण यह है कि देहाती क्षेत्रों में स्त्री-शिक्षकों अर्थात् अध्यापिकाओं का अभाव है। गाँवों के विद्यालयों में अधिकांश विद्यालयों में एक ही अध्यापक होता है; और अधिकांश मामलों में वह अध्यापक पुरुष होता है। देहाती क्षेत्रों में इस समय जैसी सामाजिक दशा विद्यमान है, उसमें माता-पिता अपनी लड़कियों को ऐसे विद्यालयों में भेजने से कतराते हैं, जहाँ पर अध्यापक और अधिकांश छात्र पुरुष हों। इसके अतिरिक्त देहातों के ये अध्यापक प्रायः अपेक्षाकृत अधिक युवक लोग ही होते हैं, जबकि विद्यालय में आने वाली देहाती लड़कियाँ विद्यालय में जाने वाली शहर की लड़कियों से कुछ बड़ी आयु की होती हैं। साथ ही प्रकृति के घनिष्ठ सम्पर्क में रहने के कारण वे कुछ अधिक परिपक्व और प्रगल्भ होती हैं। माता-पिता इन बातों को महत्व देते हैं और इस कारण वे लड़कियों को उन विद्यालयों में नहीं भेजना चाहते, जहाँ कि सब कार्यकर्ता पुरुष ही पुरुष हों।

इसलिए देहाती क्षेत्रों में स्त्रियों की शिक्षा की प्रगति को तीव्र करने के लिए पहला कदम यह उठाया जाना चाहिये कि वहाँ ऐसी दशाएँ उत्पन्न की जायँ, जिनमें माता-पिताओं को अपनी लड़कियों को विद्यालय में भेजने में हिचक न हो। इसका एक उपाय यह हो सकता है, और इसे क्रियान्वित करने का कई बार प्रयत्न भी किया गया है, कि लड़कियों के लिए पृथक् विद्यालय खोले जायँ। शिक्षणात्मक कारणों के अतिरिक्त भी, इस प्रकार के दुहरे विद्यालय खोलने का वित्तीय व्यय इतना अधिक होगा कि यह प्रस्ताव लगभग अव्यावहारिक ही हो जायगा। सच तो यह है कि लड़कियों के लिए पृथक् विद्यालय खोलने का हठ करने का अर्थ प्रायः यह होता है कि लड़कियों को शिक्षा पाने का अवसर ही न मिल सके।

वस्तुतः इस समस्या का सबसे अच्छा हल यह है कि देहाती विद्यालयों में अध्यापकों में पुरुषों के साथ-साथ उचित अनुपात में स्त्रियाँ भी हों। जहाँ कहीं विद्यालय में एक ही अध्यापक का स्थान हो, वहाँ पर यदि वह अध्यापक स्त्री

हो, तो अवश्य ही अधिक लाभ होगा। यह सामान्यतया स्वीकार किया जा चुका है कि छोटी आयु के लड़के और लड़कियाँ, दोनों के लिये ही स्त्रियाँ अधिक अच्छी अध्यापक सिद्ध होती हैं। परन्तु एक तो स्त्री-अध्यापकों की अपर्याप्त संख्या और दूसरे अनेक सामाजिक कारणों से कम से कम वर्तमान में यह प्रश्न नहीं उठता कि गाँवों में एक अध्यापक वाले विद्यालयों में स्त्री-अध्यापक रखी जा सके।

यदि विद्यालय में बालकों की संख्या इतनी हो कि दो अध्यापक नियुक्त करना उचित हो, तो समस्या का आदर्श समाधान यह होगा कि उस दो अध्यापकों वाले विद्यालय में एक विवाहित दम्पत्ति को नियुक्त कर दिया जाय। परन्तु इस आदर्श को भी पूर्ण कर पाना कठिन होगा। प्राथमिक विद्यालय का अध्यापक जिस सामाजिक स्तर का होता है, उसमें अध्यापक की पत्नी को मुश्किल से ही इतनी शिक्षा मिली होती है कि वह अध्यापक का कार्य कर सके। साथ ही यह भी कठिन होगा कि दो अध्यापकों वाले विद्यालय में एक अध्यापक ऐसी स्त्री हो, जिसका पुरुष-अध्यापक के साथ कोई सम्बन्ध न हो। इन सब कठिनाइयों को दृष्टि में रखते हुए इस समस्या के समाधान के लिए प्रथम पग के रूप में कुछ न कुछ विशेष उपाय ढूँढने होंगे।

इस समय हम पति और पत्नी को विद्यालय में दो अध्यापकों के रूप में नहीं रख सकते; क्योंकि अध्यापक की पत्नी यथोचित रूप से सुशिक्षित नहीं होती। परन्तु यदि अध्यापक की पत्नी को विद्यालय की माता के रूप में नियुक्त कर दिया जाय, तो इसमें कोई हानि नहीं है। बालिका छात्राएँ उसकी देख-रेख में रहेंगी और इस प्रकार छात्राओं के माता-पिता और स्वयं छात्राओं में विश्वास उत्पन्न हो सकेगा। लड़कियों और लड़कों को काम में लगाये रखने में भी वह अपने पति की कुछ सहायता कर सकेगी और शायद लड़कियों को सिलाई, कपड़ों की धुलाई और बागाबनी की शिक्षा भी दे सके। विद्यालय में उसका रहना ही इस बात के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन होगा कि लड़कियाँ अधिक संख्या में विद्यालय में आने लगें।

विद्यालय में स्त्री की उपस्थिति से न केवल लडकियाँ अधिक संख्या में विद्यालय में आने लगेंगी, बल्कि इससे गाँव में समाज शिक्षा का एक केन्द्र बनाने में भी सहायता मिलेगी। बालिका-छात्राओं की संख्या में होने वाली वृद्धि तो

कुछ वर्ष बाद ही दृष्टिगोचर होगी, परन्तु इसका तात्कालिक लाभ यह होगा कि गाँव की निरक्षर वयस्क महिलाओं को विद्यालय में आने की प्रेरणा मिलेगी। जब एक बार इस प्रकार का केन्द्र स्थापित हो जायगा, तो उसका भविष्य बहुत उज्ज्वल हो सकता है। यह केन्द्र स्त्रियों की एक गोष्ठी या क्लब जैसा होगा। आजकल स्त्रियों की गोष्ठी का स्थान प्रायः गाँव का कुआँ या किसी परिवार का आँगन होता है। चर्चा का मुख्य विषय स्थानीय गपशप ही होता है। यदि एक बार यह केन्द्र उठकर विद्यालय के शिक्षा-सम्बन्धी वातावरण में आ जाय, तो इससे शिक्षा की एक ऐसी प्रक्रिया शुरू हो जायगी, जो एक पीढ़ी में ही देहात के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर देगी।

६

समाज शिक्षा की—और कम से कम साक्षरता की—प्रगति क्यों तीव्र गति से नहीं हो सकी, इसका एक कारण यह है कि इस प्रकार की शिक्षा के सामाजिक अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्य ठीक-ठीक नहीं आँका गया। जहाँ शिक्षा के मूल्य को सब लोग स्वीकार करते हैं, वहाँ सामान्यतया यह भी समझा जाता है कि शिक्षा आर्थिक प्रगति का कारण न होकर उसका परिणाम अधिक है। आमतौर से इस बात को अनुभव नहीं किया जाता कि किसी भी देश की सम्पत्ति व्यापक शिक्षा के बिना बढ़ नहीं सकती। फिर भी यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि लोग इस बात को अनुभव न कर पायें। उद्योगों की प्रक्रिया में विज्ञान के प्रयोग से ही औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ। इसका पहला परिणाम यह हुआ कि मशीनों से वह काम कराने का प्रयत्न किया गया, जिसे पहले मनुष्य अपने हाथ से किया करते थे। इसके फलस्वरूप उत्पादनके परिमाण में अत्यधिक वृद्धि हो गयी; और उसका फिर परिणाम यह हुआ कि बाजारों का विस्तार हो गया। तब से लेकर आधुनिक उद्योग अधिकाधिक मशीनों के प्रयोग पर आश्रित होता गया है। नये आविष्कार और नयी-नयी मशीनों का उपयोग औद्योगिक उन्नति के लिए एक आवश्यक शर्त बन गया है। इसी प्रकार देश के पास जो साधन विद्यमान हैं, उनका अपेक्षाकृत अधिक अच्छा उपयोग करने के लिए भी विज्ञान का प्रयोग कम महत्वपूर्ण नहीं। विज्ञान एक ऐसी स्थिति तक पहुँच गया है, जबकि किसी भी वस्तु से लगभग कोई भी काम

निकाला जा सकता है। आधुनिक रसायन शास्त्र कोयले और खड़िया से खाद्य और पेय पदार्थ तैयार कर सकता है। इसी प्रकार लकड़ी से ऊन, और शीशे तथा प्लास्टिक से सब प्रकार की निर्माण सामग्री तैयार की जा सकती है। इसलिए यह कहना गलत न होगा कि आधुनिक संसार में उद्योगों का विकास वैज्ञानिक ज्ञान का ही एक परिणाम मात्र है।

परन्तु नयी मशीनों के आविष्कार या उत्पादन की नयी-नयी प्रक्रियाओं को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए वैज्ञानिक और प्राविधिक (टैकनिकल) ज्ञान की आवश्यकता होती है। बाजार के विस्तार के साथ-साथ वस्तुओं के उत्पादन और वितरण की प्रक्रियाएँ अधिक और अधिक पेचीदा हो गयी हैं। जहाँ पहले उत्पादक को अपने आस-पास के ही परिवेश (ऐनवायरनमैण्ट) की आवश्यकताओं और रुचियों का ध्यान रखना पड़ता था, वहाँ आधुनिक जगत् में उत्पादक को अनेक देशों में वस्तुओं की उपलब्धि, अनेक स्थितियों में उत्पादन की तुलनात्मक लागत, विस्तृत क्षेत्रों में वितरण की सुविधाओं और अनेक प्रदेशों के लोगों की रुचि और सामर्थ्य का ध्यान रखना पड़ता है। इसलिए आधुनिक उद्योग के उच्चतर कार्यकारी अधिकारियों को संसार का विस्तृत ज्ञान होने के साथ-साथ अत्यधिक कुशल और बुद्धिमान होना भी आवश्यक है। इसी प्रकार मशीनों को चलाने वाले लोगों के लिए भी, यदि वे निपुण और उत्पादनशील बनना चाहें, तो यन्त्र विद्या का कुछ न कुछ ज्ञान, और जिन मशीनों पर वे काम करते हैं, उनका ज्ञान होना चाहिये। इसलिए उद्योग और वाणिज्य के आधुनिक रूपों के लिए सारी जनता की अच्छी सामान्य शिक्षा, और ऊँचे प्रशासनीय तथा वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं के लिए उच्च विकसित ज्ञान और निपुणता की आवश्यकता होती है।

सभी प्रगतिशील उद्योगपति इस बात को अनुभव करते हैं कि आधुनिक उद्योग में प्रत्येक स्थिति के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि जिस बात को वे सिद्धान्त रूप में स्वीकार करते हैं, उसे सदा क्रियान्वित भी करते हैं। यह बात भारत के सम्बन्ध में विशेष रूप से सत्य है। यहाँ पर उद्योगपतियों ने शिक्षा के लिए उससे कहीं कम काम किया है जितना कि अन्य देशों में उद्योगपतियों ने किया है। इसमें संदेह नहीं कि यहाँ भी कुछ सम्माननीय अपवाद हैं; परन्तु एक वर्ग के रूप में भारतीय उद्योगपतियों

ने इस बात को अनुभव नहीं किया है कि शिक्षा के क्षेत्र में लगायी गयी पूँजी से उन्हें बहुत अच्छी प्रतिप्राप्ति (रिटर्न) होगी। उद्योगपतियों को शिकायत है, और किसी अंश तक वह शिकायत ठीक भी है, कि भारतीय श्रमिक इंग्लेंड और अमेरिका के श्रमिक की अपेक्षा कम कार्यक्षम है। परन्तु वे इस बात को अनुभव करते प्रतीत नहीं होते कि इस कमी का कारण शिक्षा का अभाव है। इन उद्योगपतियों में से शायद ही किसी ने अपने कारीगरों की शिक्षा या प्रशिक्षण के लिए कोई कदम उठाया हो।

दूसरे प्रगतिशील देशों के बड़े-बड़े व्यवसायियों और उद्योगपतियों ने इस बात को अनुभव कर लिया है कि निरक्षर कारीगरों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे पेचीदा मशीनों से ठीक ढंग से पूरा-पूरा काम ले सकेंगे। उनके अनुभव से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गैर सरकारी प्रयत्न के द्वारा भी देश में निरक्षरता को समाप्त करने के लिए कितना कुछ किया जा सकता है। कुछ देशों में राष्ट्रीय समाचार पत्रों ने यह बात सिद्ध कर दी है कि वयस्क निरक्षर लोगों के लिए साक्षरता के पाठ्यक्रम बड़े सफल रूप में संगठित किये जा सकते हैं। पोर्टोरिको के दो दैनिक पत्रों में निरन्तर छह महीने तक दो कालम से लेकर आधे पृष्ठ तक में वयस्कों के लिए साक्षरता के पाठ प्रकाशित होते रहे। दक्षिण अमेरिका में कुछ समाचार-पत्रों ने वयस्क शिक्षा के लिए बिलकुल मुफ्त या नाममात्र मूल्य पर पुस्तकें वितरित कीं। इस प्रकार का वितरण वे इसलिए कर सके, क्योंकि पुस्तकें तैयार करने में उन्हें कोई खर्चा नहीं पड़ता था। उनकी अपनी छपाई की मशीनें थीं, जिन पर केवल कुछ थोड़े-से घंटे ही पूरी तरह काम होता था। बाकी समय वे खाली रहती थीं। उनके पास बड़ी मात्रा में रद्दी कागज भी था, जो रौटरी मशीनों पर तो काम नहीं आ सकता था, किन्तु किताबें छापने के काम में लाया जा सकता था। इन समाचार-पत्रों को वित्तीय दृष्टि से भी कोई नुकसान नहीं हुआ। इस प्रकार का व्यय वस्तुतः एक विनियोग (इन्वेस्टमेण्ट) था। साक्षरों की संख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ सुनिश्चित रूप से उनके पत्र की बिक्री भी बढ़ गयी और इस कारण वे अपने विज्ञापन की दरें बढ़ाने में समर्थ हुए। भारतीय समाचार-पत्रों की बिक्री भी बहुत परिमित है, क्योंकि उनके पाठकों का अभाव है। यदि कोई साहसी पत्र पोर्टोरिको के परीक्षण के ढंग पर ही योजना शुरू करे, तो वह स्वयं लाभ

उठाने के साथ-साथ देश की भी बड़ी सेवा कर रहा होगा।

व्यवसाय द्वारा शिक्षा के आन्दोलन को सहायता देने और साथ ही अपने मुनाफे को बढ़ाने का एक और उदाहरण अमेरिका की बीमा कम्पनियों का है। इन कम्पनियों ने सरल पुस्तकें, और आहार तथा व्यायाम के नियमों के सम्बन्ध में पुस्तकें प्रकाशित करके स्वास्थ्य की शिक्षा में बड़ी सहायता दी है। इन पुस्तकों की पाठ्य सामग्री में किसी प्रकार का प्रचार नहीं होता। परन्तु पुस्तक की जिल्द पर उसे प्रकाशित करने वाली कम्पनी का नाम छपा रहता है। जो कोई भी इन पुस्तकों को माँगता है, उसे ये मुफ्त दी जाती हैं। इस प्रकार स्वास्थ्य के सम्बन्ध में ज्ञानवृद्धि करके ये पुस्तकें उन लोगों की आयु को लम्बा करने में सहायता देती हैं, जिन्होंने बीमा करवाया हुआ है। इस प्रकार बीमा कम्पनियों को सीधा लाभ यह होता है कि उन्हें कम दावों का भुगतान करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की पुस्तिकाएँ प्रचार का अत्युत्तम माध्यम हैं। कम्पनी का नाम उन हज़ारों लोगों के सामने आ जाता है, जो वैसे शायद कभी भी उसका नाम न सुन पाते। कम्पनी को उन लोगों की सद्भावना भी प्राप्त हो जाती है, जो उस पुस्तक को पढ़कर लाभ उठाते हैं। यदि इस प्रकार की सेवाओं का मूल्य अमेरिका जैसे देश में भी आँका जाता है, तो यह स्पष्ट है कि बीमा कम्पनियों द्वारा भारत में किये गये ऐसे किसी भी प्रयत्न का महत्व कहीं अधिक होगा, क्योंकि भारत में औसत प्रत्याशित आयु केवल ३० वर्ष है और यहाँ राज्य द्वारा स्वास्थ्य-सेवाओं की व्यवस्था बिल्कुल ही अपर्याप्त है।

वयस्क शिक्षा के उद्देश्य को पूर्ण करने में छोटे-छोटे औज़ारों का निर्माण करने वाली व्यापार संस्थाएँ भी सहायता पहुँचा सकती हैं और अमेरिका में इन संस्थाओं ने ऐसी सहायता पहुँचायी भी है। इन संस्थाओं ने ऐसी पुस्तिकाएँ प्रकाशित की हैं, जिनमें कृषि के सम्बन्ध में और सीधे-सादे यन्त्रों के प्रयोग के सम्बन्ध में जानकारी दी गयी है। इनमें से कुछ पुस्तिकाओं में अपना प्रचार भी किया गया है। पहले कृषि या उद्योग की प्रक्रियाओं का वर्णन करने के बाद वे प्रायः यह सुझाते हैं कि सर्वोत्तम ढंग से कार्य करने के लिए अमुक यन्त्र या उपकरण सबसे अच्छा रहेगा। भारतीय व्यवसाय संस्थाएँ भी तरह-तरह की मशीनें तैयार करती हैं। ये संस्थाएँ विज्ञापन पर भी बड़ी-बड़ी राशियाँ खर्च करती हैं, परन्तु उनमें से शायद ही किसी ने इस बात का अनुभव किया हो कि

विशुद्ध व्यापारिक दृष्टिकोण से भी इस प्रकार की कृषि सम्बन्धी पुस्तिकाओं अथवा स मान्य जन-कल्याण सम्बन्धी पुस्तकों में पैसा लगाना लाभप्रद विनियोग होगा। इस प्रकार की पुस्तिकाओं से उन व्यवसाय संस्थाओं द्वारा तैयार किया गया माल बड़ी संख्या में नये ग्राहकों के सम्मुख आ सकेगा और उनकी सद्-भावनाएँ प्राप्त कर सकेगा। इस प्रकार समाज शिक्षा की लक्ष्य-सिद्धि में सहायता देने के साथ-साथ ये कम्पनियाँ अपने कार्य-क्षेत्र को भी विस्तृत कर रही होंगी और अधिक लाभ भी कमा रही होंगी। अपने विज्ञापन व्यय के एक भाग को इस प्रकार के कार्यों में लगाना व्यवसाय की दृष्टि से तो अच्छा होगा ही, साथ ही वह देश की भी बड़ी सेवा होगी।

शिक्षा के क्षेत्र में एक और प्रत्यक्ष रूप से सहायता बड़े-बड़े उद्योगपति भी कर सकते हैं। इस समय भारत में उद्योगों में काम करने वाले लगभग ५०००० मजदूर हैं। इन मजदूरों का बहुत बड़ा भाग अब तक भी निरक्षर है। यदि औद्योगिक संस्थाएँ अपने कारीगरों को शिक्षा देना प्रारम्भ कर दें, तो इससे न केवल उनके कारीगरों की कार्यक्षमता बढ़ेगी और उन संस्थाओं को लाभ होगा, अपितु इससे देश की भी सेवा होगी; क्योंकि इससे ज्ञान का प्रसार होगा। कारखाने में काम करने वाला मजदूर सामान्यतया देहाती मजदूर की अपेक्षा अधिक ऊर्जस्वी, बुद्धिमान और चेतनायुक्त होता है। इसलिए वह इस प्रकार की शिक्षा से देहाती मजदूर की अपेक्षा अधिक जल्दी लाभ उठा सकता है। इतना ही नहीं; इस प्रकार की शिक्षा का लाभ केवल शहरों तक ही सीमित नहीं रहेगा। भारत में अभी तक भी एक पृथक् श्रमिक वर्ग तैयार नहीं हुआ है। कारखानों के मजदूर यदि किसी विशिष्ट मौसम में नहीं तो भी बीच-बीच में अपने गाँवों में जाते रहते हैं। इस प्रकार कारखानों के मजदूरों की शिक्षा के फलस्वरूप गाँवों में भी शिक्षा का प्रसार होगा और इससे देहाती क्षेत्रों में विद्यमान जड़ता की नींद को तोड़ने में सहायता मिलेगी। उद्योगपतियों के इस प्रकार के प्रयत्नों में सरकार यह सहायता कर सकती है कि जो अनुमोदित व्यय मजदूरों की शिक्षा के ऊपर किया जाय उसे आय कर की दृष्टि से अवस्थापन व्यय (ऐस्टेबलिशमैन्ट ऐक्स-पैन्स) मान लिया जाय।

ये हैं केवल थोड़े से सुझाव, कि किस प्रकार उद्योग और व्यापार शिक्षा के क्षेत्र में सहायता कर सकते हैं, और इस प्रकार की सहायता करते हुए स्वयं भी

लाभ प्राप्त कर सकते हैं। कारीगरों के शिक्षित होने के परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि हो जायगी और इस प्रकार उद्योग और व्यापार दोनों की समृद्धि बढ़ेगी। शिक्षा से राष्ट्रीय सम्पत्ति इस रूप में भी बढ़ेगी कि अनेक दिशाओं में काफी बचत हो सकेगी। एक उदाहरण लीजिये, अच्छे कारीगर होने का अर्थ यह होगा कि विद्यमान यन्त्रों की देख-भाल अच्छी हो सकेगी और उन यन्त्रों का जीवन-काल बढ़ जायगा। केवल परिवहन उद्योग में ही प्रतिवर्ष लाखों रुपयों की बचत की जा सकती है, यदि पुराने वाहनों के स्थान पर नये वाहन खरीदने में कमी की जा सके। अच्छे कारीगर केवल अधिक और अच्छी शिक्षा द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार की शिक्षा से प्राप्त होने वाले लाभ केवल व्यवसाय तक ही सीमित नहीं रहेंगे। शिक्षा की वृद्धि होने से राष्ट्रीय सम्पत्ति में भी वृद्धि होगी और उसके फलस्वरूप समाज सेवाओं के आवश्यक विस्तार के लिए नया आधार तैयार हो सकेगा। हमारे देश के लोगों के जीवन स्तर की उन्नति के लिए महत्वपूर्ण आधार केवल शिक्षा द्वारा ही तैयार किया जा सकता है। साथ ही लोग अपने खाली समय का सृजनशील ढङ्ग से उपयोग कर सकें, इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा द्वारा मन और चरित्र को एक विशेष ढङ्ग का प्रशिक्षण दिया जाय। इस प्रकार समाज शिक्षा ही वह आधार शिला है, जिसके ऊपर भारत एक ऐसे कल्याण राज्य का निर्माण कर सकता है, जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक सुरक्षा दोनों का ही यथोचित ध्यान रखा जा सके।

अध्याय ५

भारतीय विश्वविद्यालयों के विषय में

हाल में भारत में विश्वविद्यालयों की काफी आलोचना की गयी है; जिसमें से कुछ उचित थी और कुछ नहीं। बहुत बार यह कहा गया है कि विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती है, वह आवश्यकता से अधिक सैद्धान्तिक होती है और वह व्यक्ति को व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार नहीं करती। विशेषरूप से यह कहा जाता है कि विश्वविद्यालयों से पढ़कर निकलने वाले छात्रों में शारीरिक श्रम और देहाती जीवन के प्रति अरुचि हो जाती है। इस प्रकार विश्वविद्यालय एक ऐसा अभिकरण (एजेन्सी) बन गये हैं, जो गाँवों से योग्य और होनहार युवकों को शहरों में खींच लाते हैं परन्तु इस प्रकार गाँव को जो हानि हो जाती है, उससे शहर को लाभ हो जाता हो, यह बात नहीं। गाँव के छोटे-से समाज में नेता बनने के बजाय—जो कि वे बड़ी आसानी से बन सकते थे—वे शहर की अज्ञात जनसंख्या के एक हताश और कटुभावना से भरे सदस्य मात्र बन पाते हैं।

आलोचना की एक और भी दिशा है, जिसमें विश्वविद्यालयों की इससे लगभग ठीक उल्टे कारण से निन्दा की जाती है। इन आलोचकों के कथनानुसार विश्वविद्यालयों का निर्माण केवल लिपिक तथा प्रशासन के लिए आवश्यक निम्नवर्गीय कर्मचारी तैयार करने के लिए किया गया था। इन आलोचकों का कथन है कि जब अंग्रेजों ने भारत में अपना राज्य जमाया, तो उन्होंने सारे ऊँचे-ऊँचे पद तो अपने लिए सुरक्षित रख लिये; परन्तु कोई भी प्रशासन तब

तक नहीं चलाया जा सकता, जब तक कि निचले स्तर पर काम करने वाले कर्मचारियों की भी काफी संख्या विद्यमान न हो; इसलिए अंग्रेजों ने यह निश्चय किया कि कुछ भारतीयों को अंग्रेजी का इतना ज्ञान कराया जाय कि जिससे उनका यह प्रयोजन पूरा हो सके। केवल इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए भारत में पश्चिमी शिक्षा प्रारम्भ की गई थी और विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई थी। इसलिए इन आलोचकों के कथनानुसार भारतीय विश्वविद्यालय लिपिक (क्लर्क) तैयार करने वाले कारखानों के सिवाय और कुछ नहीं है।

यह ठीक है कि इन दोनों ही आलोचनाओं में सत्य का कुछ न कुछ अंश है; फिर भी स्पष्ट रूप से ये दोनों ही आलोचनाएँ अतिरंजित हैं और न्यायोचित नहीं हैं। विश्वविद्यालय की शिक्षा होती ही कुछ इस ढंग की है कि उसे अवश्य ही बहुत कुछ अव्यक्त और सिद्धान्तात्मक होना पड़ता है। शेष सृष्टि पर मनुष्य का प्रभुत्व बहुत कुछ उसकी सामान्यीकरण (जनरलाइजेशन) की शक्ति पर ही निर्भर है और कोई भी व्यक्ति—चाहे अस्थायी रूप से ही सही—अपने आपको विशिष्ट और व्यावहारिक वस्तुओं से पृथक् किये बिना सामान्यीकरण नहीं कर सकता। विज्ञान के अनेक अत्यन्त उपयोगी और दूरगामी प्रयोगों को प्रारम्भ करने का श्रेय ऐसे लोगों को है, जिनका काम विशुद्ध रूप से सिद्धान्त-विवेचन करना ही था। परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यदि सिद्धांत और व्यवहार दोनों का निरन्तर परस्पर सम्बन्ध न बना रहे, तो शिक्षा अवास्तविक और अशक्त हो जाती है। भारतीय विश्वविद्यालयों ने उच्चतर शिक्षा के इस पहलू की जिस सीमा तक उपेक्षा की है, उस सीमा तक वे विश्वविद्यालय के एक प्रमुख लक्ष्य को पूरा करने में अवश्य ही असफल रहे हैं।

आलोचना की जो दूसरी दिशा ऊपर बतायी गयी है, उस पर भी इसी प्रकार टीका की जा सकती है। यह सत्य है कि भारतीय विश्वविद्यालयों से निकलने वाले छात्रों की अधिकांश संख्या केवल सफेदपोश नौकरी के लिए ही उपयुक्त होती है, परन्तु यह कहना सत्य नहीं है कि भारतीय विश्वविद्यालयों की स्थापना ही लिपिक तैयार करने के लिए की गयी थी। वस्तुतः भारत में पश्चिमी शिक्षा प्रारम्भ करने के लिए मुख्यरूप से दबाव उस समय की सरकार ने नहीं डाला था, बल्कि ईसाई धर्म प्रचारकों ने तथा कुछ भारतीय दूरदर्शी

नेताओं ने डाला था, जिन्होंने उसी समय इस बात को अनुभव कर लिया था कि इस प्रकार की शिक्षा से देश का बौद्धिक पुनरुत्थान हो सकेगा। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम, जिसमें गणित और तर्कशास्त्र पर, राजनीति और कविता पर, भौतिक शास्त्र और दर्शन पर बल दिया जाता है, भावी लिपिकों के प्रशिक्षण के लिए शायद ही सर्वोत्तम कहा जा सके। यदि भारतीय विश्वविद्यालयों का लक्ष्य सचमुच ही प्रशासन के लिए निम्नवर्गीय कर्मचारी तैयार करना होता, तो उनमें से इस प्रकार के सिद्धान्तपरक विषयों को बिलकुल उड़ा दिया जाता और सारा ध्यान संक्षेप-लेखन, मामूली हिसाब-किताब और कार्यालय की कार्यपद्धतियों पर ही दिया जाता।

यहाँ यह भी संकेत किया जा सकता है कि आलोचना की ये दोनों दिशाएँ काफी सीमा तक एक दूसरे को काट देती हैं। यदि यह मान लिया जाय कि विश्वविद्यालयों का पाठ्यक्रम आवश्यकता से अधिक शास्त्रीय और सिद्धान्तपरक है, तो यह स्पष्ट है कि उन विश्वविद्यालयों का उद्देश्य लिपिक तैयार करना नहीं हो सकता। और यदि दूसरी ओर, यह स्वीकार कर लिया जाय कि विश्वविद्यालय तो निम्नवर्ग के कर्मचारी तैयार करने के कारखाने हैं, तो यह स्पष्ट है कि उनकी इस आधार पर निन्दा नहीं की जा सकती कि वहाँ से पढ़कर निकलने वाले छात्र नौकरी के उपयुक्त नहीं होते। फिर भी, यदि कोई चाहे तो यह आलोचना अवश्य कर सकता है कि वे इतनी अधिक संख्या में लिपिक तैयार कर रहे हैं कि जिनकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह आलोचना उससे बिलकुल भिन्न और वस्तुतः बिलकुल विपरीत होगी कि विश्वविद्यालयों से पढ़कर निकलने वाले छात्र काम कर पाने के उपयुक्त नहीं होते।

भारत में विश्वविद्यालय की शिक्षा की वास्तविक त्रुटियों का कारण है अपर्याप्त अध्यापक वर्ग, अपर्याप्त धन राशियाँ और उच्चतर शिक्षा के सम्बन्ध में लोगों की गलत मनोवृत्ति। विश्वविद्यालयों का अध्यापक वर्ग न केवल संख्या की दृष्टि से अपर्याप्त है, अपितु योग्यता की दृष्टि से भी अपर्याप्त है। देश के सबसे योग्य पुरुषों और स्त्रियों में से अनेक अध्यापन के पेशे को छोड़ कर दूसरे पेशों में चले जाते हैं। इसका कारण मुख्यरूप से आर्थिक होता है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए हम तुरन्त धनराशि के प्रश्न पर आ पहुँचते हैं। विश्वविद्यालयों के पास अपर्याप्त धनराशि होने का परिणाम यह होता है कि वे अध्यापकों

को कम वेतन दे पाते हैं, इसलिए अध्यापक घटिया किस्म के होते हैं। इसके साथ ही धनराशि की कमी के कारण पुस्तकालय, प्रयोगशालाएँ, कक्षा भवन तथा अन्य आवश्यक सुविधाएँ भी उतनी नहीं होतीं, जितनी होनी चाहियें। प्रायः विश्वविद्यालय में वातावरण ऐसा होता है कि वहाँ किसी भी गम्भीर कार्य को देर तक डटकर कर पाने की रुचि नहीं होती। अध्यापकों और विद्यार्थियों की संख्या में जो अत्यधिक विषम अनुपात पाया जाता है, उसका कारण भी अंशतः धनराशि का अभाव और अंशतः उच्चतर शिक्षा के प्रति गलत मनोवृत्ति है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो लोग विश्वविद्यालय में शिक्षा पाने आते हैं, उनमें से अधिकांश केवल इसलिए आते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि विश्वविद्यालय की उपाधि नौकरी पाने के लिए पासपोर्ट जैसी है। जब भारतीय विश्वविद्यालय प्रारम्भ ही हुए थे, उस समय वे अपने स्नातकों को लाभदायक, और अनेक बार तो सन्तोषजनक नौकरियाँ दिला पाते थे। इस प्रकार जनता के मन में विश्वविद्यालय की शिक्षा का सम्बन्ध नौकरी के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ गया। आजकल विश्वविद्यालय की शिक्षा से सब स्नातकों को नौकरी मिल पाने की कोई गारन्टी नहीं है, और इसीलिए विश्वविद्यालयों की निन्दा की जाती है। परन्तु इस बात को समझ लेना उचित होगा कि विश्वविद्यालयों की यह निन्दा सामाजिक दृष्टि से की जाती है, ज्ञान या सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं।

विश्वविद्यालयों की असफलताओं और त्रुटियों के बावजूद एक बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतीय विश्वविद्यालयों ने नयी राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने में बड़ा सुनिश्चित और बहुमूल्य योग दिया है। अपने सब दोषों के बावजूद वे यह दावा कर सकते हैं कि हमारी स्वाधीनता के प्रमुख निर्माता वे ही हैं। परन्तु स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् विश्वविद्यालयों पर बहुत-से नये और श्रमसाध्य काम आ पड़े हैं। भारत ने अपने लिए प्रजातन्त्र का चुनाव किया है; और प्रजातन्त्र में यह आश्वासन निहित है कि सब लोगों को न्याय, स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त रहेगी। इसलिए अब से आगे भारतीय विश्वविद्यालयों की परख इस बात से की जायगी कि उन्होंने इन उद्देश्यों को प्राप्त कराने में कितनी सहायता की है।

२

आधुनिक युग पुराने युगों से इस दृष्टि से भिन्न है कि इसमें लोगों को विचार करने और अनुभव करने लिए विवश होना पड़ता है; और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्हें सम्मिलित रूप से कार्य करने के लिए विवश होना पड़ता है। पुराने जमाने में अलग-अलग समुदायों और समाजों के लिए यह सम्भव था कि वे एक दूसरे से अनभिज्ञ रहकर जी सकें। उस समय सम्पर्क-स्थापन (कम्यूनिकेशन) के साधन विकसित नहीं हुए थे और एक दूसरे से दूर रहने वाले लोग वस्तुतः परस्पर पृथक्-पृथक् विभक्त-से रहते थे। प्राकृतिक रोकें भी एक देश के लोगों को दूसरे देश के लोगों से पृथक् किये रही थीं। एक देश से दूसरे देश तक यात्रा करने में जो लम्बा समय लगता था, उसके कारण अलग-अलग समाजों में भौतिक और मनोवैज्ञानिक अन्तर और बढ़ जाता था। आजकल इस प्रकार की सब प्राकृतिक रोकें लुप्त हो चुकी हैं, या धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं। प्राविधिक उन्नति के कारण यह सम्भव हो गया है कि पृथ्वी के किसी भी एक भाग से किसी भी दूसरे भाग तक केवल २४ घंटे के अन्दर-अन्दर पहुँचा जा सके।

आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति लगभग तीन या चार शताब्दी पहले प्रारम्भ हुई थी। परन्तु दूरी पर विजय प्राप्त करने में सफलता पिछले सौ वर्षों का ही परिणाम है। टोयनबी ने अपने एक भाषण में कहा था कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में किसी भी अंग्रेज राजनीतिज्ञ को रोम से लन्दन तक आने में बिल्कुल ठीक उतना ही समय लगता था, जितना पहली शताब्दी में किसी रोमन सम्राट् को इंग्लैंड से रोम तक पहुँचने में लगता था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते यह यात्रा शायद केवल ४८ घंटे में पूरी की जा सकती थी। ये उतने ही घंटे थे, जितने कि ५० वर्ष पहले इस यात्रा को पूर्ण करने में दिन लगते थे। आजकल जैट और ध्वनि से भी अधिक तीव्रगामी विमानों के द्वारा हम तेज़ी से उस स्थिति की ओर पहुँच रहे हैं, जबकि शायद यह सम्भव हो जायगा कि लन्दन से रोम और रोम से लन्दन उतने ही मिनटों में पहुँचा जा सके, जितने कि उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में घंटे लगते थे।

इस प्रकार स्थान और काल के संकुचित होते जाने के कारण मनुष्य का

प्रकृति की शक्तियों के ऊपर अधिकार बढ़ता जा रहा है, जिसका भलाई और बुराई दोनों के लिए उपयोग हो सकता है। पुराने समय में जो जहाज कुहरे में भटक जाता था, वह नष्ट हुआ ही समझ लिया जाता था, परन्तु आजकल ध्रुव प्रदेश के सबसे दूर के कोने में भी यदि कोई अकेला यात्री भी भटक गया हो, तो वह भी हज़ारों मील दूर बैठे रक्षा करने वाले लोगों से सम्पर्क स्थापित करने की आशा कर सकता है। अतीत में मनुष्य द्वारा बनाये गये विनाश के यन्त्र अधिक से अधिक केवल कुछ थोड़े-से मनुष्यों को मार सकते थे, परन्तु आजकल का एक परमाणु बम या उदजन बम १०,००,००० या उससे भी अधिक जनसंख्या वाले शहर का नाम-निशान तक मिटाने के लिए पर्याप्त है।

सम्पर्क-स्थापन में हुई इस तीव्र गतिवृद्धि का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों की समस्याओं पर बहुत दूरगामी प्रभाव पड़ा है। इसका परिणाम यह भी हुआ है कि अब पहले के किसी भी समय की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो उठी है और राष्ट्रीय कल्याण का एक आवश्यक अंग बन गयी है। अतीत काल में, जबकि दूरी के कारण मनुष्य वस्तुतः विभक्त हुए रहते थे, संसार के विभिन्न भागों में रहने वाले लोग अलग-अलग अपने मानसिक और नैतिक प्रमाप बनाये रख सकते थे। परन्तु भौतिक निकटता और आध्यात्मिक दृष्टि से दूरी, दोनों यदि साथ-साथ रहें, तो वस्तुतः एक बडी विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हो सकती है। आजकल सब मनुष्य अक्षरशः एक दूसरे के पड़ोसी हैं। अब वे दिन कभी के बीत चुके हैं, जब कोई भी राष्ट्र केवल अपनी सीमाओं के अन्दर रह सकता था और अपने विकास की गतिविधि को कुछ कम या कुछ अधिक सफलता के साथ अपनी इच्छानुसार चला सकता था। आजकल संसार के किसी भी एक भाग में जो कुछ होता है, उसका तात्कालिक प्रभाव अन्य सब भागों पर पड़ता है। परन्तु मनुष्य के मनोविज्ञान ने अपने आपको इस विशाल परिवर्तन के अनुकूल नहीं ढाला है। बौद्धिक दृष्टि में मनुष्य यह जानता है कि सारा संसार एक है; परन्तु आजकल भी उसकी संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ काफी संकीर्ण हैं, या अधिक से अधिक, कहा जा सकता है कि, राष्ट्रीय हैं। मनुष्य की बुद्धि और उसकी भावनाओं के परिपुष्ट होने के बीच की यह खाई एक मुख्य समस्या है जो इस समय हमारे समकालीन संसार के सम्मुख उपस्थित है।

इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है, जिनसे यह प्रकट होता है कि किसी एक मानवीय मूल्य का किसी एक समूह या वर्ग तक सीमित रहने का परिणाम अन्ततोगत्वा यह होता है कि उन मूल्यों का शेष सारे समाज के लिए निषेध कर दिया जाता है। अतीत में जो बात किसी राष्ट्र के अन्दर रहने वाले व्यक्तियों या समूहों के लिए सत्य थी, आज विश्व-समाज में वही बात राष्ट्रों के सम्बन्ध में सत्य है। इसलिए प्रजातन्त्र के लिए एक पहली आवश्यक शर्त यह है कि इन मानवीय मूल्यों का प्रयोग सार्वजनीन रूप से किया जाय। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि भारतीय प्रजातन्त्र को वास्तविक बनाना अभीष्ट है, तो भारतीय जनता को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में बुद्धिमत्तापूर्वक रुचि लेनी चाहिये। आधुनिक संसार में आर्थिक और राजनीतिक विचार राष्ट्रीयता की बाड़ से ऊपर रहते हैं। अन्य देशों के ज्ञान के बिना व्यक्ति का अपने देश के सम्बन्ध में ज्ञान भी अपूर्ण और अविश्वसनीय रहेगा। इसके अतिरिक्त आजकल राजनीति और अर्थशास्त्र परस्पर इस प्रकार घनिष्ठ रूप से जुड़ गये हैं कि राज्य को बरबस औसत नागरिक के जीवन में उसकी अपेक्षा कहीं अधिक हिस्सा लेना होता है; जितना कि वह पहले कभी भी अतीत में लेता था। इसलिए आधुनिक प्रजातन्त्र के नागरिक को उतना ज्ञान होना चाहिये, जितना पहले केवल कुछ थोड़े-से सौभाग्यशाली लोगों को ही प्राप्त होता था।

सदा से ही शिक्षा का कार्यकलाप (कृत्य, फंक्शन) अनुभव के क्षितिज को विस्तृततर करते जाना रहा है। वास्तविकता के साथ हमारा प्रत्यक्ष संपर्क सदा बहुत परिमित ही रहता है। यदि मनुष्य को केवल अपने तात्कालित अनुभव पर ही पूर्णतया निर्भर रहना पड़ता होता, तो उसकी प्रगति बहुत ही सीमित रहती। मनुष्य शेष सृष्टि से ऊपर केवल इसलिए उठ सका है, क्योंकि वह अन्य कालों के अन्य व्यक्तियों के अनुभव से भी लाभ उठाने में समर्थ हुआ है। यदि मनुष्य में यह क्षमता न होती, तो अपनी इन्द्रियों की अत्यधिक दुर्बलता के कारण वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों के सम्मुख कभी का परास्त हो गया होता। यदि शिक्षा मानसिक क्षितिज को विस्तृत करती हो, तो यह स्पष्ट है कि शिक्षा जितनी अधिक ऊंची होगी, उतना ही अधिक विस्तृत क्षितिज वह हमारे सम्मुख खोल कर रख सकेगी।

परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में किसी भी देश में उच्चतर शिक्षा जनता के

केवल एक थोड़े-से भाग को छोड़कर अन्य लोगों को प्राप्त नहीं हो सकती। अनेक देशों में तो प्रारम्भिक शिक्षा की भी व्यवस्था न तो सबके लिए सामान्य ही है और न पूर्ण ही। हालाँकि इस प्रकार की प्रारम्भिक शिक्षा द्वारा मनुष्य केवल जीवित रहने के लिए आवश्यक बातों का ही ज्ञान प्राप्त कर पाता है। दुर्भाग्य से यही वह मंजिल है, जिस पर पहुँच कर, जहाँ तक भी हम भविष्य को देख सकते हैं, अधिकांश लोगों को रुक जाना पड़ता है। किसी भी समाज के ८० प्रतिशत या इससे भी अधिक लोग प्रारम्भिक शिक्षा से आगे की शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते। सामान्य दशाओं में उनका जीवन अपने पास-पड़ौस के घेरे से बाहर भी कभी नहीं जाता। इनमें से अधिकांश लोग अपना सारा जीवन केवल दस या अधिक से अधिक बीस मील व्यासार्ध के घेरे में रहकर ही बिता देते हैं।

प्रारम्भिक शिक्षा से आगे जाने वाले लोगों की संख्या बहुत अल्प होती है। इन लोगों को फिर दो वर्गों में बाँटा जा सकता है, जिनमें से एक वर्ग अपेक्षाकृत छोटा होता है, और दूसरा बड़ा। इनमें से बड़ा वर्ग सामान्यतया माध्यमिक शिक्षा से आगे नहीं जाता। इन लोगों की रुचियों का क्षेत्र कुछ अधिक विस्तृत होता है और उसी के अनुसार उनका मानसिक क्षितिज भी अधिक विशाल होता है। परन्तु वे भी सामान्यतया देश की नीति के रूप-निर्धारण में अथवा अपने पास-पड़ौस के क्षेत्र से बाहर होने वाली घटनाओं के निर्धारण में कोई सक्रिय भाग नहीं लेते। उन्हें जानकारी और निर्णय के लिए, ऊर्जा और पहल करने के लिए उस अपेक्षाकृत छोटे वर्ग पर आश्रित रहना पड़ता है, जो उच्चतर शिक्षा का लाभ प्राप्त करता है। इस छोटे-से वर्ग पर ही अपने देश की नीति को शेष संसार के सम्मुख प्रस्तुत करने और शेष संसार की नीति को अपने देशवासियों के सम्मुख प्रस्तुत करने की जिम्मेदारी आ पड़ती है।

परन्तु यदि प्रजातन्त्र का काम ठीक ढंग से चलाना अभीष्ट हो, तो कम से कम प्रारम्भिक शिक्षा सभी नागरिकों को दी जानी चाहिये। जनता के लिए इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का उतना ही बड़ा दायित्व है, जितना कि कानून और व्यवस्था को बनाये रखना। यह काम इतना अधिक विशाल है कि कोई भी गैर सरकारी या स्वेच्छा से बनायी गयी संस्था इसे पूरा नहीं कर सकती। प्रारम्भिक विद्यालयों में पढ़ाने वाले अध्यापकों को भी

उसकी अपेक्षा कुछ न कुछ अधिक ही ज्ञान होना चाहिये. जितना ज्ञान, उनसे आशा की जाती है कि, वे अपने शिष्यों को प्रदान करेंगे। इसी प्रकार माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा देने वाले अध्यापकों का ज्ञान भी कम से कम विश्वविद्यालय के प्रमाप तक तो होना ही चाहिये। राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का संगठन करने में प्रमापों को ऊँचा बनाये रखने, सहायक सेवाओं की व्यवस्था करने, प्रशासन, पर्यवेक्षण और निरीक्षण की समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं। इन सबके लिये प्रारम्भिक या माध्यमिक शिक्षा काल में प्राप्त होने वाली शिक्षा की अपेक्षा कहीं अधिक उच्चतर शिक्षा प्राप्त लोगों की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो विशाल जनता के लिए बिलकुल प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए भी काफी बड़ी संख्या में ऐसे पुरुषों और स्त्रियों की आवश्यकता है, जिन्हें विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त हुई हो।

इसलिए आधुनिक जगत में सामान्य रूप से शिक्षा को, और विशेष रूप से उच्चतर शिक्षा को बड़ा महत्वपूर्ण कार्य पूरा करना पड़ता है। लोगों के जीवन स्तर में कोई भी सुधार इस बात पर निर्भर होता है कि उस देश की भौतिक सम्पत्ति में वृद्धि हो। इस प्रकार की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि देश के मनुष्यों तथा अन्य साधनों का अधिक से अधिक अच्छा उपयोग किया जाय। मनुष्यों और साधनों का अधिक से अधिक अच्छा उपयोग वैज्ञानिक तथा प्राविधिक ज्ञान के विकास द्वारा ही किया जा सकता है। यह ठीक है कि अन्ततोगत्वा सारी सम्पत्ति का स्रोत प्रकृति है, परन्तु आधुनिक युग का मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए प्रकृति की विभिन्न प्रक्रियाओं का उपयोग करने का यत्न कर रहा है। यह ठीक ही कहा गया है कि आधुनिक जगत में कोई भी देश स्वतः दरिद्र या सम्पन्न नहीं है। कोई भी देश उतना ही सम्पन्न या दरिद्र है, जितना उस देश के लोगों का ज्ञान अधिक या कम है। विज्ञान ऐसी स्थिति तक पहुँच चुका है, जिसमें लगभग किसी भी वस्तु से कोई भी काम लिया जा सकता है। रसायन विज्ञान ने कोयले और खड़िया से खाद्य और पेय पदार्थ तैयार कर दिये हैं। इसी प्रकार प्लास्टिक से कपड़े तैयार किये गये हैं; और धातुओं का स्थान कृत्रिम रूप से बनाये हुए पदार्थों ने ले लिया है।

विश्वविद्यालयों को अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान और सद्भावना के प्रसार के केन्द्र के रूप में भी कार्य करना चाहिये। आधुनिक संसार में राष्ट्रीय प्रगति भी

तब तक नहीं की जा सकती, जब तक उसके लिये अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और शान्ति की पृष्ठभूमि न हो। युद्ध सदा ही विनाशकारी रहे हैं परन्तु अतीत में युद्ध प्रायः संसार के किसी एक ही प्रदेश तक सीमित रहते थे। यहाँ तक कि जिन भागों में युद्ध हो भी रहा होता था, वहाँ की भी असैनिक जनता युद्ध से किसी सीमा तक बची रहती थी। परन्तु आजकल बड़ी तेजी से ऐसी स्थिति उत्पन्न होती जा रही है, जिसमें तटस्थ लोगों या युद्ध में किसी एक पक्ष में भाग न लेने वाले लोगो के लिये कोई स्थान नहीं होगा। इसलिये आधुनिक युद्ध सारे संसार को दीन-दरिद्र बना देगा। इसके अतिरिक्त उद्योग, व्यापार और वाणिज्य इतने समेकित हो गये हैं कि संसार के किसी भी भाग में होने वाली किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल घटना की प्रतिक्रिया संसार के अन्य सभी भागों पर होती है। इसलिये यह आवश्यक है कि यदि प्रत्येक देश के सब नागरिक नहीं, तो कम से कम नेताओं को अवश्य इतना ज्ञान और उनमें इतनी सूझ-बूझ होनी चाहिये कि वे अपने देश के मामलों को अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखते हुए ठीक-ठीक ढंग से चला सकें।

किसी भी प्रकार के समाज में नेताओं का स्थान महत्वपूर्ण होता है। बिना नेताओं के अनिश्चित-सी विशाल जनता कोई काम कर ही नहीं सकती। प्रजातन्त्र प्रणाली से भिन्न समाज के रूपों में नेता लोग जन्म से ही नेता होते हैं; और चाहे उनमें नेतृत्व के गुण न भी हों, फिर भी उन्हें इसलिए नेता स्वीकार कर लिया जाता है, क्योंकि उन्होंने नेताओं के वर्ग में जन्म लिया है। लोग आदत या सहजवृत्तिवश उनके पीछे चलने लगते हैं, किसी युक्तियुक्त विश्वास के कारण नहीं। इसलिए किसी न किसी प्रकार समाज का काम चलता ही रहता है। परन्तु प्रजातन्त्र में इस सहजवृत्तिपूर्ण अथवा आदत के कारण नेताओं का अनुकरण करने का स्थान स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया हुआ आज्ञापालन ले लेता है। इसलिए प्रजातन्त्र में नेताओं का कार्य और भी अधिक महत्वपूर्ण हो उठता है। गैर प्रजातन्त्रीय पद्धतियों में नेता के प्रति निष्ठा निष्क्रिय होती है, जबकि प्रजातन्त्र प्रणाली में यह निष्ठा जान-बूझकर स्वेच्छापूर्वक अपनायी गयी होती है और सचेत चुनाव का परिणाम होती है। इसलिए प्रजातन्त्र में नेताओं का चुनाव चरित्र और योग्यता के आधार पर होना चाहिये। लेकिन आजकल के संसार में चरित्र और योग्यता का ही आधार काफी नहीं है; आजकल के नेताओं

को ज्ञान और नवयुग का आलोक प्राप्त होना भी आवश्यक है। संसार के संकुचित हो जाने और वैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि हो जाने के कारण आधुनिक मनुष्य के हाथों में अत्यधिक विशाल सम्भावित शक्ति आ गयी है। अतीत के नेताओं की गलतियों का परिणाम यह हो सकता था कि किसी एक उपजाति या जाति या अधिक से अधिक किसी एक राष्ट्र को कष्ट उठाना पड़े। वर्तमान परमाणु युग में नेताओं की गलतियों का परिणाम यह हो सकता है कि इस संसार का सर्वनाश ही हो जाय।

प्रजातन्त्र में नेताओं का कार्य इतना महत्त्वपूर्ण होता है, इसलिए प्रजातन्त्र में राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था करना और भी अधिक आवश्यक हो उठता है। प्रजातन्त्र में नेताओं का चुनाव समाज के सब वर्गों में से होना चाहिये। यदि किसी एक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग या समूह को ही देश के लिए नेता प्रदान करने और उस नेतृत्व के साथ लगे हुए लाभ प्राप्त करने का विशेषाधिकार प्राप्त है, तो वस्तुतः वह प्रजातन्त्र ही नहीं है। इसलिए प्रजातन्त्र में सब लोगों को नेतृत्व के लिए समान अवसर रहना चाहिये और यह केवल तभी हो सकता है, जबकि सब लोगों को शिक्षा के लिए एक-सी सुविधाएँ प्राप्त रहें। उस दशा में भी व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर रहेगा और वे अनेक दृष्टियों से एक दूसरे से भिन्न बने रहेंगे। परन्तु इस प्रकार की विविधता प्रजातन्त्र के साथ असंगत नहीं है। प्रजातन्त्र का यह अर्थ भी नहीं है कि देश के सब निवासी राज्य के वास्तविक प्रशासन में समान रूप से हिस्सा बँटा रहे हैं। यदि ऐसा करने का प्रयत्न किया जाय तो उसका परिणाम केवल आपाधापी और अव्यवस्था ही होगा। प्रजातन्त्र में केवल इस बात की गारन्टी रहती है कि व्यक्तियों को जो काम सौंपे जाते हैं, वे उनके सामर्थ्य के आधार पर सौंपे जाते हैं। किसी खास परिवार में जन्म होने अथवा धन के आधार पर नहीं सौंपे जाते। यदि सब लोगों को समान अवसर भी दिया जाय, तो कुछ लोग अपनी बुद्धि या चरित्र के सहज गुणों के कारण अपने साथियों से आगे बढ़ जायेंगे। वे ही समाज के स्वाभाविक नेता हैं। उनको नेतृत्व का अवसर प्रदान न करना उतना ही अप्रजातन्त्रात्मक है, जितना कि प्रभावशाली और सम्पन्न परिवारों में उत्पन्न हुए अयोग्य व्यक्तियों के नेतृत्व को स्वीकार कर लेना।

३

विश्वविद्यालयों का एक और भी कार्य है, जो अन्य देशों के विश्वविद्यालयों की भाँति भारतीय विश्वविद्यालयों को भी पूरा करना चाहिये। यह कार्य है परम्परा और परीक्षण, स्थायित्व और परिवर्तन के बीच आवश्यक सन्तुलन बनाये रखना। यह बात स्वतः सिद्ध है कि कोई भी समाज पूर्णतया अचल (स्टेटिक) नहीं रह सकता। बाहरी घटनाओं के दबाव के कारण समाज को अपने आकार-प्रकार में कुछ न कुछ परिवर्तन करते रहना पड़ता है। सूक्ष्म आन्तरिक परिवर्तनों के कारण भी इसका चरित्र धीरे-धीरे परिवर्तित होता रहता है। इस प्रकार कोई भी जीवित समाज परिवर्तन से बचा नहीं रह सकता। वस्तुतः बाह्य और आन्तरिक प्रेरणाओं का प्रतिग्रह (रिस्पोन्स) करने की क्षमता ही इसकी जीवनी शक्ति का माप होती है। परन्तु नयी वस्तुओं को अपना लेने और साम्य स्थापन करने की वह शक्ति आन्तरिक स्थायित्व और एकता पर आधारित रहती है; अन्यथा कोई भी समाज केवल परिवर्तित ही न होगा, अपितु छिन्न-भिन्न हो जायगा और अन्त में नष्ट हो जायगा।

हम लोग प्रायः उन बड़ी-बड़ी क्रान्तियों की चर्चा करते हैं, जिन्होंने किसी जाति या देश के चरित्र को बदल डाला। क्रान्ति अतीत के साथ होने वाले एक उग्र परिवर्तन का चिह्न होती है; परन्तु कोई भी क्रान्ति अतीत से पूरी तरह सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर देती। फ्राँसीसी और रूसी क्रान्तियों की घटनाओं का मूल फ्राँसीसियों और रूसियों के चरित्र और इतिहास में विद्यमान था। फ्राँसीसी क्रान्ति में रूसी क्रान्ति की विशेषताएँ उससे कुछ अधिक दृष्टिगोचर नहीं हो सकतीं, जितनी कि रूसी क्रान्ति की विशेषताएँ फ्राँसीसी क्रान्ति में दीख सकती हैं। क्रान्ति में धीमे-धीमे और दिखायी न पड़ने वाले परिवर्तन की प्रक्रियाएँ एकाएक बड़े स्पष्ट रूप में प्रकट हो उठती हैं। फिर भी इसका परिणाम केवल यह होता है कि धीमे-धीमे बढ़ती हुई प्रवृत्तियाँ अपनी चरम सीमा तक जा पहुँचती हैं। जब कोई आदिवासी समाज किसी सभ्य समाज के सम्पर्क में आता है, तब जो कुछ होता है, उसकी तुलना में हमारी क्रान्तियाँ तो बड़ा मामूली-सा परिष्कार मात्र जान पड़ती हैं। हमारे सामने इस सम्बन्ध में आस्ट्रेलिया और अमेरिका के देशी निवासियों के यूरोप की जातियों

के सम्पर्क में आने के उदाहरण मौजूद हैं। इन जातियों के परस्पर सम्पर्क में आने का परिणाम यह हुआ कि आदिवासियों की संस्कृति पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो गयी और देशी जातियों के लोग विपत्ति और मृत्यु के शिकार हो गये।

न केवल व्यक्तियों के लिए, बल्कि समाजों के लिए भी स्वस्थ रूप से प्रगति कर पाना तभी तक सम्भव है, जब तक कि स्थायित्व को बनाये रखने वाली शक्तियों और परिवर्तन उत्पन्न करने वाली शक्तियों में समतुलन बना रहे। जड़ता का सिद्धान्त (ला आफ इनर्शिया) समाज पर भी उतना ही लागू होता है, जितना कि संसार की भौतिक वस्तुओं पर। मनुष्य सामान्यतया तब तक नयी-नयी बातों से बचना चाहते हैं, जब तक कि परिस्थितियाँ उन्हें उन बातों को स्वीकार करने के लिए विवश न कर दें। इसलिए अत्यधिक विकसित समाज प्रायः परिवर्तन को पसन्द नहीं करता और शिक्षा, जो कि विकास का ही एक उपकरण होती है, प्रायः एक परिवर्तन-विरोधी शक्ति होती है। परन्तु यह उतनी परिवर्तन-विरोधी नहीं होती, जितनी केवल आदत या प्रथा परिवर्तन-विरोधी होती है; क्योंकि शिक्षा मन को एक उदार बनाने वाली शक्ति भी है; यह मन के सम्मुख अतीत और वर्तमान, स्थानीय और विदेशी विभिन्न प्रथाओं की उससे कहीं अधिक विस्तृत श्रृंखला प्रस्तुत कर देती है, जितनी कि हम अपने प्रत्यक्ष अनुभव से जान सकते हैं।

इस प्रकार शिक्षा एक ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न करने में सहायक होती है, जिसमें मनुष्य बिना उग्र उथल-पुथल के परम्पराओं में परिवर्तन को स्वीकार कर लेते हैं। आदिवासी समाजों में, जो अधिकतर प्रथाओं और रूढ़ियों से शासित रहते हैं, इस प्रकार की लचक दिखायी नहीं पड़ती; और इसीलिए जब वे सभ्य समाजों के सम्पर्क में आते हैं, तो वे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। शिक्षा जितनी ऊँची होगी, उतना ही अधिक अनुभव का विस्तृत रूप वह हमारे सामने ला सकेगी। इस प्रकार उच्चतर शिक्षा मनुष्य को यह समझने में समर्थ बनाती है कि हमारी वर्तमान मनोवृत्तियों और संस्थाओं में क्या कुछ स्थायी है, और क्या अस्थायी। यह शिक्षा उन्हें नयी वस्तु का मूल्यांकन करना भी सिखाती है, जिससे कोई नया जीवन-मूल्य केवल इसलिए तिरस्कृत न कर दिया जाय, क्योंकि वह नया है। शिक्षा नागरिकों से यह आशा करती है कि वे अतीत और वर्तमान का सन्तुलन कर सकेंगे; और इस प्रकार यह उन्हें भविष्य की चुनोती को

स्वीकार क ने के िए तैयार करती है। अन्य देशों के विश्वविद्यालयों की भाँति भारतीय विश्वविद्यालयों को भी स्थिरता को बनाये रखने और समाज मे लचक उत्पन्न करने का यह दुहरा कृत्य (फक्शन) पूरा करना होगा।

४

अब हम एक ऐसे कृत्य की ओर आते हैं, जिसे पूरा करना विशेष रूप से भारतीय विश्वविद्यालयों का काम है। वह कृत्य है—संस्कृतियों के समन्वय के लिए एक संयोजक अभिकरण (कैटैलिटिक एजेन्ट) के रूप में काम करना। इस प्रकार की उक्ति पहले पहल विरोधाभास-सी प्रतीत हो सकती है। भारतीय संस्कृति की एक सबसे बड़ी विशेषता दूसरों को अपने अन्दर मिला सकने की शक्ति और समन्वय रही है। विभिन्नता में एकता अब तक भी जितनी प्राप्त की जा चुकी है, वह काफी है; परन्तु वह सचेत विचार के स्तर पर प्राप्त नहीं की गयी। इस प्रकार का समन्वय अधिकांशतः सहजवृत्ति के द्वारा हुआ है; और उसका आधार अनुभूतियों और भावनाओं से प्राप्त प्रेरणाएँ रही हैं। यही इस बात का मुख्य कारण है कि हमें भारत में साथ ही साथ विद्यमान समानान्तर समाज और संस्कृतियाँ दिखायी पड़ती हैं। भारतीय इतिहास की अनेक दुःखद घटनाएँ इस समेकन (इंटैग्रेशन) और एकीकरण की असफलता का ही परिणाम रही हैं।

इस बात का सबसे स्पष्ट प्रमाण भारत में विद्यमान तीन शिक्षा प्रणालियों के रूप में दिखायी पड़ता है, जो समानान्तर धाराओं के रूप में साथ-साथ बह रही हैं। पश्चिम के लगभग सभी देशों में अलग-अलग संस्थाओं या अनुशासनों में दिखायी पडने वाली बड़ी-बड़ी विषमताओं के होते हुए भी शिक्षा में सामान्य रूप से एकरूपता पायी जाती है। पश्चिम में बौद्धिक जीवन के वातावरण पर प्राकृतिक विज्ञानों का प्रभाव सबसे प्रमुख है। इसका असर उन संस्थाओं पर भी पड़ा है, जिनका उद्देश्य जान-बूझ कर विज्ञान का विरोध करना रहा है। पश्चिमी शिक्षा के भी अपने आन्तरिक उपभाग (डिवीजन) हैं परन्तु इस प्रकार के अन्तरों की तुलना भारत में विद्यमान शिक्षा के उपभागों से नहीं की जा सकती। पश्चिम में शिक्षा के क्षेत्र में उपरिस्थ एकता इसलिए है, क्योंकि उस शिक्षा की जड़ें यूनानी और हिब्रू परम्पराओं में जमी हुई हैं और उसके ऊपर

वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रभाव सबसे अधिक छाया हुआ है।

आधुनिक भारत में इस समय तीन समानान्तर शिक्षा प्रणालियाँ विद्यमान हैं जिनका उद्गम प्राचीन भारत में, मध्यकालीन भारत में, और पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने के बाद हुआ है। अपने प्रारम्भिक दौर में स्वतन्त्र रूप से दार्शनिक विचार करने के पश्चात् प्राचीन भारतीय शिक्षा शास्त्रीय, साहित्यिक और मुख्यतया रूढ़िपरक हो गयी। इनमें एक अधिकारात्मकता (तानाशाही) की-सी ध्वनि आ गयी, जो सम्भवतः ऐसे समाज में आजानी अनिवार्य ही है, जिसमें विद्या तक केवल थोड़े-स अल्पसंख्यक लोगों की ही पहुँच हो। केवल इन थोड़े-से सौभाग्यशाली लोगों को ही भारत की विशाल बौद्धिक सम्पत्ति तक पहुँचने का अधिकार था। उनके ज्ञान के कुछ छोटे मोटे अंश गाथाओं और कहानियों के रूप में, सन्तों के नैतिक उपदेशों और धार्मिक गुरुओं के प्रवचनों के रूप में जनता तक अवश्य पहुँच जाते थे। परन्तु जनता तक जो ज्ञान पहुँचता था, वह विद्वानों के ज्ञान का बहुत छोटा-सा ही अंश होता था। इस प्रकार समाज में दो अलग-अलग ध्रुव तैयार हो गये; जिनमें से एक ध्रुव पर तो वे बहुत थोड़े-से अल्पसख्यक लोग थे, जिनमें ज्ञान और बुद्धि केन्द्रित हो गयी थी; और दूसरे ध्रुव पर वे विशाल बहुसंख्यक लोग थे, जो अज्ञान और अन्धविश्वास में डूबे हुए थे। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इस प्रकार के समाज के स्वभाव पर कट्टर सिद्धान्त और परम्पराओं तथा प्रथाओं के लौह नियम का प्रभुत्व शीघ्र ही छा जाय।

मध्य युग में मुस्लिम शासक अपने साथ शिक्षा की एक अपनी प्रणाली लेकर आये, जो अरब और ईरान की परम्पराओं से प्रभावित थी। शुरू-शुरू में इस्लाम क्रान्तिकारी और प्रजातन्त्रात्मक था। इसका परिणाम यह हुआ कि यह नयी शिक्षा प्रणाली सिद्धान्त की दृष्टि से प्रजातन्त्रात्मक थी; परन्तु व्यवहार में यह प्रणाली भी जनता के केवल एक छोटे वर्ग तक ही सीमित थी। यह ठीक है कि जन्म के आधार पर शिक्षा प्राप्त करने में कोई रोक नहीं थी, परन्तु पाठ्य क्रम की अवधि इतनी लम्बी थी और पाठ्य विषय इतने कठिन थे कि थोड़े-से मुट्ठी भर श्रद्धालु शिष्यों को छोड़कर शेष लोग शीघ्र ही निरुत्साहित हो जाते थे। प्राचीन भारतीय शिक्षा की भाँति यह प्रणाली भी शीघ्र ही अधिकारात्मक (तानाशाही) ढंग की और कट्टर सिद्धान्तात्मक हो गयी। इससे भी अधिक

दुर्भाग्यपूर्ण बात यह हुई कि इस नयी प्रणाली का विकास भारत की देशी प्रणाली से बिलकुल पृथक् स्वतन्त्र रूप में हुआ, और लगभग उसके विरोध में हुआ। यदि इन दोनों प्रणालियों में कुछ बिन्दुओं पर परस्पर सम्पर्क हो जाता, तो उनके स्पष्ट सिद्धान्तवादों के कारण वे दोनों ही अपने-अपने सिद्धान्तों में कुछ सुधार करतीं। परन्तु ऐसा नहीं हुआ और ये दोनों प्रणालियाँ साथ-साथ उन समानान्तर रेखाओं के रूप में चलती रहीं, जो कभी भी परस्पर नहीं मिलतीं।

अंग्रेजों के भारत में आने के बाद इन दोनों प्रणालियों को एक नई प्रणाली से जोरदार चुनौती मिली। परन्तु इस चुनौती का परिणाम यह नहीं हुआ कि भारतीय शिक्षा संगठित होकर एक बन जाती। इसके विपरीत हुआ यह कि दो विद्यमान प्रणालियों के साथ-साथ एक और तीसरी शिक्षा प्रणाली भी चल पड़ी। पश्चिमी शिक्षा सिद्धान्त की दृष्टि से और व्यवहार की दृष्टि से भी क्रमश: अधिकाधिक होते हुए रूप में सबके लिए खुली थी। इस शिक्षा में न तो जात-पाँत का और न धार्मिक भेद-भाव का ही कोई खयाल किया जाता था। सच तो यह है कि इसे सबसे पहले प्राप्त करने वाले वर्ग कुछ पिछड़े हुए वर्ग ही थे। इस पश्चिमी शिक्षा में विज्ञान और परीक्षणों पर अधिक जोर दिया गया था, इसलिए भारतीय जीवन में यह एक नया तत्व आया। विश्वविद्यालयों की स्थापना से, जिस रूप में आज हम उन्हें जानते हैं, आलोचना करने की भावना को प्रोत्साहन मिला और इसके फलस्वरूप पुराने जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में नुक्ताचीनी की जाने लगी। परन्तु प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक ज्ञान के उत्तराधिकार को आपस में मिलाकर एक करने और सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का विकास करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया।

परन्तु एक ही देश में रहने वाले लोग एक दूसरे से बिलकुल अलग-थलग नहीं रह सकते। भौगोलिक निकटता के कारण लोगों को अनिवार्य रूप से एक दूसरे के सम्पर्क में आना पड़ेगा। परिस्थितियों की आवश्यकताओं ने हिन्दुओं और मुसलमानों को परस्पर समझौता करने के लिए विवश कर दिया। मध्यकाल के बिलकुल प्रारम्भ में ही इन दोनों में अनेक स्तरों पर अनेक बातों में सम्पर्क प्रारम्भ हो गया था। दरबारों में और शहरों में सांसारिक उन्नति की दृष्टि से इन दोनों में एक-सा व्यवहार होने लगा था। गाँवों में समाज-सुधारकों, धार्मिक नेताओं और कवियों के प्रयत्न के फलस्वरूप इन दोनों के समान विश्वास और

समान प्रथाएँ विकसित हो चली थीं। चैतन्य, नानक और रामानन्द जैसे पुरुषों ने हिन्दुओं की सबसे अलग-थलग रहने की प्रवृत्ति को समाप्त कर दिया और उन्होंने हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर मुसलमानों में भी कबीर, चिश्ती और निजामुद्दीन जैसे लोग थे, जिन्होंने हिन्दू-मुसलमानों में सद्भावना और एकता उत्पन्न करने की चेष्टा की। प्रत्येक प्रणाली में विद्वानों की विद्वत्ता का कुछ अंश रिस-रिस कर जनता तक भी पहुँचता रहता था, परन्तु प्रायः उसका रूप इतना बदल जाता था कि उसे पहचान पाना भी सम्भव नहीं होता था। अंग्रेज़ों के आने के बाद मध्ययुग की ही भाँति फिर लोगों में परस्पर सम्पर्क स्थापित हुआ। फिर पहले की ही भाँति पश्चिमी विचारधारा के प्रभाव के फलस्वरूप पुरानी परम्पराएँ और प्रथाएँ अस्त-व्यस्त हुईं; परन्तु फिर पहले की ही भाँति उनमें समन्वय स्थापित हो गया, जो भावनाओं पर अधिक और बुद्धि पर कम आधारित था।

विश्वासों और व्यवहारों की ये एकताएँ दैनिक जीवन के मामलों की दृष्टि से बड़ी मूल्यवान थीं। कोई चाहे तो इस प्रकार की एकताओं को समन्वय भी कह सकता है; परन्तु यह समन्वय व्यवहार, भावना और मानव की सहज बुद्धि के स्तर पर था। अलोचनात्मक और सावधान विचार का समर्थन प्राप्त न होने के कारण इसमें वे दुर्बलताएँ थीं, जो सभी सहज प्रवृत्तियों में पायी जाती हैं। यह समन्वय तभी तक टिक सकता था, जब तक कि इसे किसी प्रतिकूल सहज-वृत्ति से चुनौती न मिले। केवल अनुभूतियों और भावनाओं से प्राप्त प्रेरणाओं पर आधारित होने के कारण इस समन्वय में उस सुदृढ़ता का भी अभाव था, जो केवल बौद्धिक स्पष्टता से ही उत्पन्न हो सकती है।

५

इस प्रकार भारत में लगभग एक सौ वर्ष तक तीन समानान्तर शिक्षा-प्रणालियाँ साथ-साथ विद्यमान रहीं और फिर भी वे एक दूसरे में ऐसे ढंग से घुल-मिल नहीं सकीं, जैसा कि एक समान दृष्टिकोण विकसित करने के लिए आवश्यक है। इनमें से पहली शिक्षा प्रणाली तो प्राचीन भारतीय परम्परा पर आधारित है, जिसका मुख्य वाहन संस्कृत है; दूसरी इस्लामी विचारों पर आधारित है और उसका माध्यम अरबी और फारसी हैं, और तीसरी शिक्षा-

प्रणाली आधुनिक यूरोप के दृष्टिकोण पर आधारित है और उसकी भाषा अंग्रेजी है। फैजी और दारा जैसे या बाद के काल में राजा राममोहन राय जैसे बिरले लोगों को छोड़कर विद्वान् लोगों ने शिक्षा और ज्ञान की इन समानान्तर प्रणालियों में समन्वय कराने का प्रयत्न नहीं किया। हिंदुओं में से कुछ थोड़े-से लोग आर्थिक और राजनैतिक उद्देश्यों से अरबी और फारसी सीखते थे, परन्तु ऐसे लोग संस्कृत नहीं सीख पाते थे। उससे भी कुछ कम संख्या में मुसलमानों ने संस्कृत का अध्ययन किया। अंग्रेजों के आगमन के बाद पहले हिन्दुओं ने, और उसके बाद मुसलमानों ने अंग्रेजी का अधिकाधिक अध्ययन करना शुरू किया; परन्तु जनता की अधिकांश संख्या, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, एक ही शिक्षा-प्रणाली के घेरे में घूमती रही। संस्कृत के टोल (पाठशालाएँ) और अरबी के मकतब दो ऐसी अलग-अलग दुनियाएँ थीं, जिनमें अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का प्रवेश नहीं था।

आधुनिक भारतीय जीवन में जितनी असन्तोषजनक चीजें हैं, उनमें से अधिकांश का कारण यही है कि विभिन्न वर्गों को विभिन्न क्षेत्रों बाँट कर एक दूसरे से पृथक् कर दिया गया है। आजकल भी हमें ऐसे लोग दिखायी पड़ते हैं, जिनकी शिक्षा केवल प्राचीन भारत में निर्धारित आदर्शों और पद्धतियों के अनुसार हुई है। ऐसे लोगों के लिए काल की गति अब से १५०० वर्ष पहले ही बन्द हो गयी दीखती है। इसी प्रकार एक और वर्ग है, जिसे अरबी और फारसी का तो अच्छा ज्ञान है, किन्तु वह संस्कृत साहित्य की परम्पराओं और पश्चिमी देशों के आधुनिक ज्ञान से अनभिज्ञ है। दूसरी ओर विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाने वाले लोग प्रायः संस्कृत, अरबी और फारसी से अनभिज्ञ होते हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालय तथा उच्चतर शिक्षा की अन्य संस्थाएँ उस समन्वय को प्रतिबिम्बित करने में असफल रही हैं, जिसे सन्तों और कवियों ने, सुधारकों और प्रचारकों ने और यहाँ तक कि कम पढ़े हुए या अनपढ़ नर-नारियों ने भी धर्म, नीति और कला के स्तरों पर प्राप्त कर लिया था।

एक साथ रहने वाले नर-नारियों को एक दूसरे से पूर्णतया पृथक करके नहीं रखा जा सकता। इसलिए बौद्धिक दृष्टि से पृथक् कर दिये गये समूहों ने भावना और पारस्परिक बर्ताव के क्षेत्र में आपस में सम्पर्क स्थापित कर लिये। बुद्धि और भावना के इस समेकन के अभाव का परिणाम एक विचित्र प्रति-

क्रिया के रूप में यह हुआ कि व्यक्ति के मन में अलग-अलग खाने-से बन गये। एक व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से तो पश्चिमी विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करता है, परन्तु भावनाओं की दृष्टि से प्राचीन या मध्यकालीन भारत की परम्पराओं में डूबा रहता है। विचारों की आधुनिकतम प्रणाली बर्ताव और भावनाओं की बिल्कुल आदिमकालीन पद्धतियों के साथ-साथ विद्यमान रहती है। इस प्रकार के विचलन (ऐबेरेशन) के मामलों को यदि हम टाल भी दें—और उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनको इतनी आसानी से टाल देना उचित नहीं कहा जा सकता—फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि देश में तीन स्वतन्त्र शिक्षा प्रणालियों के सह अस्तित्व के कारण आधुनिक भारत के शिक्षित नर-नारियों में से अधिकांश का बौद्धिक जीवन दरिद्र हो गया है।

सारे देश में राष्ट्रीय शिक्षा की एक समान (सांझी) प्रणाली न होने का ही यह परिणाम हुआ है कि आजकल भी इतने सारे भारतीय प्रादेशिक, भाषापरक अथवा साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से ग्रस्त हैं। दूसरे देशों में विश्वविद्यालयों ने राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक तत्व की विरासत को एक सांझे कोश में ले आने में बड़ी सहायता की है। भारत में ऐसा नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ है कि विभिन्न सम्प्रदायों और विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों में एक संकीर्ण अनुभागिक (सैक्शनल) दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया है, और वह अब तक बना हुआ है।

६

उच्चतर शिक्षा केवल थोड़े-से चुने हुए वर्गों तक ही सीमित रही, इसका भारतीय समाज पर एक और अवांछनीय प्रभाव हुआ है। हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि प्राचीन काल में शिक्षा पर ऐसा प्रतिबन्ध होने के कारण जनता में किस प्रकार शिक्षितों और अशिक्षितों के दो ध्रुव बन गये थे। समाज का विकास असमान रूप से हुआ; और समय बीतने के साथ-साथ सुशिक्षित लोग अधिकांश अशिक्षित जनता द्वारा अपनाये जाने वाले पेशों को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। आजकल उच्चतर शिक्षा के द्वार कहीं अधिक लोगों के लिए खुलते जा रहे हैं। परन्तु शारीरिक श्रम के विभिन्न रूपों के प्रति यदि घृणा नहीं, तो भी उपेक्षा की पुरानी प्रवृत्ति समाप्त नहीं हुई है। इसके प्रतिकूल इस बात के प्रमाण दीख पड़ते हैं कि देहाती और शहरी जनता के

बीच भेद की खाई गहरी होती जा रही है। मध्यकाल तक शहर और गाँव में अन्तर मुख्यरूप से मात्रा (डिग्री) का अन्तर था। परन्तु आजकल वह अन्तर इतना अधिक हो गया है कि शहर और गाँव एक दूसरे को बिलकुल भिन्न प्रतीत होते हैं। ग्रामीण लोग अब भी मानो अतीत काल में जीते हैं। शहर बीसवीं शताब्दी के तीव्र प्रवाह में बह चले हैं। गाँवों के जो लोग आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं, वे गाँव छोड़कर शहर में आ बसते हैं, इसलिए गाँव और शहर के बीच की खाई और भी चौड़ी हो गयी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जनता में इस प्रकार के नये वर्ग उत्पन्न हो जाने और शहरियों में देहातियों के प्रति यदि घृणा नहीं, तो भी आश्रयदाता की-सी मनोवृत्ति पैदा हो जाने के कारण राष्ट्रीय जीवन दुर्बल हो गया है।

इस समय शहर और गाँव के बीच के इस अन्तर को समाप्त करने के लिए जोरदार प्रयत्न किया जा रहा है। इस प्रयत्न का कुछ वर्णन समाज शिक्षा वाले अध्याय में किया जा चुका है; परन्तु इसका एक और महत्वपूर्ण अंग है, जिसके बारे में उच्चतर शिक्षा के प्रसंग में ध्यान आकृष्ट कर देना उचित होगा। बहुत हाल तक भी उच्चतर शिक्षा की संस्थाएँ केवल शहरों में ही केन्द्रित थीं। इससे न केवल ामीणों को शिक्षा पाने का अवसर नहीं मिलता था, बल्कि इससे भी बुरी बात यह थी कि गाँव के सबसे योग्य और सबसे ऊर्जस्वी सदस्य गाँव से खिंचकर शहर में चले आते थे। गाँवों के जो युवक शिक्षा प्राप्त करने के लिए शहर में आते थे, वे शायद ही कभी वापस गाँवों में लौटते थे। विश्वविद्यालय तथा उच्चतर शिक्षा की अन्य संस्थाओं के शहर में केन्द्रित होने से एक और हानि हुई। इन संस्थाओं की दृष्टि केवल शहर और शहर की समस्याओं पर ही लगी रही। देहाती क्षेत्रों की विशेष आवश्यकताओं की ओर मुश्किल से ही कोई ध्यान दिया गया होगा। और यह हाल तब था, जबकि भारतीय जनता का बहुत बड़ा भाग गाँवों में ही रहता है। इसलिए राष्ट्र के सम्मुख यह एक चिन्तनीय बात बन गयी कि उच्चतर शिक्षा की संस्थाएँ देहाती क्षेत्रों में बनायी जायँ; और इस प्रकार ग्रामीण विश्वविद्यालयों की माँग उत्पन्न हुई।

फिर भी यह स्वीकार कर लेना उचित है कि ग्रामीण विश्वविद्यालय की धारणा की परिभाषा बहुत स्पष्ट रूप में नहीं की गयी है। कोई विश्वविद्यालय

केवल इतने से ही ग्रामीण विश्वविद्यालय नहीं बन जाता, कि वह किसी गाँव में अवस्थित है, या वह उन समस्याओं पर अधिक ध्यान देता है, जिनका शहरी जनता की अपेक्षा देहाती जनता से सम्बन्ध अधिक है। इसी प्रकार विश्वविद्यालय के स्तर पर उन विषयों को भी अलग परिगणित नहीं किया जा सकता, जिनका केवल मात्र गाँव की दृष्टि से ही महत्व हो। उच्चतर शिक्षा की एक आधारभूत विशेषता यह है कि वह अव्यक्त और सामान्य बनती चली जाती है। दूसरी ओर इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि गाँवों के युवकों को इतनी पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त हों, कि उन्हें गाँव छोड़कर शहर जाने को विवश न होना पड़े। यह भी स्वाभाविक है कि ऐसी संस्थाएँ किस स्थान पर बनी हैं, इसका प्रभाव भी काफी सीमा तक छात्रों की रुचियों और नवीकरण (ओरियेन्टेशन) पर पड़ता है। ग्रामीण जनता के लिए उच्चतर शिक्षा के सम्पूर्ण प्रश्न पर विचार करने के लिए एक विशेष समिति नियुक्त की गयी थी। इस समिति का विचार यह रहा कि शहरी और देहाती इलाकों में दी जाने वाली उच्चतर शिक्षा के उद्देश्यों और लक्ष्यों में कोई अन्तर नहीं हो सकता। फिर भी देहाती क्षेत्रों की कुछ अपनी ऐसी विशेष समस्याएँ हैं, जिनकी ओर शहरों में स्थित शिक्षा संस्थाओं ने काफी ध्यान नहीं दिया है। इस कमी को पूरा करने के लिए और देहाती क्षेत्रों में भी युवकों और युवतियों को उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने का अवसर देने के लिए समिति ने कुछ ग्रामीण प्रतिष्ठान (रूरल इंस्टीट्यूट्स) स्थापित करने की सिफारिश की है। इन प्रतिष्ठानों में माध्यमिक शिक्षाकाल के बाद तीन वर्ष का पाठ्यक्रम होगा और इनका उद्देश्य इस समय विद्यमान विश्वविद्यालयों की प्रथम उपाधि के पाठ्यक्रम जितना शिक्षा प्रमाप कर देना होगा। स्वतन्त्र संस्थाओं के रूप में इन प्रतिष्ठानों को कालेजों की अपेक्षा कहीं अधिक स्वतन्त्रता होगी और ये ऐसी स्थिति में होंगे कि अपनी इच्छानुसार विषयों का चुनाव कर सकें और स्थानीय आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए चाहे जिस विषय पर चाहे जितना जोर दे सकें। जब ये प्रतिष्ठान कुछ वर्ष तक काम कर चुकेंगे, तब सारी स्थिति पर विचार करके यह निश्चय किया जायगा कि ग्रामीण विश्वविद्यालयों की आवश्यकता कितनी है, और उनकी प्रकृति और उनका कार्य क्षेत्र क्या होना चाहिये।

७

आजकल का भारत कुछ दशाब्दियों में ही उतनी सफलता प्राप्त करना चाह रहा है, जितनी पश्चिमी जगत् में शताब्दियों में प्राप्त हुई है। पश्चिमी देशों का उद्योगीकरण कम से कम पिछले तीन सौ वर्षों में शनैः-शनैः हुआ है। भारत सम्भवतः उतना उद्योगीकरण तीस वर्षों में कर डालना चाहता है। यह सत्य है कि भारत में उद्योगीकरण का प्रारम्भ एक सौ वर्ष पहले हुआ समझा जा सकता है, और प्रथम विश्वयुद्ध ने आधुनिक उद्योगों की वृद्धि को बड़ा प्रोत्साहन दिया था; फिर भी जीवन की पुरानी परम्पराएँ बिना किसी परिवर्तन के ज्यों की त्यों चलती रहीं, क्योंकि भारत की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति ही उस समय ऐसी थी। सच्चे अर्थों में आधुनिकीकरण द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ने के बाद प्रारम्भ हुआ; क्योंकि आधुनिक उद्योगीकरण का पूरा-पूरा प्रभाव उसके बाद ही अनुभव होना शुरू हुआ। स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद भारत ने जान-बूझकर उद्योगीकरण की प्रक्रिया को जारी रखने और उसके परिणामस्वरूप सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में प्रजातन्त्रात्मक उपायों द्वारा परिवर्तन करने का निश्चय किया। इस प्रकार आजकल भारत में जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे सच्चे अर्थों में क्रांतिकारी हैं, परन्तु प्रायः सभी कहीं वे जनता की सहमति और सहयोग द्वारा ही हो रहे हैं।

प्रजातन्त्र के प्रसार और उद्योगीकरण की वृद्धि का परिणाम अनिवार्य रूप से उच्चतर शिक्षा का विस्तार होता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उच्चतर शिक्षा का सब लोगों तक प्रसार एक ऐसे देश में हुआ, जिसने राजनीतिक दृष्टि से प्रजातन्त्र को और आर्थिक नीति के रूप में बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण की नीति को अपनाया था। प्रजातन्त्र तब तक उचित रूप से काम नहीं कर सकता, जब तक समाज के सभी स्तरों पर शिक्षा का प्रसार न हो जाय। इसी प्रकार उद्योगीकरण में भी मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है और वह भी उच्चतर शिक्षा पर ही निर्भर है। ज्यों-ज्यों मशीनों का प्रयोग अधिक होने लगा, त्यों-त्यों साक्षरता के प्रसार की आवश्यकता भी बढ़ती गयी। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि शिक्षा के प्रसार का किसी भी समाज

के उद्योगीकरण की मात्रा से सीधा सम्बन्ध है, जो कि किसी समाज में प्राप्त हो सकती है।

भारत ने यह निश्चय किया है कि देश में आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक समाज का विकास किया जाय। इसलिए हमारे देश के विभिन्न वर्गों को विभक्त करने वाली खाइयों को पाटने की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गयी है। एक सांझे राष्ट्रीय दृष्टिकोण को परिपुष्ट करने के लिए भाषा, धर्म और जाति सम्बन्धी भेद-भाव पर विजय प्राप्त करनी होगी। यदि सारे समाज को एक इकाई के रूप में कार्य करना है, तो शहर और गाँव के विकास के अन्तर को समाप्त करना होगा। प्रजातन्त्रात्मक समाजों में सामाजिक परिवर्तन सामान्यतया बिना किसी योजना के और बिना सचेत ज्ञान के ही होते रहे हैं। वे परिवर्तन जान-बूझकर किये नहीं गये, अपितु अपने आप हो गये हैं। दूसरी ओर एकतन्त्रीय समाजों में जनता की इच्छाओं का शायद ही कोई ख्याल रखा जाता हो। भारत अपने भविष्य की योजना जानते-बूझते और इच्छापूर्वक तैयार कर रहा है; और साथ ही साथ वह चाहता है कि उसके निवासियों को उन योजनाओं का ज्ञान हो और वे उनमें भाग लें। यह महत्वाकांक्षा से भरा हुआ आदर्श केवल तभी प्राप्त हो सकता है, जबकि सारे देश में एक ऐसा ज्ञानपूर्ण नेतृत्व विद्यमान हो, जो सांझे आदर्शों से प्रेरित हो।

इस प्रकार भारतीय विश्वविद्यालयों को एक सांझी संस्कृति के विकास में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लेना है। परन्तु अभी तक जितना अभीष्ट था, उतना विश्वविद्यालयों ने नहीं किया। एक या दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि विश्वविद्यालय क्यों असफल रहे हैं। बिलकुल हाल तक जो लोग हमारे विश्वविद्यालयों में दर्शन शास्त्र का अध्ययन करते थे, वे अपना सारा समय और ध्यान यूरोपीय विचारधारा के अध्ययन में लगाते थे। इस शताब्दी के आरम्भ में भारतीय दर्शन को भी विश्वविद्यालयों में पाँव जमाने का स्थान मिल गया था और उसका महत्व क्रमशः बढ़ता जा रहा है। परन्तु अब तक भी विभिन्न प्रकार की विचार धाराओं के बीच पारस्परिक अंगांगी सम्बन्ध को पूरी तरह अनुभव नहीं किया गया है। आज तक भी यूरोपियन, भारतीय और इस्लामी दर्शन शास्त्रों को पृथक्-पृथक् और अपने आप में पूर्ण विषय मानकर चला

जाता है। इससे भी बुरी बात यह है कि भारतीय दर्शन को प्रायः अरबी विचार-धारा का एक विकल्प समझा जाता है। राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली में भारतीय, इस्लामी और यूरोपियन इन तीनों प्रणालियों का, जिन्होंने आधुनिक भारतीय चेतना को प्रभावित किया है, एक प्रणाली बद्ध और सुसंगत अध्ययन करने की आवश्यकता होगी। हमारे बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के कारण यह आवश्यक हो गया है कि जिन तत्वों का भारतीय विचारधारा पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं भी पड़ा, उन्हें भी हमारे पुनर्गठित पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाय। आजकल सुदूरपूर्व के देशों की विचार प्रणालियाँ लगभग अज्ञात ही हैं। परन्तु जब तक मानव-विचार के विकास में उनके योगदान की उपेक्षा की जायेगी, तब तक मानव-विचार के विकास का चित्र स्पष्ट नहीं बन सकता। किसी भी विशिष्ट क्षेत्र में विशेष योग्यता प्राप्त करना तभी उपयोगी और सृजनशील हो सकता है, जब कि वह इस प्रकार के सामान्य ज्ञान पर आधारित हो।

भाषाओं के अध्ययन का क्षेत्र इस बात का एक और उदाहरण है कि हमारे पाठ्यक्रम किस प्रकार संकुचित सीमाओं में बंधे हैं। आक्सफोर्ड के 'लिटेरे ह्यूमेनियोर्स' जैसे पाठ्यक्रमों का मुख्य बल इस बात में निहित है कि उनमें तरुण मस्तिष्कों को यूरोप की दो सबसे महत्वपूर्ण सभ्यताओं के सम्पर्क में लाया जाता है। इस पाठ्यक्रम को स्वीकार करने वाले प्रत्येक विद्यार्थी को ग्रीक और लैटिन भाषाएँ अवश्य पढ़नी पड़ती हैं और उसे यूनान और रोम, दोनों के दार्शनिक विचारों और राजनीतिक तथा आर्थिक संरचनाओं (स्ट्रक्चर) का अध्ययन करना पड़ता है। इसके विपरीत भारत में जो लोग संस्कृत का अध्ययन करते हैं, वे प्रायः पाली तक से अनभिज्ञ रहते हैं। इसी प्रकार जो लोग फारसी का अध्ययन करते हैं, उनमें से अनेक को अरबी का ज्ञान नहीं के बराबर होता है। अभी तक किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय ने संस्कृत और अरबी या पाली और फारसी का एकीकृत अर्थात् मिला-जुला पाठ्यक्रम तैयार नहीं किया। यदि भारतीय संस्कृति को उसके सब पहलुओं की दृष्टि से हृदयंगम करना अभीष्ट है, तो देश में कम से कम कुछ विद्वान् ऐसे अवश्य होने चाहियें, जिन्हें संस्कृत और फारसी पर तथा पाली और अरबी पर समान रूप से अधिकार हो। यूरोप में प्राचीन साहित्य के विद्यार्थियों में यूनान और रोम की दो

सम्पन्न और विभिन्न सभ्यताओं के साथ परिचय होने के कारण निर्णय करने की परिपक्व शक्ति विकसित हो जाती है और उन्हें बौद्धिक स्वच्छता प्राप्त हो जाती है। यदि हमारे प्राचीन साहित्य के पाठ्यक्रमों को इतनी ही उदारता से तैयार किया जाय, तो हमारे साहित्यिक विद्वानों को प्राचीन और मध्य-कालीन भारतीय सभ्यताओं के ज्ञान द्वारा कम से कम उतना ही विस्तृत और मानवतावादी दृष्टिकोण विकसित कर पाना चाहिये।

इस प्रकार के प्रस्ताव के विरुद्ध एक आक्षेप यह किया जा सकता है कि इससे प्राचीन साहित्य का विस्तृत अध्ययन तो हो जायगा, किन्तु गहरा अध्ययन नहीं हो पायेगा। परन्तु यह आक्षेप युक्तिसंगत नहीं। जिन लोगों में अध्ययन-शीलता की भावना नहीं है, उन्हें अध्ययन के चाहे जिस क्षेत्र में छोड़ दिया जाय, वे केवल उथला-उथला अध्ययन ही करेंगे। आजकल इस प्रकार के विद्यार्थी एक बहुत ही संकुचित क्षेत्र में उथला-उथला ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। दूसरी ओर जिन्हें ज्ञान और अध्ययनशीलता से प्रेम है, वे अपनी पसन्द से चुने हुए अध्ययन के किसी भी क्षेत्र में विशेष ज्ञान प्राप्त करते ही रहेंगे। एक विस्तृत पाठ्यक्रम बनाने से उन्हें केवल यह सहायता मिलेगी कि वे जिस विषय में विशे-षता प्राप्त करेंगे, उसमें और भी अधिक गहराई तक पहुँच सकेंगे। यदि हमारे विश्वविद्यालय अपने वास्तविक प्रयोजन को पूरा करना चाहते हैं, तो उन्हें एक ऐसी विस्तृत और राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था करनी चाहिये, जिसमें हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं का समान रूप से अध्ययन और मूल्यांकन हो सके।

जब तक हमें उन अनेक स्रोतों का ज्ञान न हो, जहाँ से भारतीय संस्कृति का उद्गम हुआ है, तब तक हम उसके महत्व, उसकी विविधता और उसकी जीवन-शक्ति को हृदयंगम नहीं कर सकते। इसलिए भारतीय विश्वविद्यालयों को संस्कृति के कोशागार के रूप में और प्रगति के अग्रदूतों के रूप में इस प्रकार के पाठ्यक्रम विकसित करने चाहियें, जिनमें भारतीय जीवन के अनेक पहलू प्रति-बिम्बित होते हों। विश्वविद्यालयों को एक ऐसा संगम बन जाना चाहिये, जहाँ प्राचीन और मध्यकालीन भारत से उत्तराधिकार में प्राप्त जीवन-मूल्यों का इस

समय विदेशों से आने वाले ज्ञान और अनुभव के साथ सम्मिश्रण हो सके। केवल इसी प्रकार विश्वविद्यालय हमारे राष्ट्र के अन्दर विद्यमान तत्वों में एकता स्थापित करने में सहायक हो सकते हैं और लोगों में एक ऐसी कल्पना की दृष्टि और बौद्धिक विशालता उत्पन्न कर सकते हैं, जो भारतीय संविधान में घोषित प्रजातन्त्र, न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आवश्यक है।

अध्याय ६

अंग्रेजी का अध्ययन

यह बात सुनने में आश्चर्यजनक अवश्य प्रतीत होती है, पर फिर भी यह सत्य है कि स्वाधीनता के बाद अंग्रेजी के अध्ययन की माँग बढ़ती ही गयी है। जो लोग पहले अंग्रेजी के सम्बन्ध में उदासीन थे, वे अब उसके अध्ययन में बड़ी रुचि लेने लगे हैं। यह बात देहाती क्षेत्रों के सम्बन्ध में विशेष रूप से सत्य है। अतीत में गाँवों के अधिकांश विद्यालयों में अंग्रेजी की पढ़ाई की कोई व्यवस्था न थी; फिर भी शायद ही किसी ने कभी इस बात की शिकायत की हो। परन्तु आजकल गाँवों के लोग अधिकाधिक यह माँग कर रहे हैं कि गाँवों के विद्यालयों में अंग्रेजी की पढ़ाई की वैसी ही सुविधाएँ दी जायँ, जैसी शहरों के विद्यालयों में दी जाती हैं।

इस परिवर्तन के अनेक कारण हैं। अतीत में सरकार शहरों के लोगों की इच्छाओं और आवश्यकताओं का कहीं अधिक ध्यान रखती थी; इसलिए शिक्षण की सुविधाएँ मुख्य रूप से शहरी इलाकों में ही केन्द्रित थीं। गाँवों के लोगों को यह प्रबन्ध अन्यायपूर्ण प्रतीत भी होता था, तो भी उनमें प्रायः इतना साहस और पहल करने की भावना नहीं होती थी कि वे अपनी माँगों को अधिकारियों के सम्मुख जोर देकर रख सकें। आजकल सारे देश की जनता ही अपने प्रभाव और शक्ति के सम्बन्ध में अधिकाधिक सचेत होती जा रही है। ग्रामीण लोग भी इसके अपवाद नहीं हैं; और उनकी यह माँग है कि उनके बालकों को भी वे ही सुविधाएँ दी जानी चाहियें, जो शहर के बालकों को

प्राप्त हैं। देहाती विद्यालयों में अंग्रेजी के अध्ययन की माँग बढ़ते जाने का शायद यह भी एक बड़ा कारण है।

फिर भी यह बात असंगत-सी प्रतीत होती है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद एक विदेशी भाषा के अध्ययन को इतना महत्व क्यों दिया जा रहा है। पहले समय में जो भी लोग जीवन में आगे बढ़ना चाहते थे, उन्हें अंग्रेजी पढ़नी ही पड़ती थी। सरकारी नौकरी के लिए तो यह आवश्यक शर्त थी ही, अन्य पेशों में भी कोई व्यक्ति तब तक सफल नहीं हो सकता था, जब तक कि उसे अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान न हो। जो लोग वाणिज्य और उद्योग के क्षेत्र में जाते थे, उनके लिए भी अंग्रेजी का ज्ञान न होना एक बड़ी बाधा ही बनी रहती थी। इस प्रकार की विवशताओं के होते हुए भी स्वाधीनता से पहले भारत में अंग्रेजी के विरुद्ध भावना बड़ी तीव्र थी। यहाँ तक कि जो लोग संस्कृति और विज्ञान के माध्यम के रूप में इसके मूल्य को स्वीकार भी करते थे, वे भी इस बात पर सहमत थे कि अंग्रेजी के अध्ययन पर जो अनावश्यक जोर दिया जा रहा है, वह समाप्त हो जाना चाहिये। परन्तु अब मनोवृत्ति पूर्णतया बदल चुकी है। आज जब कि देश स्वतन्त्र है, और अगर हम चाहें तो अंग्रेजी के अध्ययन को बिलकुल ही बन्द कर सकते हैं, जनता के सभी वर्गों में, और लगभग सभी प्रदेशों में अंग्रेजी के अध्ययन की माँग निरन्तर बढ़ती ही जा रही है।

यह माँग इतने विस्तृत रूप से व्यापक है, यह बात भारत के देहातों में उच्चतर शिक्षा की स्थिति का मूल्यांकन करने और उसके सुधार के लिए सिफारिशें करने के सम्बन्ध में हाल ही में किये गये एक परिमाप (सर्वेक्षण) के दौरान में बहुत स्पष्ट हो गयी थी। इस प्रकार का सर्वेक्षण या परिमाप अनेक कारणों से आवश्यक हो गया था। प्रजातन्त्र शासन में सब नागरिकों को उन्नति का अवसर समान रूप से मिलना चाहिये। इस प्रकार के अवसरों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है—उच्चतम स्तर तक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर। स्वाधीनता से पूर्व भारत में शिक्षा की सुविधाएँ बड़े ही असमान रूप से बँटी हुई थीं। यह ठीक है कि प्रारम्भिक विद्यालयों की अधिकांश संख्या देहाती क्षेत्रों में थी; परन्तु यह उस अनुपात में नहीं थी, जिसमें कि देश की जनता गाँवों और शहरों में रहती है। इसके अतिरिक्त गाँवों के विद्यालय लगभग निरपवाद रूप से शहरों की अपेक्षा घटिया किस्म के थे। माध्यमिक शिक्षा के मामले में

तो गाँवों की दशा और भी गयी-गुजरी थी और माध्यमिक शिक्षा से आगे की (माध्यमिकोत्तर शिक्षा की) तो लगभग सभी शिक्षा संस्थाएँ शहरों और कस्बों में ही थीं।

इस प्रकार गाँव के लोगों को वे सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं, जो उनके अधिक सौभाग्यशाली शहरों में रहने वाले साथी नागरिकों को प्राप्त थीं। इस प्रकार के प्रबन्ध में एक और बड़ी त्रुटि थी। देहाती क्षेत्रों से युवकों को उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने के लिए शहरों में आना पड़ता था। जब वे अपने जीवन का सबसे अधिक प्रभावग्रहणशील भाग शहर के वातावरण में बिता देते थे, तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि उनमें से अधिकांश वापस गाँव में जाकर रहना पसन्द नहीं करते थे। इस प्रकार देहाती क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर लोगों का आते जाना भी विचार और चिन्ता का विषय बन गया था। इस स्थानान्तरण का एक बड़ा कारण देहाती क्षेत्रों में शिक्षा की सुविधाओं का न होना है।

इसलिए प्रजातन्त्र की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए और सब लोगों को उन्नति का समान अवसर देने के लिए यह आवश्यक है कि गाँवों में शिक्षा की अधिकाधिक सुविधाएँ देने की व्यवस्था की जाय। यदि हम चाहते हैं कि देहातों से लोगों का शहर की ओर खिंचते चले आना रुक जाय, तो उसके लिए भी यही आवश्यक है। इसका अर्थ केवल प्रारम्भिक और माध्यमिक स्तरों पर ही बड़े विशाल पैमाने पर शिक्षा की सुविधाओं का विस्तार करना नहीं है, अपितु उच्चतर शिक्षा के लिए भी नयी सुविधाओं की व्यवस्था करनी होगी। देहाती क्षेत्रों में उच्चतर शिक्षा की इस समस्या का हल करने के लिए ही भारत सरकार ने वह समिति नियुक्त की थी, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह समिति जहाँ कहीं भी गयी, वहीं इसने यह देखा कि सब जगह न केवल सामान्य रूप से उच्चतर शिक्षा की जोरदार माँग है, अपितु अंग्रेजी के अध्ययन की अधिकाधिक सुविधाओं की विशेष रूप से माँग है। यह बात एक ग्यारह या बारह साल के बालक द्वारा दिये गये एक उत्तर से बहुत स्पष्ट हो गयी थी। यह बालक एक ऐसे प्रदेश का निवासी था, जो अब तक शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा हुआ समझा जाता था। उससे पूछे गये एक प्रश्न के उत्तर में उस बालक ने बताया कि वह अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा अंग्रेजी का अध्ययन अधिक करना चाहता है। जब उससे पूछा गया कि तुम आखिर अंग्रेजी को इतना अधिक

पसन्द क्यों करते हो, तो उसका उत्तर था : "यदि मैं अंग्रेजी नहीं पढ़ूँगा तो मैं भारत का प्रधान मन्त्री कैसे बन सकता हूँ ?"

हम इसे एक मूर्ख बालक का मूर्खतापूर्ण उत्तर समझकर टाल भी सकते हैं, परन्तु बाइबिल में एक जगह कहा गया है कि सत्य प्राय: बालकों और बच्चों के मुख से प्रकट होता है। इस मामले में भी बालक वस्तुत: एक सत्य को अभिव्यक्त कर रहा था, हालाँकि उसे यह पता न था कि जो कुछ वह कह रहा है, उसका अर्थ कितनी दूर तक जाता है। यदि हम इस उत्तर पर गहराई तक विचार करें, तो हमें अनुभव होगा कि उसका उत्तर इस युग का प्रतीक था। इस उत्तर में दो आकांक्षाएँ अभिव्यक्त की गयी हैं, जो वर्तमान भारत में सार्वजनीन बन गयी हैं। इनमें से पहली आकांक्षा है प्रजातन्त्र की और प्रजातन्त्रात्मक चेतना की वृद्धि की। क्योंकि इसी आकांक्षा के कारण यह सम्भव हुआ कि एक पिछड़े हुए प्रदेश के गाँव का बालक भी यह सोच सका कि वह किसी दिन भारत का प्रधान मन्त्री बन सकता है। इस आकांक्षा के साथ ही यह माँग भी जुड़ी हुई है कि प्रजातन्त्र में सबको उन्नति का समान अवसर मिलना चाहिये। यदि अंग्रेजी की शिक्षा उन लोगों के बच्चों के लिए आवश्यक समझी जाती है, जिनके हाथ में आज देश की राजनीतिक सत्ता है, तो यह उन लोगों के बालकों के लिए भी समान रूप से आवश्यक समझी जानी चाहिये, जो अब तक देश के नागरिक न रहकर केवल प्रजा के रूप में जी रहे हैं।

उस बालक ने अपने उत्तर में अनजाने ही जिस दूसरी आकांक्षा को व्यक्त किया था, वह है संसार के विशालतर जीवन में भाग लेने की आकांक्षा। आधुनिक संसार में केवल अपने देश के सम्बन्ध में ही ज्ञान प्राप्त कर लेना काफी नहीं है। जो भी कोई व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त करना चाहता है, उसे सारे संसार में बह रही बड़ी-बड़ी विचारधाराओं के सम्पर्क में रहना होगा। आधुनिक संसार में अनेक देशों के इतिहास और अर्थशास्त्र, राजनीतिक और धर्मों के ज्ञान के बिना नेतृत्व प्राप्त नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी बाह्य संसार के साथ इस सम्पर्क का प्रतीक है, और यही कारण है कि वह सीधा-सादा गाँव का बालक अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा अंग्रेज़ी पढ़ना अधिक जरूरी समझता था।

१

आधुनिक भारत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक ऐसे प्रजातन्त्र की भावना बढ़ती जा रही है, जिसमें समाज के सब सदस्यों को उन्नति का समान अवसर मिलना चाहिये। एक अर्थ में यह हमारा अपने अतीत से क्रान्तिकारी सम्बन्ध विच्छेद-सा है; और यह सम्बन्ध विच्छेद केवल हमारे अपने ही अतीत से नहीं है, अपितु यह नयी प्रजातन्त्रात्मक आकांक्षा सारे संसार की पुरानी सामाजिक धारणाओं से स्पष्ट रूप से बिलकुल अलग है। अन्य प्राचीन समाजों की भाँति अतीत में भारतीय समाज भी मुख्य रूप से वर्ग-तन्त्रात्मक (हियेरार्किकल) रहा है। परन्तु आज सारे संसार में ही इस प्रकार के वर्गतन्त्रात्मक समाज का आधार नष्ट हो गया है। अनेक देशों में इस समय पुराने सामाजिक रूपों और उन नयी आकांक्षाओं के बीच संघर्ष चल रहा है, जो आकांक्षाएँ पुराने ढाँचों में नहीं समा सकतीं। यदि यह पूछा जाय कि मान-वीय व्यवहारों और पुराने पड़ गये वर्गतन्त्रात्मक समाज में यह क्रान्तिकारी परिवर्तन किस कारण हुआ, तो उत्तर में कहा जा सकता है कि इसका कारण विज्ञान और प्रविधि अथवा शिल्प में हुई अत्यधिक प्रगति है। यदि फिर यह पूछा जाय कि विज्ञान और प्रविधि में यह उन्नति किस प्रकार सम्भव हुई, तो इसका उत्तर शायद मनुष्य द्वारा प्रकृति के रहस्यों को अधिक और अधिक जानते जाने में मिले। दूसरे शब्दों में विज्ञान और प्रविधि की यह उन्नति आधुनिक जगत् में शिक्षा और ज्ञान के अत्यधिक प्रसार के फलस्वरूप हुई है।

यह केवल संयोग की बात नहीं है कि विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ प्रजातन्त्र की भावना में भी वृद्धि हुई है। हमें इस बात को अनुभव करना चाहिये कि प्रजातन्त्र में शिक्षा के कृत्य के सम्बन्ध में कोई भी विचार-विमर्श तब तक पर्याप्त नहीं समझा जा सकता, जब तक कि उसमें इस बात पर पूरा ध्यान न दिया गया हो कि ज्ञान के क्षेत्र में हुई इन प्रगतियों ने मानवीय इतिहास में ऐसी स्थितियाँ पैदा कर दी हैं, जो पहले कभी नहीं हुई थीं। वर्गतन्त्रात्मक समाज अतीत में केवल दो कारणों से विद्यमान रह सके थे। परिवहन और सम्पर्क स्थापन (संचार) के साधन सन्तोषजनक न होने के कारण संसार कई पृथक्-पृथक् समाजों में बँटा हुआ था,

जिनका एक दूसरे से कोई सम्पर्क नहीं होता था। इस प्रकार के प्रत्येक समाज में उसका अलग अपने ढंग का वर्गतन्त्र था और उसकी विशेषाधिकारों की अपनी अलग ही प्रणाली होती थी। किसी एक ही समाज के अन्दर रहते हुए व्यक्ति को कभी उस विशेषाधिकार की प्रणाली के सम्बन्ध में आक्षेप करने का कोई अवसर ही नहीं मिलता था। प्रायः व्यक्ति को उस समाज के अतिरिक्त, जिसमें कि वह उत्पन्न हुआ होता था और रहता था, किसी अन्य सामाजिक व्यवस्था का ज्ञान ही नहीं होता था। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ऐसी परिस्थितियों में वर्गतन्त्रात्मक समाज शताब्दियों तक रह सके।

वर्गतन्त्रात्मक समाजों के अस्तित्व का दूसरा कारण संसार की उस समय की अर्थ-व्यवस्था पर आधारित था। उस समय की अर्थ-व्यवस्था मुख्य रूप से अभावों की अर्थ-व्यवस्था थी। क्योंकि प्रकृति की शक्तियों पर मनुष्य का नियंत्रण सीमित था, इसलिए उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की कुल मात्रा सीमित थी। केवल उन थोड़े-से लोगों को छोड़कर, जो दूसरों के श्रम पर जीवित रहते थे, अन्य लोगों को अवकाश या फुरसत नाम की चीज का पता न था। परन्तु सभ्यता और संस्कृति की प्रगति के लिए आवश्यक शर्तें ये हैं कि लोगों के पास अवकाश हो और जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूर्ण करने के बाद भी उनके पास कुछ न कुछ सामग्री बच रहती हो। समाज के उस समय विद्यमान आर्थिक संगठन में व्यक्ति, अथवा लोगों के वर्ग केवल उसी दशा में खाली समय अथवा आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ प्राप्त कर सकते थे, जबकि कुछ लोगों को जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं से भी वंचित कर दिया जाय। ऐसे समाज में दासता शायद अनिवार्य ही थी। हम देखते हैं कि प्लेटो और अरस्तू जैसे उदार और मनुष्यता-प्रेमी विचारकों ने भी दासता की प्रथा का समर्थन किया था। उनका विचार था कि इस समय की दशाओं में संस्कृति तब तक पनप ही नहीं सकती, जब तक कि बहुसंख्यक लोग उस अतिरिक्त सम्पत्ति का उत्पादन न करें, जिसका उपभोग अल्पसंख्यक लोग कर रहे हों।

विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप प्रविधि विज्ञान इतना उन्नत हो गया है कि संसार की अर्थ-व्यवस्था का आधार ही बदल गया है। आजकल इतना उत्पादन किया जा सकता है कि जिससे सब लोगों की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। सच तो यह है कि आजकल के सामान्य आदमी को भी वे सुविधाएँ प्राप्त

हैं, जो पहले जमाने में राजाओं और बड़े-बड़े धनपतियों को भी प्राप्त नहीं थीं। इसलिए इस बात की आवश्यकता नहीं रही है कि एक व्यक्ति को अवकाश या खाली समय केवल उसी दशा में प्राप्त हो सके, जबकि उसके बदले किसी अन्य व्यक्ति को बड़ा नीरस परिश्रम करना पड़ रहा हो। इस प्रकार सामाजिक वर्गतन्त्रवाद का एक प्रमुख कारण समाप्त हो चुका है।

प्रविधि विज्ञान में उन्नति होने के फलस्वरूप सम्पर्क स्थापन (संचार) और परिवहन के साधनों में बड़ा सुधार हो गया है। अब संसार के लोग दूरी अथवा भौतिक बाधाओं के कारण एक दूसरे से विभक्त नहीं रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि संसार दिनोंदिन घनीभूत होता जा रहा है। ऐसे समाज और जातियाँ, जिनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अलग-अलग है और जो विकास की अलग-अलग स्थितियों में विद्यमान हैं, एक दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। विभिन्न प्रकार के समाजों और व्यक्तियों के इस प्रकार परस्पर संपर्क में आने के फलस्वरूप लोगों ने यह अनुभव कर लिया कि किसी भी प्रकार के वर्गतन्त्रवाद की प्रणाली में अथवा विशेषाधिकारों में कोई दिव्य या पवित्रता की कोई बात नहीं है। इससे अगला कदम यह था कि किसी भी समाज में किन्हीं व्यक्तियों या वर्गों को प्राप्त विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में नुक्ताचीनी की जाय। अलग-अलग समाजों की प्रणालियों की तुलना करने का परिणाम यह हुआ कि बहुत-से पुराने स्वीकृत विश्वास समाप्त हो गये। लोग अधिकाधिक इस बात को अनुभव करने लगे कि किसी भी व्यक्ति को जन्म अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर कोई विशेषाधिकार प्राप्त करने का हक नहीं है।

विज्ञान की प्रगति ने वर्गतन्त्रवाद के विशेषाधिकारों को समाप्त करने में एक और ढंग से भी सहायता की। विज्ञान की प्रगति केवल तभी सम्भव हो सकी, जबकि मनुष्य के मन में व्यक्ति के प्रति एक नयी मनोवृत्ति जाग्रत हो गयी। इस नयी मनोवृत्ति के अनुसार व्यक्ति को विश्वव्यापी नियम के एक उदाहरण अथवा किसी वर्ग के एक सदस्य के रूप में देखा जाने लगा। साथ ही साथ इस मनोवृत्ति के अनुसार विश्वव्यापी नियम अथवा साधारण कानून की वैधता इस बात पर आधारित की गयी कि वह नियम या कानून व्यक्तियों पर किस प्रकार लागू किया जाता है। विज्ञान की विजय यात्रा तभी प्रारम्भ हुई, जबकि विशिष्ट वस्तुओं को उनके सामान्य पहलुओं की दृष्टि से देखा गया

और सामान्य नियम को अलग-अलग उदाहरणों पर लागू किया गया। यह नया दृष्टिकोण केवल विज्ञान के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा; शीघ्र ही इसे सामाजिक क्षेत्र में भी लागू कर दिया गया। इसके फलस्वरूप एक ऐसे बौद्धिक वातावरण का विकास हुआ, जिसमें व्यक्तियों या वर्गों के पृथक् विशेषाधिकारों को न तो स्वीकार किया जाता था, और न उचित समझा जाता था।

सामाजिक वर्गतन्त्रवादों की समाप्ति के पश्चात् मानवीय ऊर्जा बहुत बड़े पैमाने पर उन्मुक्त हो गयी। प्रतिबन्ध लगाने वाले सामाजिक स्तरों की समाप्ति के फलस्वरूप ऐसे करोड़ों व्यक्तियों को पहले-पहल स्वाधीनता और समानता की अनुभूति हुई, जो पहले समाज में अपनी दीन-हीन दशा में यह मानकर रहते चले आते थे, कि यह उनके भाग्य का फल है। यह कुछ आकस्मिक या संयोग की बात नहीं है कि पिछले ५०० वर्षों में उससे कहीं अधिक प्रगति हुई है, जितनी कि उससे पहले के मानव-इतिहास के ५०००० वर्षों में हुई थी। सब वस्तुओं का रूप अभूतपूर्व वेग से बदला है, और अब भी बदलता जा रहा है। यह बात भी विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि पिछले ५० वर्षों में जो परिवर्तन हुए हैं, वे गत पिछले ५०० वर्षों में हुए परिवर्तनों की अपेक्षा भी कहीं अधिक महान् हैं।

परिवर्तन की प्रक्रिया में इस अत्यन्त विशाल तीव्र गति के कारण मनुष्य के सम्मुख नयी समस्याएँ आ खड़ी हुई हैं। अब एक ऐसी स्थिति आ गयी है कि जिसमें यदि मनुष्य को जीवित रहना है, तो सब मनुष्यों को एक परिवार के सदस्य के रूप में ही जीवित रहना होगा। औद्योगिक और आर्थिक दृष्टि से, और एक अर्थ में तो राजनीतिक दृष्टि से भी, संसार आज एक हो चुका है। भूमंडल के किसी भी एक भाग में होने वाली घटनाओं की प्रतिक्रिया संसार के दूरतम भागों में भी होती है। परन्तु मनुष्य का मन अभी अपने आपको मानव-परिवार की इस एकता के अनुकूल नहीं ढाल सका है। आजकल का संसार जिन समस्याओं से ग्रस्त है, उनमें से अनेक का कारण यह है कि मानव परिवार की एकता स्थापित तो हो चुकी है, किन्तु मनुष्य अभी तक उसे अनुभव करने में असमर्थ रहा है।

सारे संसार की एकता की भावना कोई बिलकुल नयी वस्तु नहीं है। आदि

काल से ही पैगम्बर और ऋषि लोग यह घोषणा करते रहे हैं कि सब मनुष्य एक हैं। अतीत की प्रत्येक संस्कृति या सभ्यता में विश्व की संस्कृति या विश्व की सभ्यता बनने की सम्भावनाएँ निहित थीं। भारत के प्राचीन स्वर्ण युग में भारतीय सभ्यता की भावना उन सब देशों पर छा गयी थी, जो उन दिनों भारतवासियों को ज्ञात थे। चीनी संस्कृति या मिस्री सभ्यता की भावना के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। मध्य युग में अरब सभ्यता भी इसी प्रकार सारे ज्ञात संसार पर छा गयी थी। पुराने समय की इन विश्वव्यापी सभ्यताओं और आज की दशा में अन्तर एक महत्वपूर्ण तथ्य में निहित है। वह तथ्य यह है कि अतीत की इन सभ्यताओं का उद्देश्य विश्व-सभ्यता बनना था और वे विश्व-सभ्यता बन भी सकती थीं। किन्तु वैज्ञानिक और प्राविधिक उपकरणों के अभाव के कारण सारे संसार का एकीकरण केवल एक आदर्श मात्र बना रहा; परन्तु आज विज्ञान की सफलताओं के फलस्वरूप वह आदर्श सत्य के रूप में साकार हो उठा है।

२

संसार को इस रूप में देखते हुए कि वह दिनों दिन और अधिकाधिक एक होता जा रहा है, हमें अपने बौद्धिक उत्तराधिकार में अंग्रेजी के स्थान के सम्बंध में विचार करना है। अतीत में जो-जो सभ्यताएँ पनपीं, उनमें से प्रत्येक का वाहन कोई न कोई भाषा थी, जिसे उस युग की भाषा कहा जा सकता है। इस प्रकार अपने गौरवपूर्ण दिनों में संस्कृत और उससे सम्बद्ध भाषाएँ न केवल भारतवासियों के लिए, अपितु दक्षिण-पूर्वी एशिया के सारे प्रदेशों के लिए संस्कृति का वाहन बनी हुई थी। इसी प्रकार किसी समय लैटिन भी उस सारे संसार में, जिसमें रोमन कानून और यूनानी सभ्यता स्वीकार की जाती थी, एकता स्थापित करने वाला एक सूत्र बनी हुई थी। मध्यकाल में अरबी भाषा भी उस समय के सभ्य संसार में यही काम करती रही। अरबी भाषा की अवनति के बाद कई शताब्दियों तक यह अनिश्चित दशा बनी रही कि उसका स्थान कौन-सी भाषा ले। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत हुआ कि फ्राँसीसी भाषा सारे संसार की भाषा बन सकती है, और वस्तुतः वह नाम के लिए विश्व-भाषा बन भी गयी थी, परन्तु अन्त में अंग्रेजी की विजय हुई। आज क्या कोई इस

बात से इन्कार कर सकता है कि एक दृष्टि से अंग्रेजी इस युग की संस्कृति की वाहन है।

इतिहास का अनुभव हमें यह बताता है कि प्रत्येक सभ्यता की सर्वोच्चता उस भाषा की उन्नति के साथ जुड़ी हुई थी, जो उस सभ्यता का वाहन थी। दूसरी भाषाएँ उस युग की इस सर्वप्रमुख भाषा के सम्पर्क से ही बल और जीवन प्राप्त करती थीं। आधुनिक यूरोप की सभी भाषाएँ न केवल लैटिन और ग्रीक से, बल्कि अरबी तक से लिये हुए ऋण द्वारा परिपुष्ट हुई हैं। आधुनिक यूरोपियन भाषाओं की शक्ति और समृद्धि का अधिकांश भाग इन प्राचीन भाषाओं से लिये गये तत्वों से ही बना है। वस्तुतः केवल इस प्रकार के सम्पर्कों द्वारा ही कोई भाषा विश्व-भाषा बनने के लिए अथवा आगामी युग की विश्व-भाषाओं में से एक बनने के लिए तैयार हो सकती है।

यदि हम इतिहास के किसी विशेष दौर में भाषा के इस कृत्य को भली-भाँति समझ लें, तो यह समझना आसान हो जायगा कि भारत में राष्ट्रीय चेतना के विकास में अंग्रेजी का इतना अधिक प्रभाव क्यों पड़ा। अंग्रेजों ने भारत को केवल शस्त्र-बल से नहीं जीता। अधिकांश मामलों में तो उन्होंने दो प्रतिद्वन्द्वी भारतीय शासकों के झगड़ों का लाभ उठाया और उन्हें आपस में लड़ाते रहकर एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी, जिसमें कि देश की सत्ता लगभग बिना माँगे ही उनके अपने हाथों में आ गयी। जब अंग्रेज पहले पहल भारत में आये, तो वे सभ्यता की कलाओं की दृष्टि से भारतवासियों की अपेक्षा निकृष्ट थे, परन्तु युद्ध-कला में विज्ञान का उपयोग करके उन्होंने सैनिक उत्कृष्टता प्राप्त कर ली थी। युद्ध क्षेत्र में विजय प्राप्त करने के साथ-साथ कूटनीति के प्रयोग से उन्होंने देश में राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यह बात बड़ी संदिग्ध है कि जिस सीमा तक वे अंग्रेजी को भारतवासियों पर थोप पाये, उस सीमा तक वे उस दशा में भी थोप पाने में सफल होते या नहीं, जबकि यदि उस समय तक अंग्रेजी आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता के एक प्रमुख वाहन के रूप में विकसित न हो गयी होती। भारतवासियों ने अंग्रेजी को तुरन्त और बिना ननुनच के इसलिए स्वीकार कर लिया, क्योंकि इसके द्वारा भारत उस समय की पश्चिमी सभ्यता की परिधि के अन्दर आ गया।

भारतीय मस्तिष्क पर अंग्रेजी का जो प्रभाव पड़ा, वह अनेक रूपों में देखा

जा सकता है, और उनमें से दो परिणाम बड़े लाभदायक रहे। एक ओर तो अंग्रेजी ने राजनीतिक प्रजातन्त्र का सन्देश और राष्ट्रीय एकता की भावना प्रदान की। स्वाधीनता और समानता के लिए जूझने की परम्परा इंग्लैंड के इतिहास में तीन या चार शताब्दियों तक चलती रही। अंग्रेज जनता लोकप्रिय सरकार की स्थापना के लिए अपने राजाओं के विरुद्ध लड़ी और उसने एक राजा का तो वध तक कर दिया। अंग्रेजी साहित्य राजनीतिक स्वाधीनता के लिए संघर्ष की भावना से ओतप्रोत है। अंग्रेजी इतिहास और साहित्य का भारतीय मस्तिष्क पर यह प्रभाव हुआ कि उससे देशभक्ति की एक नयी भावना और मानवीय गौरव तथा अधिकारों की एक नयी चेतना जाग्रत हुई।

प्रजातन्त्रात्मक चेतना की इस वृद्धि को पुरानी राजभाषा के स्थान पर नयी राजभाषा आने से भी सहायता मिली। भाषा के इस परिवर्तन का फल यह हुआ कि पहले कुछ वर्गों को जो विशेषाधिकार की-सी स्थिति प्राप्त थी, वह समाप्त हो गयी और जनता के सब वर्ग एक समान स्थिति में आ गये। यह बात मुसलमानों पर विशेष रूप से लागू हुई; क्योंकि अंग्रेजों से पहले स्पष्ट रूप से मुसलमानों को अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक ऊँची स्थिति प्राप्त थी। मुसलमानों की अंग्रेजी के प्रति पहली प्रतिक्रिया विरोध की थी। इस विरोध का मुख्य आधार उन लोगों के प्रति कटुता की भावना थी, जिन्होंने उनके हाथ से सत्ता छीन ली थी। भारतीय समाज के अन्य वर्गों में अंग्रेजी के प्रति इस प्रकार की कोई विरोध-भावना न थी। परन्तु अंग्रेजी के आगमन के कारण उनमें भी उन वर्गों को उन्नति का अवसर प्राप्त हो गया था, जो उस समय तक उपेक्षित और पिछड़े हुए थे। इस प्रकार अंग्रेजी ने उन लोगों के लाभों को समाप्त करके, जिन्हें पहले विशेषाधिकार प्राप्त थे, भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों में समता स्थापन का अवसर प्रदान किया।

वर्तमान युग से पहले भारत में कई अर्ध राष्ट्र (सैमि नेशनैलिटी) जैसी जातियाँ थीं। अंग्रेजी शासन के थोप दिये जाने से ये विभिन्न अर्ध राष्ट्र जैसी जातियाँ एक राजनीतिक प्रणाली में बन्ध गयीं। देश के विभिन्न भागों के लोग एक ही, और उसी विदेशी शक्ति द्वारा शासित होने के कारण आपस में एकता अनुभव करने लगे। इस प्रकार अंग्रेजों के भारत से सम्बन्ध के कारण विधानात्मक (पौजिटिव) और निषेधात्मक दोनों ही ढंग से राजनीतिक एकता की भावना

के परिपुष्ट होने में सहायता मिली। विधानात्मक रूप से तो यह सहायता राष्ट्रीयता के सन्देश द्वारा मिली, जिससे कि अंग्रेजी का साहित्य और कविता भरी हुई है ; निषेधात्मक रूप में यह सहायता इस तरह मिली कि बिना किसी जाति, धर्म या समाज के भेद-भाव के सब भारतीयों के कष्टों की तुलना विदेशी अंग्रेजों को प्राप्त विशेषाधिकारों के साथ की गयी और इससे राष्ट्रीयता की भावना बढ़ी।

अंग्रेजी पढ़ने से जो लाभ हुए, उनमें से एक मुख्य लाभ यह था कि भारत में राजनीतिक जागृति हुई। परन्तु इसका सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भारतीय मस्तिष्क में एक नयी बौद्धिक जागृति उत्पन्न हुई। प्राचीन काल में भारत के लगभग सारे ही ज्ञात संसार के साथ सम्पर्क विद्यमान थे। मध्ययुग में अरबी और फारसी इस्लामी जगत के साथ सम्पर्क स्थापन का माध्यम बनी रहीं। परन्तु इससे अन्य प्रदेशों के साथ भारत के सम्बन्ध यदि स्थगित नहीं भी हो गये, तो भी संकुचित अवश्य हो गये। परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते न होते विज्ञान और प्रविधि विज्ञान के क्षेत्रों में पहल पश्चिमी देशों के हाथ में जा चुकी थी। अंग्रेजी की पढ़ाई शुरू होने से पहले ज्ञान और आलोक के इस नये स्रोत तक पहुँचने का कोई उपाय नहीं था। इस नये ज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि भारतीय जीवन और शिक्षा में जो एक प्राधिकारात्मक (औथौरिटेरियन) अर्थात् तानाशाही की मनोवृत्ति थी, वह समाप्त होने लगी। प्राचीन भारतीय समाज में प्राधिकारात्मक मनोवृत्ति का एक उदाहरण भाष्यकारों की प्राचीन पुस्तकों पर भाष्य करने की मनोवृत्ति में दिखाई पड़ता है। जब किसी भाष्यकार का मूल लेखक की व्याख्या के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण दृष्टियों से भी मतभेद होता था, तब भी वह इस बात का आग्रह करता था कि उसने जो नया अर्थ निकाला है, वह वस्तुतः नया नहीं है, बल्कि वह मूल लेखक की रचना में ही निहित था।

अंग्रेजी शिक्षा के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप व्यक्तिगत विचार के महत्व पर जोर दिया गया। पश्चिम में अनेक विचारकों ने बिना संकोच के पुराने महान् लेखकों का खुल्लमखुल्ला खंडन किया है। वाल्तेयर तो यहाँ तक बढ़ गया, कि उसने ईश्वर तक को मानने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार अंग्रेजी का अध्ययन प्रारम्भ होने से वैयक्तिक विचार पद्धति को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस

प्रकार के अध्ययन से, जिसे मनोवैज्ञानिक मनोवृत्ति कहा जाता है, उसके परिपोषण को भी प्रोत्साहन मिला। अंग्रेजी के अध्ययन से एक भिन्न, नयी संस्कृति और विश्व-दृष्टिकोण के सम्पर्क में आने के कारण हमारा मानसिक क्षितिज और अधिक विस्तृत हो गया।

गत सौ वर्षों या उससे भी कुछ अधिक काल में भारत ने केवल विशुद्ध और प्रयोगात्मक विज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु साहित्य, दर्शन और राजनीति के क्षेत्र में भी बड़े मेधावी पुरुषों को जन्म दिया है। एशिया में और भी ऐसे विस्तृत प्रदेश हैं, जहाँ के लोगों की सहज स्वाभाविक योग्यता या बौद्धिक शक्ति भारतवासियों जैसी ही है। परन्तु उन देशों में भारत जितनी प्रगति नहीं हो सकी। इस अन्तर की एक मात्र व्याख्या यही प्रतीत होती है कि इन प्रदेशों के लोगों ने वैज्ञानिक अनुसन्धान की भावना को, जो कि आधुनिक युग की विशेषता है, उतनी हद तक प्राप्त नहीं किया है, जितनी हद तक भारतवासियों ने। ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेजी के अध्ययन से भारतवासियों के मन में भी उसी प्रकार की द्रुत गति की भावना आ गयी है, जैसी सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेज लोगों के मन में उत्पन्न हुई थी।

जहाँ तक मानवीय व्यवहार का सम्बन्ध है, हमें शायद ही कोई ऐसी शक्ति या उपकरण दृष्टिगोचर हो सके, जिसमें विशुद्ध अच्छाई ही अच्छाई हो, या विशुद्ध बुराई ही बुराई। अंगेजी के अध्ययन से भारतीय मन को जो लाभ हुए हैं, उनके बावजूद इस सारे चित्र का एक और भी पहलू है, जिसकी हमें उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। सन्तुलन पत्र के इस नाम खाते वाले पृष्ठ पर पहली मद यह है कि अंग्रेजी के अध्ययन के कारण मातृभाषा और प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन की उपेक्षा हो गयी। अंग्रेजी की ओर अधिकाधिक ध्यान दिये जाने का परिणाम यह हुआ कि इस नये शिक्षित वर्ग और शेष जनता के बीच एक गहरी खाई उत्पन्न हो गयी। जिन लोगों को यह नयी आधुनिक शिक्षा प्राप्त हो जाती थी, उनका अपनी प्राचीन परम्पराओं से प्रायः सम्बन्ध विच्छेद-सा हो जाता था और अनेक बार तो वे लोग प्राचीन परम्पराओं के प्रति खुल्लम-खुल्ला तिरस्कार और घृणा भी व्यक्त करने लगते थे। इसके फलस्वरूप हमारे सामाजिक संगठन की शक्ति कम हो गयी और भारतीय समाज में अनेक अवांछनीय मनोमालिन्य आ गये। शहरों और गाँवों के बीच जो एक खाई उत्पन्न

हो गयी है, वह समाज की खंडीकरण (फ्रैगमैन्टेशन) की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति का ही एक प्रकट रूप है।

अंग्रेजी के अध्ययन पर बहुत बल देने का एक और अवांछनीय परिणाम यह हुआ कि उन्नति का अवसर केवल उन लोगों के लिए सीमित हो गया, जिनमें केवल भाषा सीखने की अत्यधिक योग्यता थी। इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं कि अनेक दशाब्दियों तक भारत में विज्ञान और प्रविधि विज्ञान की उपेक्षा होती रही। इसके फलस्वरूप भारतीय उद्योग और कला-कौशल का विकास काफी पिछड़ा रहा। परन्तु अंग्रेजी पर इस प्रकार अनुचित ज़ोर देने से जो एक बड़ी बुराई उत्पन्न हुई, वह ऐसी नहीं थी कि जो बिलकुल आवश्यक ही हो। यह बुराई अंग्रेजी के अध्ययन के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं हुई थी अपितु इसलिए उत्पन्न हुई थी कि अंग्रेजी को अध्यापन के माध्यम के रूप में अपना लिया गया था। विदेशी भाषा के बोझ के कारण मन के स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ती थी। इसके फलस्वरूप अध्ययन बड़ी सीमा तक एक रटन्त की चीज़ बन गया। केवल थोड़े-से मुट्ठी भर मेधावी छात्रों को छोड़कर बाकी छात्रों के लिए इस प्रकार की शिक्षा में विचार, कल्पना और अनुभूति की शक्तियों के विकास के लिए पूर्ण अवसर प्राप्त नहीं था। सच तो यह है कि अधिकांश विद्यार्थियों के लिए अध्यापन का माध्यम ही अपने आप में शिक्षा का लक्ष्य बनकर रह जाता था।

अंग्रेजी के अध्ययन पर इतना अधिक बल देने का एक और भी अवांछनीय दुष्परिणाम हुआ। यह पहले बतलाया जा चुका है कि मध्ययुग में शेष संसार के साथ भारत के सम्बन्ध इसलिए सीमित रहे, क्योंकि अरबी और फारसी की पढ़ाई पर अधिक ध्यान दिया गया था। आधुनिक युग में अंग्रेजी का भी ऐसा ही दुष्प्रभाव हुआ। भारतवासी सारी दुनिया को अंग्रेजी के ही चश्मे से देखने लगे। जहाँ भारत का अंग्रेजी के विशाल और समृद्ध साहित्य से सम्पर्क कल्याणकारी हुआ, वहाँ पूर्वी देशों के साहित्य तथा शेष यूरोपियन साहित्य की ओर दृष्टि न जाने का परिणाम अनेक बार यह हुआ कि भारतवासियों के सम्मुख संसार का केवल एकपक्षीय स्वरूप ही आ सका। स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद भारतीय शिक्षा के सामने एक सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि इस मनोवृत्ति को सुधारने का प्रयत्न किया जाय।

फिर भी कुल मिलाकर अंग्रेजी का अध्ययन भारतीय जनता की प्रगति

और उन्नति में सहायक तत्व रहा है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि उस समय की अंग्रेजी सरकार पहले इस देश में पश्चिमी शिक्षा को प्रारम्भ करने के पक्ष में नहीं थी। काफी समय तक तो ईस्ट इंडिया कम्पनी का सारा ध्यान केवल मुनाफा कमाने पर ही लगा रहा। जब कम्पनी ने प्रशासन की कुछ जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर लीं, तो शुरू-शुरू में वह केवल पूर्वी विषयों के अध्ययन को ही प्रोत्साहन देने के पक्ष में थी। इसमें सन्देह नहीं कि यूरोपियन धर्म-प्रचारक बिलकुल प्रारम्भ से ही पश्चिमी शिक्षा के पक्ष में थे। परन्तु इस सम्बन्ध में सबसे अधिक निर्णायक तत्व शायद उन थोड़े-से आलोक प्राप्त भारतवासियों का प्रभाव रहा, जिनके नेता राजा राममोहन राय थे, और जिनका यह विश्वास था कि यूरोपियन विज्ञान और ज्ञान के सम्पर्क में आने से भारत के पुनरुत्थान में सहायता मिलेगी।

अतीत में जब अंग्रेजी इस देश पर थोपी गयी थी, तब चाहे दशा जो भी क्यों न रही हो, परन्तु इस समय स्वतन्त्र भारत में अंग्रेजी को जारी रखने के लिए कई महत्वपूर्ण कारण विद्यमान हैं। पहली बात तो यह है कि अंग्रेजी आधुनिक संसार की संस्कृति का एक प्रमुख वाहन है। इसलिए इसके अध्ययन को रोक देने का अर्थ यह होगा कि इतिहास के क्षेत्र में कार्य कर रही प्रगतिशील शक्तियों के साथ भारत का सम्बन्ध टूट जाय। दूसरा कारण यह है कि आजकल प्रत्येक राष्ट्र में आन्तरिक जीवन की पेचीदगी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। इस कारण इस बात की आवश्यकता है कि उस समाज को बनाने वाली विभिन्न इकाइयों में उसकी अपेक्षा कहीं अधिक लचक और स्थितिस्थापकता (फ्लैक्सि-बिलिटी) या लोच हो, जितनी कि अतीत में आवश्यक थी। अंग्रेजी के सम्पर्क ने एक परिवर्तन उत्पन्न करने वाले अभिकरण के रूप में कार्य करके भारतीय राष्ट्र के अन्दर अनेक वांछनीय सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न किये हैं। इस बात को विशद करने की आवश्यकता इसलिए नहीं, क्योंकि यह हमारे दैनिक जीवन के लगभग हरएक पहलू में ही दिखाई पड़ जाती है। अंग्रेजी को जारी रखने के पक्ष में तीसरा कारण है विभिन्न राष्ट्रों और प्रदेशों के बीच बढ़ते हुए पारस्परिक सम्बन्ध। प्रत्येक राष्ट्र को अपनी संकीर्ण परिधि के बाहर जाना सीखना चाहिये और दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्पर्क स्थापन (संचार) के मार्ग बनाने चाहियें। इस समय वर्तमान संसार में अन्य देशों के साथ सम्पर्क स्थापन के लिए अंग्रेजी

की अपेक्षा अच्छा साधन शायद और कोई नहीं हो सकता।

३

परन्तु अंग्रेजी के पक्षपोषण में युक्तियाँ देने का यह अर्थ नहीं है कि इसका अध्ययन उसी रूप में रखे जाने की आवश्यकता है, या रखा जा सकता है, जैसा वह पिछले सौ या डेढ़ सौ वर्षों में रहा है। डेढ़ सौ वर्ष पहले अंग्रेजी के प्रथम सम्पर्क में आने के कारण भारतीय जनता के एक वर्ग के मन कुछ चकाचौंध-से उठे थे। अंग्रेजी के प्रवाह में पड़कर उनके पाँव इस हद तक उखड़ गये कि उनमें से अनेक ने तो अपनी भाषा और संस्कृति तक को त्याग देने का यत्न किया। उस समय ऐसे अनेक प्रतिभाशाली नर-नारी थे, जो इस बात में गर्व अनुभव करते थे कि वे अंग्रेजी अपनी मातृभाषा की अपेक्षा भी अधिक अच्छी बोल सकते हैं। इस अतिरेक की प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी। हम देखते हैं कि देश में आज भी ऐसे वर्ग विद्यमान हैं, जो बिलकुल दूसरी सीमा तक पहुँचते हैं; और यह चाहते हैं कि भारत से अंग्रेजी का नाम-निशान उड़ा दिया जाय। परन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि इतिहास की प्रक्रियाओं को उलटा नहीं लौटाया जा सकता। अंग्रेजी और आधुनिक शिक्षा प्रणाली उस समय भले ही विदेशी रही हों, जब वे भारत में पहले पहल शुरू की गयी थीं, परन्तु एक शताब्दी से भी अधिक समय तक भारत से सम्बद्ध रहने के कारण वे आज भारतीय संस्कृति का अङ्ग बन गयी हैं। यदि हम आज अंग्रेजी को अपने जीवन से बिलकुल बाहर निकाल भी दें, तो भी उसके प्रभाव के अवशेष बचे रहेंगे और सैकड़ों रूपों में सामने आते रहेंगे।

फिर भी हम आधुनिक भारत के प्रसंग में अंग्रेजी के विभिन्न उपयोगों में अलग-अलग अन्तर कर सकते हैं। देश की अधिकांश जनता को, जिसने अब तक अंग्रेजी नहीं पढ़ी, भविष्य में भी अंग्रेजी पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु उन्होंने भी अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय भाषाओं में लिखी गयी उन पुस्तकों को पढ़कर अंग्रेजी के प्रभाव को अनुभव किया है, जो अंग्रेजी से प्रेरणा प्राप्त करके लिखी गयी हैं। यह प्रक्रिया जारी रहेगी और विभिन्न भारतीय भाषाओं की वृद्धि और विकास के साथ-साथ शायद और भी बढ़ती जायगी।

भारतीयों का एक दूसरा वर्ग भी है, जो यह चाहता है कि दूसरे लोगों के साथ मामूली बोल-चाल या विचारों के आदान-प्रदान के लिए अंग्रेजी का प्रयोग किया जाय। अवश्य ही इस प्रकार के प्रयोग में भी अलग-अलग स्तर होंगे। कुछ लोग अंग्रेजी भाषा का केवल प्रारम्भिक कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जायेंगे और दूसरे लोगों के साथ अपनी मूल आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सम्पर्क स्थापन में इस भाषा का प्रयोग करेंगे। कुछ अन्य लोग अंग्रेजी का प्रयोग कुछ और अधिक पेचीदा विषयों के सम्बन्ध में, दूसरे देशों के साथ या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यापार, वाणिज्य, उद्योग और यहाँ तक कि राजनीतिक सम्बन्धों के स्तर पर सम्पर्क स्थापन के लिए करेंगे। उनका मुख्य ज़ोर भाषा के सम्पर्क स्थापन के माध्यम के रूप में उपयोग करने पर होगा, संस्कृति के माध्यम के रूप में उपयोग करने पर नहीं।

परन्तु एक तीसरा वर्ग भी होगा, जो अवश्य ही संख्या में बहुत अल्प होगा, जो यह चाहता होगा कि अंग्रेजी भाषा का उपयोग केवल सम्पर्क स्थापन के साधन के रूप में ही न किया जाय, जैसा कि उपरिवर्णित दूसरा वर्ग चाहता है, अपितु इस भाषा का प्रयोग एक ऐसे माध्यम के रूप में किया जाय, जिसके द्वारा वे पश्चिमी संस्कृति से पोषण प्राप्त कर सकें। यहाँ भी इन लोगों के अलग-अलग स्तर होंगे। कुछ लोग इस भाषा से केवल इतना परिचय प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जायेंगे कि वे उसके साहित्य का रस ले सकें। कुछ अन्य लोग विज्ञान, दर्शन तथा अन्य बौद्धिक क्षेत्रों में कुछ और गहरा तथा विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस भाषा का उपयोग करना चाहेंगे। परन्तु कुछ थोड़े-से अल्पसंख्यक लोग ऐसे भी हो सकते हैं, जो इस दिशा में और आगे बढ़ें, तथा भाषा का सृजनात्मक रूप से उपयोग करें।

यदि अंग्रेजी के सम्बन्ध में इस रुख को अपना लिया जाय, तो इसका परिणाम यह होगा कि भारतवासियों के अधिकांश भाग के लिए अंग्रेजी पढ़ना आवश्यक नहीं होगा। इसका अर्थ यह है कि उनके लिए स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होगा, क्योंकि वे आजकल भी अंग्रेजी नहीं पढ़ते। इसी तथ्य को एक दूसरे रूप में प्रगट किया जा सकता है। किसी भी देश में सम्भवतः ८० प्रतिशत लोग अपना सारा जीवन अपने गाँव के आस-पास दस या पन्द्रह मील के घेरे के अन्दर ही बिता देते हैं। इस प्रकार के लोगों को बाहरी दुनिया के

मामलों की कोई चिन्ता नहीं होती और वे अपना जीवन परम्परागत ढंग से बिताने में ही सन्तुष्ट रहते हैं। वे न तो विदेशी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने का यत्न ही करते हैं, और न उन्हें उसकी आवश्यकता ही होती है। भारत भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है। इसलिए ८० प्रतिशत भारतवासियों के लिए अंग्रेजी का मुश्किल से ही कोई लाभ होगा। सच तो यह है कि उन्हें जिस एकमात्र भाषा को सीखने की आवश्यकता होगी, वह उनकी मातृभाषा है। परन्तु यदि वे चाहें, तो उन्हें अंग्रेजी, या सच कहा जाय तो किसी भी अन्य विषय को, सीखने का उतना ही अवसर होना चाहिये, जितना देश के अन्य किसी भी नागरिक को है। क्योंकि आधुनिक संसार में कोई भी व्यक्ति पूर्णतया पृथक् रहकर जीवन नहीं बिता सकता, इसलिए उनमें भी वह लचक उत्पन्न होनी चाहिये, जो बाहर से प्राप्त होने वाली प्रेरणाओं को ग्रहण करने के लिए आवश्यक है। इसलिए स्वतन्त्र और गणतन्त्रात्मक भारत में लोग नागरिक के रूप में सन्तोषजनक रूप से कार्य कर सकें, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि उनकी मातृभाषाएँ खूब समृद्ध बनें।

लोगों का अपेक्षाकृत बहुत छोटा एक और वर्ग होगा, चाहे उसकी संख्या भी लाखों में हो, जिनकी रुचि और गतिविधि का क्षेत्र इस संकीर्ण वृत्त के बाहर होगा, और वह क्षेत्र या तो अपने सारे राज्य में, या कुछ मामलों में सारे भारत तक में फैला होगा। भारतीय एकता की चेतना का मुख्य कारण आधुनिक शिक्षा का विकास है; इसलिए इस वर्ग के लिए यह वांछनीय होगा कि उसे अंग्रेजी का काम चलाऊ ज्ञान हो। इस प्रकार का ज्ञान इस दृष्टिकोण से भी आवश्यक होगा कि वे लोग बाहरी शक्तियों के भारतीय जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकें। अन्त में एक और छोटा वर्ग होगा, जो अखिल भारतीय स्तर पर कार्य कर रहा होगा और अन्य देशों के साथ भारत के व्यवहार में नेतृत्व प्रदान करेगा। इन लोगों के लिए अंग्रेजी का ज्ञान न केवल वांछनीय होगा, अपितु आवश्यक भी होगा। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत की वर्तमान प्रतिष्ठा का एक कारण यह भी है कि भारत ने अपनी नीति की घोषणा बड़ी स्पष्टता के साथ की है। इसमें सन्देह नहीं कि नीति की यह स्पष्टता केवल इसलिए हो सकी है कि भारतीयों को अंग्रेजी भाषा पर

बड़ा अच्छा अधिकार है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात होगी कि यह लाभ हमारे हाथ से जाता रहे।

इसलिए कहा जा सकता है कि भारत में प्रारम्भिक शिक्षा में अंग्रेजी का कोई स्थान नहीं होगा; परन्तु हमारी माध्यमिक शिक्षा प्रणाली में इसका स्थान अवश्य रहना चाहिये। माध्यमिक शिक्षा प्रणाली में भी इसको आगे वैसा गौरवपूर्ण स्थान नहीं मिलेगा, जैसा कि पहले प्राप्त था। एक समय था, जब कि मनुष्य की योग्यता उसकी अंग्रेज़ी की योग्यता से नापी जाती थी। यह स्थिति समाप्त होनी चाहिये। हमें इस चीज के लिए भी तैयार रहना चाहिये कि अंग्रेजी के अध्ययन के लिए अब तक दिये जाने वाले विद्यालयों के घंटों की संख्या और वर्षों की संख्या भी घटा दी जाय। इसका अर्थ यह भी होगा कि अंग्रेजी के प्रति हमारी मनोवृत्ति बदल जाय। अब तक माध्यमिक विद्यालयों में भी अंग्रेजी को प्रायः साहित्य के रूप में पढ़ाया जाता रहा है। अनेक बार इसके परिणाम बड़े खेदजनक रहे हैं। छोटे-छोटे बालकों से उन चीजों को पढ़ने की आशा की जाती रही है, जिनका उन्हें कोई अनुभव नहीं है। इसके लिए केवल एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा कि इस प्रकार की बेहूदगियाँ कभी-कभी किस सीमा तक की जाती रही हैं। माना कि डैफोडिल फूलों पर लिखी हुई हैरिक की कविता बहुत सुन्दर है, परन्तु एक भारतीय ग्रामीण बालक के लिए, जिसने कि उस फूल को कभी नहीं देखा और जिसके मन में हिम या तुषार की कोई धारणा नहीं है, इस कविता का क्या महत्व है? वह बालक केवल इतना कर सकता है कि इस कविता को रट ले, और शब्दों की एक माला की भाँति इसे मन में जमा ले; और जब परीक्षक को सन्तुष्ट करने के लिए आवश्यकता हो, तो उन शब्दों को ज्यों का त्यों सुना दे। इसलिए हमें माध्यमिक शिक्षा काल के अंग्रेजी के पाठ्यक्रमों को नये सिरे से तैयार करना होगा और इस बात को ध्यान में रखना होगा कि अंग्रेजी सीखना अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है, अपितु यह तो अपने ज्ञान को बढ़ाने के एक साधन को प्राप्त करना मात्र है। इसलिए अंग्रेजी की पढ़ाई में साहित्य पर बल न देकर प्रतिदिन के व्यवहार की सरल भाषा सिखाने पर जोर दिया जाना चाहिये।

अंग्रेजी के प्रति इस प्रकार रुख को बदलना भारत की भाषा सम्बन्धी परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए भी आवश्यक है। आजकल माध्यमिक विद्यालय

में शिक्षा पाने वाले भारतीय विद्यार्थी से यह आशा की जाती है कि वह मातृ-भाषा पढ़ेगा और उसके अतिरिक्त हिन्दी पढ़ेगा, जो भारतीय संघ की राज्य-भाषा है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी भाषा, अंग्रेजी के साथ-साथ कुछ लोग उससे यह आशा करते हैं कि वह कोई एक प्राचीन भाषा भी सीखे। इस प्रकार बालक को काफी छोटी आयु में ही एक साथ चार भाषाएँ सीखनी पड़ेंगी। इससे भी बुरी स्थिति उस बेचारे बालक की है, जिसकी मातृ भाषा प्रादेशिक या राज्य भाषा से भी भिन्न कोई अन्य भाषा है। उसे इन चार के अतिरिक्त एक और भाषा भी सीखनी पड़ेगी। यदि किसी बालक को अपने विद्यालय-काल में ही पाँच भाषाएँ सीखनी पड़ें, तो यह प्रश्न उठता है कि भाषाओं के सिवाय अन्य विषयों को पढ़ने का समय उसे कब मिलेगा।

यदि बालक को इन सब भाषाओं के साहित्य का अध्ययन करना होता, तो यह स्थिति सचमुच ही असह्य होती; परन्तु यदि केवल मातृभाषा को छोड़कर माध्यमिक शिक्षाकाल में इन भाषाओं को केवल मामूली बोल-चाल या सम्पर्क स्थापन के साधन के रूप में सीखना ही उद्देश्य हो, तो इस आक्षेप में कुछ विशेष बल नहीं रहता। सच तो यह है कि यदि छोटे बालक को ये भाषाएँ साथ-साथ सिखायी जायँ, तो उसकी दूसरे लोगों के साथ वार्तालाप, विचार-विनिमय और सम्पर्क स्थापन की शक्तियाँ और अधिक विकसित हो जायेंगी। एक बात यह भी विचारणीय है कि क्या अंग्रेजी एक बड़ी सीमा तक उस स्थान को नहीं ले सकती, जो पहले विद्यालयों के पाठ्यक्रम में प्राचीन भाषाओं के अध्ययन को प्राप्त था? पुरानी जमी हुई भाषाओं के सम्पर्क में आकर नयी भाषाओं का विकास होता है। प्राचीन भाषाओं के अध्ययन पर जोर देने का एक मुख्य कारण यही था। हाल के वर्षों में कई भारतीय भाषाओं ने अंग्रेजी के प्रभाव से प्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा पाकर बहुत अधिक प्रगति की है। यदि हम इस विषय में सावधान रहें कि अंग्रेजी बालक के ऊपर बोझ न बन जाय, तो अंग्रेजी के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उसमें भाषा की भावना पनप सकती है। समय आने पर यह प्रवृत्ति उसे अपनी भाषा में साहित्य सृजन करने में और आधुनिक युग के उपयुक्त विज्ञान और साहित्य का निर्माण करने में सहायता दे सकती है।

फिर भी एक बात निश्चित है। यदि हमारे विद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली

अनेक भाषाओं में से एक अंग्रेजी भी हो, तो यह अनिवार्य होगा कि अंग्रेजी के अध्ययन के लिए दिये जाने वाले घंटों की संख्या कम कर दी जाय। सामान्यतया इस समय को कम करने का परिणाम यह होगा कि हमारे छात्र अंग्रेजी की जो योग्यता प्राप्त करते हैं, उसका प्रमाप गिर जाय। यह प्रमाप इस समय भी पर्याप्त ऊँचा नहीं है और इस बात की गुंजाइश नहीं है कि इसे और गिरने दिया जा सके। इसलिये हमें इस प्रकार की सम्भावना की रोकथाम के लिए विशेष उपाय बरतने होंगे। एक बड़ा सुधार, जिसकी ओर अविलम्ब ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है, यह है कि इस समय अधिकांश प्रशिक्षण कालेजों में सिखायी जा रही अंग्रेजी शिक्षण की पद्धतियों में परिवर्तन किया जाय। इस समय विद्यमान पद्धतियाँ इंग्लैंड के स्कूलों में चल रही पद्धतियों पर आधारित है; और इनमें इस बात को बिलकुल भुला दिया गया है कि इंग्लैंड के बालकों के लिए अंग्रेजी मातृभाषा होती है, जबकि भारतीय बालकों के लिए वह विदेशी भाषा है। इंग्लैंड में अंग्रेजी सिखाने के लिए जिन पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है, भारतीय बालकों को भारतीय भाषाएँ सिखाने के लिए उन पद्धतियों का प्रयोग करना अधिक उचित होगा। यदि हमें यूरोपियन लोगों के अनुभव से लाभ ही उठाना है, तो हमें उन पद्धतियों को अपनाना चाहिये, जो इंग्लैंड में फ्राँसीसी या जर्मन भाषा सिखाने के लिए या यूरोपीय महाद्वीप में अंग्रेजी सिखाने के लिए बरती जाती हैं। विशेष रूप से स्कैंडीनेविया (नार्वे-स्वीडन) के देशों में अंग्रेजी सिखाने के लिए बड़ी उपयोगी पद्धतियाँ विकसित हो गयी हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों में अमेरिका के लोगों ने अंग्रेजी सिखाने के सम्बन्ध में जो अनुभव प्राप्त किया, उससे भी हम लाभ उठा सकते हैं। उन दिनों विदेशी लोगों को बड़ी संख्या में बहुत थोड़े समय में अंग्रेजी सिखानी पड़ी थी। इस प्रयोजन के लिए विशेष पद्धतियाँ खोज निकाली गयी थीं और उनसे काफी सफलता मिली थी। प्रशिक्षण की अपेक्षाकृत अच्छी पद्धतियों के प्रयोग द्वारा और विशेष रूप से युद्ध काल में विकसित पद्धतियों के प्रयोग द्वारा सम्भवतः अंग्रेजी अब की अपेक्षा कम समय में, और अधिक अच्छी सिखायी जा सकती है।

इस दिशा में हमें एक और बात से भी सहायता मिलेगी। अनुभव से यह स्पष्ट है कि यदि किसी व्यक्ति को एक भाषा का अच्छा ज्ञान हो, तो उसे दूसरी

भाषा का काम चलाऊ ज्ञान प्राप्त करने में कम समय लगता है। अतीत काल में हमारे माध्यमिक विद्यालयों के छात्र अपनी भाषा का समुचित ज्ञान प्राप्त करने से पहले ही अंग्रेजी का अध्ययन प्रारम्भ कर देते थे। भविष्य में माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों को अंग्रेजी का अध्ययन प्रारम्भ करने से पहले अपनी भाषा पर पहले की अपेक्षा अधिक अधिकार हो चुकेगा। इन दो तत्वों के कारण—उन्नत शिक्षण पद्धति और अपनी भाषा पर पहले की अपेक्षा अधिक अधिकार—हमें उस कठिनाई को बहुत कुछ हल कर सकना चाहिये, जो अंग्रेजी के अध्ययन के लिए प्राप्त होने वाली अल्पतर अवधि के कारण उत्पन्न होगी।

माध्यमिक स्तर पर अंग्रेजी का अध्ययन मूलतः एक भाषा के रूप में अंग्रेजी का अध्ययन रहेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि अंग्रेजी की पाठ्य वस्तु सब प्रकार की मानवीय रुचि से बिल्कुल रहित हो। सच तो यह है कि किसी भाषा को सीखने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि उसके पाठों को आनन्द की वस्तु बना लिया जाय। इसलिए साहित्यिक रचनाओं को विद्यालय के पाठ्यक्रम में भी कुछ न कुछ स्थान मिलना चाहिये। परन्तु हमें इस सम्बन्ध में बहुत सावधान रहना चाहिये कि इस प्रकार की रचनाएँ उन लोगों के अनुभव की पहुँच के अन्दर ही हों, जिन्हें उन रचनाओं को पढ़ाया जाना अभीष्ट है। इस सम्बन्ध में हाल ही में भारतीय विश्वविद्यालयों के अंग्रेजी के प्रोफेसरों के सम्मेलन में की गई एक सिफारिश को स्वीकार कर लेना शायद हमारे लिए उचित हो। इन प्रोफेसरों का विचार था कि विद्यालय के स्तर पर केवल आधुनिक सरल अंग्रेजी गद्य की पाठ्य पुस्तकों का ही विस्तृत अध्ययन किया जाना चाहिये। यह अंग्रेजी गद्य केवल लगभग २५०० मूल अंग्रेजी शब्दों की शब्दावली के अन्दर ही लिखा जा सकता है। परन्तु इसके पूरक के रूप में साहित्यिक कोटि की गद्य और पद्य की चुनी हुई पुस्तकें द्रुत पाठ (रैपिड रीडिंग) के लिए प्रयुक्त की जानी चाहियें।

यदि हमें अपनी संस्कृति को समृद्ध करने के लिए और अपनी भाषाओं की सम्पत्ति को बढ़ाने के लिए अंग्रेजी का सहारा लेना है, तो देश में कुछ थोड़े-से लोग ऐसे भी होने चाहियें, जो अंग्रेजी का भाषा और साहित्य, दोनों ही रूपों में अध्ययन करने को तैयार हों। इस प्रकार के विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी का अध्ययन आप में एक पुरस्कार होगा। अंग्रेजी में ऐसा कल्पनामय साहित्य

विद्यमान है, जिसका संसार में अन्यत्र जोड़ मिलना कठिन है। नाटक, गीति-काव्य, कविता और ललित साहित्य के क्षेत्रों में अंग्रेजी की साहित्य-सम्पत्ति बहुत विशाल है। कथा, लघुकथा और गम्भीर निबन्ध के क्षेत्र में अंग्रेजी का साहित्य संसार की अधिकांश भाषाओं के साहित्य का मुकाबला कर सकता है। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के गम्भीर विद्यार्थियों के लिए इस प्रकार के अध्ययन से एक नये संसार का द्वार खुल जायगा, और इससे उन्हें एक नयी प्रेरणा प्राप्त होगी, जिससे वे अपनी भाषा में अत्यन्त सुन्दर साहित्य की रचना कर सकेंगे।

इस सम्बन्ध में यह जान लेना मनोरंजक होगा कि आधुनिक भारत के सभी महान लेखकों ने अंग्रेजी के प्रभाव को अनुभव किया है। यहाँ पं० जवाहर लाल नेहरू, श्री अरविन्द या प्रोफेसर राधाकृष्णन् जैसे लेखकों का, जिन्होंने अपने लेखन के मुख्य माध्यम के रूप में अंग्रेजी का उपयोग किया है, विशेष उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। जिन लोगों ने मुख्यतया किसी भारतीय भाषा में साहित्य लिखा है उन पर भी प्रायः अंग्रेजी का प्रभाव रहा है। राजा राममोहन राय से लेकर हमारे बंगाल में माइकेल मधुसूदनदत्त से रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक ऐसे लेखकों की उज्जल शृंखला विद्यमान है, जिन्होंने मुख्यरूप से प्रेरणा अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से ही प्राप्त की। अंग्रेजी के अध्ययन से उनके मन में ऐसी योग्यता आ गई, जिससे वे अपनी भाषा में उत्कृष्टतम कोटि का साहित्य सृजन करने में सफल हुए। आधुनिक गुजराती साहित्य के जन्मदाता महात्मा गांधी भी इसी प्रकार अंग्रेजी लेखन में अत्यन्त कुशल थे। मौलाना आजाद जैसे लेखक भी, जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा औपचारिक रूप से विद्यालय में प्राप्त नहीं की, और जिन्होंने अंग्रेजी का अध्ययन स्वयं किया है, अंग्रेजी से बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। यह प्रक्रिया अभी तक जारी है। वस्तुतः अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपियन भाषाओं के साथ अधिकाधिक सम्बन्ध होने के फलस्वरूप भारतीय साहित्य में अनेक नये और रोचक विकास हो रहे हैं।

सृजनशील साहित्य के प्रभाव के अतिरिक्त अंग्रेजी से हमें मानवीय गति-विधि के समस्त क्षेत्रों में आधुनिक ज्ञान का विशुद्ध सार प्राप्त हो जाता है। प्राकृतिक विज्ञान, दर्शन, अर्थशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों, मानव शरीर-रचना शास्त्र (ऐंथ्रोपोलोजी) तथा इतिहास के क्षेत्र में अंग्रेजी का न केवल

अपना साहित्य बहुत विशाल है, अपितु इसमें अन्य भाषाओं में लिखा हुआ अधिकांश मूल्यवान साहित्य भी अनूदित हो चुका है। इसलिए अंग्रेजी भाषा हमारे सम्मुख आधुनिक संसार के मन का बिलकुल स्पष्ट रूप प्रस्तुत कर देती है। इस दृष्टिकोण से भी हमारे शैक्षणिक और बौद्धिक जीवन में अंग्रेजी के अध्ययन का विशेष महत्व होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त एक और भी बात है, जिसका महत्व बहुत कुछ निर्णायक-सा है। इस तेजी से संकुचित होते हुए संसार में किसी भी देश का कर्तृत्व उसके प्रविधि विज्ञान और विज्ञान की स्थिति पर ही निर्भर रहेगा। वस्तुतः इन दोनों में से किसी भी क्षेत्र में कमी रहने से न केवल राज्य की समृद्धि ही संकट में पड़ जायगी, अपितु उसका जीना भी मुश्किल हो जायगा। विज्ञान और प्रविधि विज्ञान में हुई नवीनतम प्रगतियों से सम्पर्क बनाये रखने से न केवल देश की औद्योगिक समृद्धि और आर्थिक सुदशा बनी रहती है, अपितु राष्ट्र की राजनीतिक और सैनिक शक्ति का निर्धारण भी इन्हीं के द्वारा होता है। जिन राज्यों का कोई आक्रमण करने का इरादा नहीं भी है, उनके पास भी आत्मरक्षा के लिए आवश्यक साधन होने चाहियें। यदि भारत को विज्ञान और प्रविधि विज्ञान के क्षेत्र में शेष संसार के साथ कदम मिलाकर चलना है और संसार की सभ्यता और संस्कृति में अपना स्वतन्त्र और विशिष्ट योगदान देना है, उसके लिए अंगेजी के अविकारपूर्ण ज्ञान को छोड़ पाना सम्भव नहीं है। इतिहास की दृष्टि से भले ही यह एक दुर्योग रहा हो, अथवा राजनीतिक दृष्टि से दुर्भाग्य रहा हो कि अंग्रेजी भारत में आई, परन्तु जब यह एक बार यहाँ आ गयी, तो यह जनता के लिए एक वरदान सिद्ध हुई है। इसलिए हमें अपनी नयी प्राप्त स्वाधीनता और राष्ट्रत्व को बनाये रखने के साधन के रूप में भारत को अंग्रेजी को अध्ययन का न केवल एक आवश्यक विषय बनाये रखना होगा, अपितु यहाँ तक कहा जा सकता है कि इसे एक अनिवार्य विषय बनाये रखना होगा।

अन्तिम विश्लेषण के रूप में, अंग्रेजी का अध्ययन आधुनिक दृष्टिकोण के विकास के लिए एक साधना रूप है। इसके फलस्वरूप भारतीय मस्तिष्क का सम्पर्क आधुनिक युग की प्रश्न करने, अविश्वास करने और परीक्षण करने की मनोवृत्तियों के साथ हुआ है। इस सम्पर्क का मूल्य कितना अधिक है, इस

सम्बन्ध में जितना कहा जाय कम ही है। अतीत काल में भारतवासियों ने अनेक बार प्राधिकारात्मकता और पुरानी परम्पराओं को बनाये रखने की भावना (परम्पराप्रियता) पर परीक्षण और नवीनीकरण की अपेक्षा कहीं अधिक बल दिया था। इसलिए यह बात विशेष रूप से मूल्यवान है कि हम अपना सम्पर्क उस भाषा के साथ बनाये रखें, जिसका दृष्टिकोण मूलतः परीक्षणात्मक है, और जो हमारे मन के परम्परा-अनुगामी ढाँचे में सुधार करने में सहायक है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में जो बड़ी तीव्रता से चेतना जाग्रत हुई है, वह कोई आकस्मिक नहीं थी, अपितु वह तो हमारे परम्परागत दृष्टिकोण पर एक नयी जीवन-पद्धति के पड़ने वाले प्रभाव का परिणाम थी।

एक बार कार्लाइल ने कहा था कि यदि कोई मुझसे ब्रिटिश साम्राज्य और शेक्सपियर में से किसी एक को चुन लेने को कहे, तो मैं बिना क्षण भर भी हिचके शेक्सपियर को चुन लूँगा। यह बात केवल उन लोगों को आश्चर्यजनक प्रतीत होगी, जो कार्लाइल के अभिप्राय को पूरी तरह नहीं समझते। अन्य साम्राज्यों की भाँति ब्रिटिश साम्राज्य भी केवल कुछ समय तक कीर्ति के शिखर पर रहेगा और उसके बाद क्षीण हो जायगा; परन्तु शेक्सपियर द्वारा रचित संसार चिरकाल तक जीवित रहेगा और मानव मन की एक प्रिय निधि बना रहेगा। इसलिए ब्रिटिश साम्राज्य की तुलना में शेक्सपियर को अधिक पसन्द करके कार्लाइल एक ऐसी वस्तु के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट कर रहा था, जिस पर काल के आघातों का कोई प्रभाव न होगा। किसी अन्य जाति, देश या भाषा बोलने वाले व्यक्ति को भी शेक्सपियर की अंग्रेजी के प्रति श्रद्धालु होने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिये, क्योंकि भावना के क्षेत्र में न कोई शासक है न कोई शासित, न कोई स्वामी है न सेवक, अपितु सभी लोग सांझे मानवीय मूल्यों का साक्षात्कार करने में लगे साथी कार्यकर्ता मात्र हैं।

अध्याय ७

सांस्कृतिक गतिविधियाँ और राज्य

पिछले सौ-सवा सौ वर्षों से भारत में जो निःशब्द क्रान्ति हो रही थी, वह अन्त में राजनीतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के रूप में आकर समाप्त हुई। इस सारे काल की एक विशेषता यह रही कि सब ओर अशान्ति और असन्तोष छाया रहा। कभी-कभी यह नयी जागृति सब स्वीकृत प्रमापों के विरुद्ध केवल विद्रोह के रूप में प्रकट हुई, और कभी यह कलाकृतियों के रूप में, अथवा धार्मिक या सामाजिक सुधारों के आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई। इन सब प्रकार की अभिव्यक्तियों में विद्रोह की न भी सही, तो भी जिज्ञासा की भावना समान रूप से पायी जाती थी। इस प्रकार का असंतोष अपने आप में इस बात का प्रमाण है कि किसी नयी वस्तु का जन्म हो रहा था। पहले तारों को छिन्न-भिन्न होकर लुप्त हो जाना पड़ता है, तभी नवीन सूर्य का उदय होता है।

भारत में सभी जगह सामाजिक उथल-पुथल और अशान्ति है। ऐसी दशा में इसमें क्या आश्चर्य है कि कला के क्षेत्र में भी अभिव्यक्ति और सफलता के स्थान पर परीक्षण और प्रयत्न ही अधिक दिखायी पड़ें! विभिन्न कारणों से हाल के भारतीय जीवन में व्यक्तिवाद पर इतना अधिक बल दिया गया है कि इस युग की वही एक बड़ी विशेषता बन गया है। व्यक्तिवाद की इस प्रकार की प्रधानता के कारण सामाजिक बन्धन शिथिल हो जाते हैं। प्रथाएँ और परम्पराएँ समाज को एक जगह संगठित बनाये रखने के लिए सीमेंट का-सा

काम करती हैं। सामाजिक समेकन के लिए एक शर्त यह है कि समाज के प्रयोजनों के लिए व्यक्ति आत्मसमर्पण कर दे। जब व्यक्ति अपने आपको समाज से बड़ा समझने लगता है, तब पुरानी समाज व्यवस्थाएँ डगमगाकर गिरने लगती हैं। पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में यही प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी और स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद और भी तीव्र गति से बढ़ती जा रही है।

समाज के इस प्रकार अस्त-व्यस्त होने की इस प्रक्रिया का कभी-कभी एक विचित्र परिणाम यह होता है कि कुछ कलाओं में, जैसे चित्रकला और साहित्य में एकाएक नयी चमक आ जाती है। इसके विपरीत इस प्रकार की समाज की अस्तव्यस्तता के फलस्वरूप नाट्यकला और वास्तुकला में, और साथ ही दार्शनिक अन्तर्दृष्टि में भी यथेष्ट सफलता प्राप्त नहीं हो पाती।

कविता और चित्रकला मूलत: व्यक्ति की अपनी अभिव्यक्तियाँ हैं। उनको सामान्य या साधारण कहना उनकी निन्दा करना है। और दूसरी ओर, वास्तुकला, और कुछ सीमा तक नाट्यकला, अपने सौंदर्य के लिए लगभग पूर्णतया सामाजिकता की भावना पर निर्भर हैं। कवि अपने आदर्श की ओर एकाकी बढ़ सकता है। चित्रकार भी एकान्त में रहकर पूर्णता प्राप्त कर सकता है। संगीत व्यक्ति से ऊँचा उठ सकता है; किन्तु उसका मूल व्यक्तिगत तल्लीनता में ही है। वास्तुकला को अपनी प्रत्येक दशा में सामाजिक उपकरणों पर निर्भर रहना होता है। वास्तुकला की महान् कृतियाँ केवल सहकारी प्रयत्न द्वारा ही तैयार की जा सकती हैं। न केवल सबसे बड़े प्रमुख निर्माता को ही अच्छा कारीगर होना चाहिये, अपितु उसके सब सहायकों में भी कारीगरी के प्रति अनुराग होना चाहिये। थोड़े-से परिष्कृत रूप में यही बात समान रूप से रंगशाला के लिए भी कही जा सकती है। इसलिए कुछ आश्चर्य नहीं कि आधुनिक भारत में कविता, चित्रकला और संगीत के विषय में तो अनेक उल्लेखनीय परीक्षण हुए हैं, परन्तु वास्तुकला या नाट्यकला के सम्बन्ध में लगभग कुछ भी नहीं हुआ है।

स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद यह अशान्ति और असन्तोष की प्रक्रिया कुछ बढ़ी ही है, घटी नहीं। भावना की जिस उत्तेजना के परिणामस्वरूप स्वाधीनता प्राप्त हुई है, वह अभी तक शान्त नहीं हुई। क्या राजनीतिक, क्या आर्थिक

और क्या सामाजिक, सभी क्षेत्रों में नये समतुलन (ईक्विलिब्रियम) स्थापित होने सभी शेष हैं। परिणामतः चित्रकला, कविता और संगीत के क्षेत्र में स्वाधीन भारत की कला बहुत कुछ वही चीज है, जो स्वाधीनता के पूर्व के भारत में चल रही थी। नयी चेतना के जागरण के कुछ चिह्न अवश्य दिखाई पड़ रहे हैं, परन्तु अभी ये नयी प्राप्तियाँ इतनी काफी घनीभूत नहीं हो पायी हैं कि वे सफलता के एक नये युग का प्रारम्भ-बिन्दु बन सकें।

हमारी राष्ट्रीय विजय एक लम्बे और कठिन संघर्ष का परिणाम थी। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि प्रकृति में शायद ही कोई चीज कभी बिलकुल नये सिरे से प्रारम्भ होती है। जहाँ पर ऊपर से देखने पर यह प्रतीत होता है कि घटनाओं का अतीत के साथ बड़े उग्र रूप से सम्बन्ध विच्छेद हो गया है, वहाँ पर भी यदि हम सावधानी से देखें तो हमें ऐसी अनेक प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ काम करती दीख पड़ेंगी, जो ऊपर से दीख पड़ने वाले सम्बन्ध विच्छेद से पहले भी काम करती रही थीं और सम्बन्ध विच्छेद के बाद भी अपना काम जारी रखे हैं। क्रान्तियाँ वस्तुतः विकास की एक लम्बी प्रक्रिया के कुछ तीव्रगति युक्त और एक दूसरे से टकराते हुए दौर होती हैं। सब बड़ी-बड़ी राजनीतिक क्रान्तियाँ हमारे इस वक्तव्य की सत्यता को प्रभावित करती हैं। प्रत्येक क्रान्ति का स्वरूप और उसके बाद होने वाली घटनाओं का क्रम उन क्रान्तियों से सम्बद्ध जनता के स्वभाव, परम्पराओं और इतिहास पर निर्भर रहता है।

निरन्तरता का यह नियम मनुष्य की सांस्कृतिक गतिविधियों के क्षेत्र में और भी पूर्ण रूप से सत्य उतरता है। संस्कृति जनता के इतिहास का विशुद्ध सार है। लम्बे समय के अनुभव का निचोड़ उन रीतियों और परम्पराओं के रूप में आ जाता है, जिनसे मिलकर संस्कृति बनती है। इसलिए संस्कृति की बनावट में अतीत से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद बहुत ही असाधारण वस्तु है, और जब कभी भी ऐसा सम्बन्ध विच्छेद होता है, तो वह सामान्यतया उन लोगों के लिए विनाशकारी होता है, जिनका इस संस्कृति-परिवर्तन से सम्बन्ध होता है। जहाँ किसी पुरानी संस्कृति को किसी बिलकुल नयी संस्कृति का सामना करना पड़ता है, और उसके प्रभाव के कारण पुरानी संस्कृति पराजित हो जाती है, तो वे जातियाँ भी छिन्न-भिन्न हो कर नष्ट हो जाती हैं। आस्ट्रेलिया, अमेरिका

इत्यादि की आदिम जातियाँ आधुनिक यूरोप की सभ्यता के सम्पर्क में आकर नष्ट हो गयीं, उसका कारण भी यही है। सांस्कृतिक परम्परा की निरन्तरता का बने रहना किसी भी राष्ट्र के जीवित रहने के लिए एक आवश्यक तत्व है।

इसलिए यह आशा करना, कि भारतीय गणतन्त्र की स्थापना होते ही भारतीय संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में कुछ बिलकुल नयी वस्तुएँ प्रारम्भ हो जायँगी, अयुक्तियुक्त है। हमारे गणतन्त्र की स्थापना ही इसलिए हो सकी, क्योंकि कई दशाब्दियों से हमारी जनता में सांस्कृतिक नव जागरण हो रहा था। इस सम्बन्ध में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है कि राजनीतिक पराधीनता तो राष्ट्रीय चरित्र की उस दुर्बलता का ही एक रूप है, जिसके दूसरे दुष्परिणाम कला, विज्ञान और दर्शन के ह्रास के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। जब राष्ट्र का पुनर्जागरण प्रारम्भ होता है, तब एक नयी चेतना प्रकट होती है और वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता के लिए संघर्ष के रूप में ही नहीं, अपितु संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में अपने आपको और अधिक पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने की आकांक्षा के रूप में भी प्रकट होती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत में राजनीतिक क्षेत्र के सभी महान कार्यकर्ता साथ ही साथ सांस्कृतिक पुनरुत्थान के क्षेत्र में भी मार्गदर्शक रहे हैं। राजा राममोहनराय भारत के सर्वप्रथम राजनीतिक नेताओं में से ही एक नहीं थे, अपितु वह बंगाली गद्य के जन्मदाता तथा शिक्षा के पुनर्गठन और महिला-सुधार आन्दोलनों के अग्रदूत भी थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर केवल एक महान कवि और कलाकार ही नहीं थे, अपितु वह उन सर्वप्रथम लोगों में से थे, जिन्होंने यह अनुभव किया कि राजनीतिक स्वाधीनता राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण और हमारे ग्रामों के जीवन के पुनर्गठन द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। महात्मा गांधी भारतीय स्वाधीनता के सर्वोत्कृष्ट शिल्पी थे, किन्तु साथ ही वह आधुनिक गुजराती गद्य के भी जन्मदाता थे। अनेक भारतीय भाषाओं को नये सिरे से गौरव प्रदान करने का श्रेय भी मुख्यतया उन्हीं को है। नवजाग्रत भारत के जीवित नेताओं में से पंडित जवाहरलाल नेहरू और मौलाना अबुल कलाम आजाद न केवल स्वाधीनता संग्राम के निर्भीक योद्धा रहे हैं, अपितु हमारे सृजनशील लेखकों में भी उनका स्थान अग्रगण्य है।

२

इसलिए स्वाधीनता प्राप्ति के बाद की सांस्कृतिक गतिविधि का वर्णन केवल उस कथा को ही आगे जारी रखने जैसा है, जो कई दशाब्दी पहले प्रारम्भ हुई थी। स्वाधीनता से पूर्व के दिनों में इस प्रकार की सांस्कृतिक गतिविधियों की ओर मुख्यतया इनमें रुचि रखने वाले व्यक्तियों अथवा समुदायों का ही ध्यान रहता था। एक उल्लेखनीय परिवर्तन यह हुआ है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद इस प्रकार की गतिविधियों को राज्य की ओर से कहीं अधिक मात्रा में प्रश्रय दिया जाने लगा है और सहायता दी जाने लगी है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भारत में स्वाधीन होने के पहले ही बड़े-बड़े लेखक, कलाकार, संगीतज्ञ और वैज्ञानिक विद्यमान थे। परन्तु राज्य की ओर से इस प्रकार की गतिविधियों को प्रोत्साहन देने के लिए कोई पर्याप्त संगठित प्रयत्न नहीं किया गया था। यह ठीक है कि समय-समय पर राज्य के उच्च अधिकारी भारतवासियों की कला, दर्शन या विज्ञान की सफलताओं में रुचि दिखाया करते थे, परन्तु इस प्रकार की रुचि सामान्यतया व्यक्तिगत स्तर पर होती थी। राज्य अपने आपमें कला के सम्पर्क से अछूता ही बना हुआ था।

हाल के वर्षों में इस बात को अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि विभिन्न प्रकार की सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ावा देना भी राज्य का एक कर्तव्य है। अनेक आधुनिक राज्यों में शिक्षा मंत्रालयों को विशुद्ध अध्यापन और शिक्षण के कर्तव्यों के अतिरिक्त समाज के सांस्कृतिक जीवन के विकास और उन्नति का भी काम सौंपा गया है; और ऐसा होना भी चाहिये। सच्चे अर्थों में शिक्षा के अन्तर्गत कला तथा अन्य सांस्कृतिक रूपों में मानवीय अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों का समावेश होना चाहिये। यदि शिक्षा का अर्थ यह है कि मनुष्य में जो कुछ प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान है, उसे जाग्रत करके बाहर लाया जाय, तो यह अनिवार्य है कि इस प्रकार की प्रक्रिया अध्यापन कक्ष में दी जाने वाली जानकारी की संकीर्ण सीमाओं के बाहर भी फैली होनी चाहिये। सच तो यह है कि अनुभव से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि विशुद्ध जानकारी भी तभी सफल और प्रभावशाली होती है, जब कि उसका सम्बन्ध व्यक्तित्व के इन विशदतर पहलुओं के साथ जुड़ा हुआ हो। यही कारण है कि आजकल यह

बात सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है कि कला कोई प्रसाधन या सजावट की वस्तु नहीं है, अपितु यह बालकों के शैक्षणिक विकास के लिए एक आवश्यक तत्व है। यदि बालकों को स्वच्छन्द आत्म अभिव्यक्ति का अवसर दिया जाय, तो उनका विकास कहीं अधिक तेजी से होता है। और यह यदि कला का प्रारम्भिक रूप नहीं तो और क्या है ?

इसलिए यह उचित ही था कि जब शिक्षा विभाग—अब शिक्षा मन्त्रालय—को भारत सरकार में एक अलग इकाई के रूप में संगठित किया गया, तो उसका नाम 'शिक्षा और कला विभाग' रखा गया। अनेक कारणों से, जिनका विस्तृत उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, स्वाधीनता से पूर्व के भारत में औपचारिक शिक्षा के साथ-साथ कला और सांस्कृतिक गतिविधियों के विकास के लिए पर्याप्त अवसर नहीं मिला था। जो लोग कला की ओर आकृष्ट हो जाते थे, वे प्राय: देश की सामान्य शिक्षा प्रणाली से दूर ही दूर रहते थे, जबकि जो अधिकांश छात्र सामान्य शिक्षा प्राप्त करते थे, वे कला की ओर शायद ही कोई ध्यान देते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी नयी पीढ़ी की मानसिक रुग्णता का अधिकांश कारण यही है कि परम्परागत शिक्षा प्रणाली में उनके संवेगात्मक और ललितकलात्मक पहलू की इस प्रकार उपेक्षा की गयी थी।

परन्तु गत विश्वयुद्ध की समाप्ति के वर्षों में युद्धोत्तर शिक्षा के लिए बनायी गयी विकास की योजनाओं में कला की आवश्यकता को काफी कुछ स्थान दिया गया था। बंगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी ने यह प्रस्ताव किया था कि भारत सरकार भारत के सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को उन्नत और विकसित करने के लिए एक सांस्कृतिक न्यास (कल्चरल ट्रस्ट) की स्थापना करे। यह प्रस्ताव सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया गया और तीन अकादेमियों—१. साहित्य की २. दृश्य कलाओं की और ३. नाट्य, नृत्य और संगीत की अकादेमियों—की स्थापना के लिए एक योजना तैयार की गयी थी। क्योंकि सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए बहुत अविलम्ब और सूक्ष्म सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रियाओं की आवश्यकता होती है, इसलिए इस योजना को बनाने वाले लोगों ने प्रस्ताव किया कि यह न्यास एक स्वायत्त निकाय हो, जिसके पास व्यय करने के लिए अपनी स्वतन्त्र निधियाँ हों।

यह स्वीकार ही करना होगा कि स्वाधीनता से पूर्व के भारत में इन सामान्य

योजनाओं के अतिरिक्त कला अथवा अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों की वृद्धि के लिए विशेष कुछ नहीं किया गया। यह सत्य है कि कलकत्ता, मद्रास, बम्बई या लखनऊ जैसे महत्वपूर्ण केन्द्रों में कला के कुछ विद्यालय स्थापित किये गये थे, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि शिक्षा के क्षेत्र में कला के साथ सौतेली पुत्री जैसा व्यवहार किया जाता था। संगीत, नृत्य और नाट्य कला की दशा और भी अधिक असन्तोषजनक थी। इन कलाओं का अभ्यास करने वाले लोगों पर समाज की कोप दृष्टि थी और यदि बहुत हुआ, तो समाज इनके प्रति बिलकुल उदासीन रहता था। इस काल में ललित कलाएँ बिलकुल समाप्त नहीं हो गयीं, इसका कारण यह था कि कुछ गिने-चुने कलाकार भक्ति-पूर्वक इन कलाओं की साधना में लगे हुए थे और उन्हें कुछ आश्रयदाता भी मिले हुए थे।

संस्कृति तभी सर्वोत्तम रूप में पनपती है जबकि एक ऐसा वातावरण विद्यमान हो, जिसमें उसका अन्य संस्कृतियों के साथ खुला आदान-प्रदान हो सके। दुर्भाग्य से भारत में अंग्रेजों के आने के बाद भारत के अपने पड़ौसियों के साथ प्राचीन सम्बन्ध समाप्त हो गये थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शेष संसार के साथ भारत के सम्बन्धों को बढ़ाने का यत्न किया और भारत के स्वाधीन होने से बहुत पहले ही वह भारत के अनधिकृत (गैर सरकारी) राजदूत का काम करते रहे। यूरोप के देशों, अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका, दक्षिण-पूर्वी एशिया, जापान, चीन, ईरान और सोवियत रूस की उनकी यात्राएँ बहुत कुछ विजय-यात्राओं जैसी थीं। उनकी इन यात्राओं से इन देशों के साथ भारत के सम्बन्ध फिर स्थापित हुए। परन्तु क्योंकि ये सम्बन्ध मूलतः उनके व्यक्तित्व के कारण बने थे, इसलिए यह भय था कि कहीं उनकी मृत्यु के बाद ये सम्बन्ध समाप्त न हो जायँ। इस शताब्दी की तीसरी दशाब्दी के अन्त और चौथी दशाब्दी के प्रारम्भ में पं० जवाहरलाल नेहरू ने यूरोप के देशों का विस्तृत पर्यटन किया और इसका भी प्रभाव यह हुआ कि इन देशों को भारत के सम्बन्ध में काफी कुछ पता चला। जगदीश चन्द्र बोस, चन्द्रशेखर वेंकट रमन, मेघनाद साहा तथा अन्य वैज्ञानिकों के कार्यों से भी विदेशों में भारत के प्रति रुचि उत्पन्न हुई। प्रोफेसर राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन की जिस प्रकार नये ढंग से व्याख्या की, उससे सारे संसार में विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। साथ ही श्री अरविन्द के प्रशंसक

भी पश्चिम के सभी देशों में विद्यमान थे। ये संख्या में भले ही कम थे, किन्तु ये सब प्रभावशाली लोग थे। अन्त में, किन्तु बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव आधुनिक संसार पर महात्मा गांधी के व्यक्तित्व का रहा, जिसने मनुष्य की अन्तरात्मा को गहराई तक आलोड़ित कर दिया और संसार के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में भारतीय संस्कृति के महत्व को लोगों के सामने अधिकाधिक रूप में स्पष्ट कर दिया।

फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि स्वाधीनता की प्राप्ति से पहले तक भारत के सम्बन्ध में दूसरे देशों की रुचि छुटपुट और अस्पष्ट-सी थी। परन्तु स्वतन्त्र भारत के उत्थान के बाद संसार ने सहसा इस बात को अनुभव किया कि यह एक ऐसा नया देश उठ खड़ा हुआ है, जिसने न केवल अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की है, अपितु उस स्वतन्त्रता को ऐसे सुसंस्कृत और सुसभ्य ढंग से प्राप्त किया है, जिसकी सारे मानवीय इतिहास में शायद कहीं भी उपमा नहीं मिलती। स्वतन्त्र भारत की सरकार ने भी इस बात को अनुभव किया कि संसार को भारत की देन मुख्य रूप से संस्कृति और नैतिकता के क्षेत्रों में ही होगी। अनेक शताब्दियों में पहली बार भारत ने एक राज्य के रूप में न केवल अपने देश के अन्दर, अपितु देश से बाहर भी कला और सांस्कृतिक गतिविधियों की उन्नति में सक्रिय रुचि लेनी प्रारम्भ की।

३

इस अध्ययन में उन अनेक बातों में से कुछ का केवल एक बहुत संक्षिप्त विवरण ही प्रस्तुत किया जा सकता है, जिन्हें भारत सरकार और राज्य सरकारें देश के स्वाधीन होने के बाद करने का प्रयत्न करती रही हैं। शायद यहाँ सबसे पहले यूनेस्को के साथ सहयोग करने के लिए एक राष्ट्रीय आयोग की स्थापना का उल्लेख कर देना उचित होगा। यूनेस्को की स्थापना युद्धकाल के वर्षों में उन सूझ-बूझ तथा सद्भावना वाले लोगों ने की थी, जिन्होंने इस बात को अनुभव किया था कि जब तक राष्ट्रों को विभक्त रखने वाले सन्देह, द्वेष और ईर्ष्या के भाव समाप्त नहीं हो जाते, तब तक स्थायी शान्ति की कोई आशा नहीं है। यूनेस्को के संविधान में प्रस्तावना में यह ठीक ही कहा गया है कि क्योंकि सारे युद्धों का प्रारम्भ मनुष्यों के मन में होता है, इसलिए शान्ति के

गढ़ों का निर्माण भी मनुष्यों के मन में ही किया जाना चाहिये। यूनेस्को ने इस बात को भी स्वीकार किया है कि विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक प्रेम और सदभावना स्थापित करने का कार्य पूरी तरह सरकारों पर नहीं छोड़ा जा सकता। सरकारें समाज के संगठित उपकरणों जैसी होती हैं, और सरकारों का सम्बन्ध राजनीतिक प्रश्नों से होता है, जिनमें मतभेद प्रायः अनिवार्य ही होता है। इसलिए यूनेस्को ने यह आदेश दिया कि इसमें भाग लेने वाला प्रत्येक देश अपने यहाँ एक गैर सरकारी आयोग की स्थापना करे, जिसका काम दूसरे राष्ट्रों के व्यक्तियों के साथ पारस्परिक सद्भावना और प्रेम को बढ़ाना हो। राजनीतिक कारणों से उत्पन्न होने वाली मर्यादाओं से स्वतन्त्र होने के कारण ये आयोग दूसरे देशों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने में सरकारी अभिकरणों (एजेन्सियों) की अपेक्षा अधिक सफल हो सकेंगे।

भारत यूनेस्को का एक संस्थापक सदस्य है और बिल्कुल प्रारम्भ से ही भारत ने सम्पूर्ण हृदय से यूनेस्को के उद्देश्यों को स्वीकार कर लिया है। इन उद्देश्यों को पूर्ण करने की दृष्टि से १९४९ में भारत सरकार ने एक अन्तर्कालीन आयोग की स्थापना की थी, जिसे बाद में १९५३ में स्थायी बना दिया गया। इस स्थायी राष्ट्रीय आयोग की ओर से पहला सम्मेलन जनवरी १९५४ में किया गया, जिसका उद्घाटन भारत के प्रधान मन्त्री ने किया। इस सम्मेलन में एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देशों से अनेक बन्धु प्रतिनिधि आये हुए थे। सच कहा जाय, तो यह सम्मेलन यूनेस्को का लगभग एक प्रादेशिक सम्मेलन ही बन गया था; और शायद यह पहला अवसर था जबकि किसी राष्ट्रीय आयोग ने इस प्रकार के सम्मेलन को बुलाने में पहल की हो। यह आयोग प्रत्यक्ष रूप से और अपने अन्य साथी संगठनों की मारफत, जो विशेष रूप से शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति की उन्नति में जुटे हुए हैं, दोनों ही ढंग से कार्य करता है। विज्ञान तथा शिक्षा की उन्नति के लिए जो यन्त्रजात (मशीनरी) खड़ा किया गया है, उसका यहाँ विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो भारतीय शिक्षा की सामान्य कथा का ही एक अङ्ग बन गया है। फिर भी, यहाँ उस यन्त्रजात का कुछ वर्णन कर देना उचित होगा, जो सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ाने के लिए खड़ा किया गया है।

बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रस्तावित उस योजना का

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, जिसमें एक ऐसे सांस्कृतिक न्यास की स्थापना करने का सुझाव दिया गया था, जो भाषा और साहित्य, संगीत, नाट्य और नृत्य, चित्रकला, वास्तुकला तथा अन्य दृश्य कलाओं के विकास को प्रोत्साहन देने के लिए तीन अकादेमियों की मार्फत काम करने वाले एक सांस्कृतिक न्यास की स्थापना का सुझाव दिया गया था। इस सम्बन्ध में सोसायटी के प्रस्तावों पर विभिन्न कलाओं के सुप्रसिद्ध प्रतिनिधियों के कई सम्मेलनों में और भी विचार किया गया। इन सम्मेलनों ने पुरानी परम्पराओं को बनाये रखने और उन्हें समृद्ध करने के साथ-साथ नये युग की भावना के अनुसार परीक्षण और नवीनीकरण को प्रोत्साहन देने के लिए कुछ उपाय सुझाये। इस समय तीन राष्ट्रीय अकादेमियाँ स्वायत्त निकायों के रूप में स्थापित की जा चुकी हैं; और उनका कार्य यह है कि वे कला के क्षेत्रों में प्रमापों को न केवल पहले जैसा बनाये रखें अपितु उन्हें और भी उन्नत करें और नये विकास को प्रोत्साहन दें।

दूसरे देशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्धों को बढ़ाने के लिए १९४७ के बाद बहुत आशाजनक काम किया जा चुका है। अनेक कारणों से स्वाधीनता प्राप्त करने से पहले भारत के सम्बन्ध एशिया तथा अफ्रीका के देशों के साथ नहीं के बराबर थे। भारत के यूरोपीय देशों के साथ सम्बन्ध भी मुख्यतया इंग्लैंड के साथ ही थे। इसलिये यह अनुभव किया गया कि पहला काम यह होना चाहिये कि अपने बिलकुल निकट के पड़ौसियों के साथ चिर प्राचीन सम्बन्धों को फिर से स्थापित किया जाय। द्वितीय विश्व युद्ध के अन्तिम वर्षों में ईरान से एक सद्भावना शिष्टमंडल भारत आया था और उसके फलस्वरूप दिल्ली में एक छोटी-सी भारत-ईरानी संस्कृति समिति की स्थापना हुई थी। स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद यह अनुभव हुआ कि इस समिति के कार्यक्षेत्र और कार्यकलाप को इतना विस्तृत कर दिया जाना चाहिये कि इसका लक्ष्य केवल ईरान के साथ ही सांस्कृतिक सम्बन्धों को सुदृढ़ करना न रहे, बल्कि भारत के सभी पड़ोसियों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्धों को सुदृढ़ करना बन जाय। तदनुसार भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद (इन्डियन कौंसिल फार कल्चरल रिलेशन्स) की स्थापना एक स्वाधीन और स्वायत्त निकाय के रूप में की गयी। इस परिषद का उद्घाटन करते हुए प्रधान मन्त्री ने इसकी स्थापना का स्वागत करते हुए कहा कि यह संस्था भारत तथा संसार के अन्य देशों के मध्य संस्कृति के क्षेत्र में घनिष्ठ

सम्बन्धों की स्थापना के लिए एक शुभ शकुन सिद्ध होगी। इस समय इस परिषद में कई अनुभाग (सैक्शन) हैं। इनमें से एक अनुभाग पश्चिमी एशिया के देशों तथा टर्की के साथ व्यवहार करता है दूसरा दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों के साथ, और तीसरा अफ्रीका के देशों के साथ। यह प्रस्ताव है कि समय बीतने के साथ-साथ यूरोप तथा अमेरिका के देशों के साथ सम्बन्ध घनिष्ठ करने के लिए और भी अनुभाग खोले जायँ।

इस परिषद ने अनेक प्रकार की गतिविधियाँ अपने हाथ में ली हैं, जिनमें से यहाँ केवल कुछ प्रमुख गतिविधियों का ही उल्लेख करना उचित होगा। इस परिषद ने एक पुस्तकालय और वाचनालय तैयार किया है; और यह अनेक पत्रिकाओं तथा अन्य सांस्कृतिक सामग्री के प्रकाशन में भी सहायता दे रही है। इस परिषद ने दूसरे देशों से प्रोफेसरों तथा अन्य विद्वानों का भारत के साथ आदान-प्रदान किया है और कलाकारों के दलों को सांस्कृतिक यात्राएँ करने में सहायता दी है।

इस परिषद के कार्यों के अतिरिक्त, स्वतन्त्र भारत ने दूसरे देशों के साथ अपने सांस्कृतिक सम्बन्ध अन्य उपायों द्वारा भी बढ़ाने का प्रयत्न किया है। अमेरिका, इंग्लैंड, ईरान, अफगानिस्तान, आस्ट्रेलिया, टर्की, जापान, रूस और अफ्रीका के कुछ देशों में भारत से विद्वान और छात्र भेजे गये हैं और उन देशों के विद्वान और छात्र भारत में बुलाये गये हैं। भारत ने तस्मानिया, जंजीबार, अफगानिस्तान, मलाया, इथियोपिया और सूडान जैसे देशों में अध्यापक भेजने का भी प्रबन्ध किया है। भारतीय संस्कृति और इतिहास के सम्बन्ध में पुस्तकें अनेक देशों के चुने हुए पुस्तकालयों को भेंट की गयी हैं। भारत में कुछ पुस्तकालय संयुक्त राष्ट्र और उसके विशिष्ट अभिकरणों (एजेंसियों) के प्रकाशनों का संग्रह अपने यहाँ रख रहे हैं। भारत ने अमेरिका और इंग्लैंड की सरकारों से यह भी समझौता किया है कि इन देशों के सब सरकारी प्रकाशनों का भारत के सरकारी प्रकाशनों से विनिमय कर लिया जाय।

विभिन्न देशों के मध्य सांस्कृतिक सम्बन्धों को बढ़ाने और अच्छे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि उन देशों में विद्यार्थियों और विद्वानों का आवागमन स्वच्छन्द रूप से होता रहे। भारत ने काफी बड़ी संख्या में इस प्रकार की छात्रवृत्तियाँ तथा फैलोशिपों के विनिमय का प्रबन्ध

किया है। एक योजना के अनुसार, जो फुलब्राइट कार्यक्रम नाम से प्रसिद्ध है, पिछले पाँच वर्षों में भारतीय और अमेरिकन अध्यापकों और छात्रों का काफी बड़ी संख्या में विनिमय हुआ है। इंग्लैंड के सम्बन्ध में इसी प्रकार के कार्यक्रम को संगठित करने के लिए ब्रिटिश कौंसिल ने काफी सहायता दी है। विनिमय के आधार पर फ्राँस, मिश्र, इटली, ईरान, जर्मनी, यूगोस्लाविया और चीन में भी इसी प्रकार की फैलोशिपों की व्यवस्था की गयी है। पिछले कुछ वर्षों से सांस्कृतिक छात्रवृत्तियों के लिए एक सर्वांगसम्पूर्ण योजना भी चल रही है, जिसके अन्तर्गत एशिया और अफ्रीका के विशाल प्रदेश आ जाते हैं और कुछ ऐसे प्रदेश भी आ जाते हैं, जहाँ भारतीय जाकर बस गये हैं।

पिछले हाल के वर्षों में भारत ने ईरान, अफगानिस्तान और इंडोनेशिया में पुरातत्वविदों के मंडल भी भेजे थे। अनेक गैरसरकारी संस्थाओं की सहायता से भारत ने संसार के कई देशों मे भारतीय कला की प्रदर्शनियों का भी आयोजन किया। भारत में अमेरिका, रूस, चीन, फ्राँस, इंडोनेशिया तथा अन्य देशों से भी सरकारी या गैरसरकारी प्रदर्शनियाँ आ चुकी हैं। भारत के अनेक नगरों में आधुनिक यूरोपियन उत्कृष्ट कलाकृतियों की यूनेस्को द्वारा आयोजित प्रदर्शनियाँ भी हो चुकी हैं। यहाँ पर अमेरिका, आस्ट्रेलिया और जर्मनी जैसे अनेक देशों में हुई अन्तरराष्ट्रीय बाल-कला-प्रदर्शनियों में भारत की ओर से भेजी गयी कृतियों तथा नयी दिल्ली में 'शंकर्स वीकली' की ओर से प्रति वर्ष आयोजित की जाने वाली अन्तरराष्ट्रीय बाल-कला-प्रदर्शनियों का विशेषरूप से उल्लेख कर देना उचित होगा।

भारत के स्वाधीन होने से कुछ ही पहले लन्दन की रायल एकेडमी ने भारतीय कला की एक प्रदर्शनी की थी। शायद इससे बड़ी भारतीय कला की प्रदर्शनी और कभी नहीं हुई। इस प्रदर्शनी में पिछले पाँच हजार वर्षों में हुए भारतीय कला के विकास का बड़ा विशद प्रदर्शन किया गया था। अविभक्त भारत के सब अद्भुतालयों और निजी रूप से कलाकृतियों को संग्रह करने वाले लोगों तथा राजाओं के उदारतापूर्ण सहयोग के कारण यह प्रदर्शनी अद्वितीय बन गयी थी। यह अनुभव किया गया कि इस प्रदर्शनी को विसर्जित करने से पहले इसका प्रदर्शन दिल्ली में भी किया जाय। इस प्रदर्शनी की सफलता से इस विचार को प्रोत्साहन मिला कि इसे प्रस्तावित राष्ट्रीय अद्भुतालय के नाभिक

(न्यूक्लियस) के रूप में प्रयुक्त कर लिया जाय। जब तक अद्भुतालय के अपने भवन का निर्माण न हो जाय, तब तक के लिए कुछ कलाकृतियाँ राष्ट्रपति भवन में रख दी गयीं। यह राष्ट्रीय अद्भुतालय देश की कला का सच्चा प्रतिनिधि हो, इसके लिए सरकार इस बात का प्रयत्न कर रही है कि दूसरे देशों में विद्यमान बहुमूल्य भारतीय कलाकृतियों की खोज की जाय। यह सोचा गया है कि जहाँ तक सम्भव हो, मूल कलाकृतियों को प्राप्त करने का यत्न किया जाय; और यदि मूल कलाकृतियाँ उपलब्ध न हो सकें, तो कुशल विशेषज्ञों द्वारा उनकी प्रतिकृतियाँ (नकलें) तैयार करा ली जायँ। बहुमूल्य कलाकृतियों के देश से अविवेकपूर्ण निर्यात को रोकने के लिए कानून बनाया जा चुका है। अद्भुतालय के स्थायी भवन की आधार-शिला भी हाल ही में रखी जा चुकी है। आधुनिक भारतीय कला का एक संग्रह उस जगह रखा गया है, जो पहले 'जयपुर हाउस' कहलाता था; और कलाकृतियों के इस संग्रह को धीरे-धीरे बढ़ाया जा रहा है। कुछ राज्य-सरकारों के सहयोग से महत्वपूर्ण कलाकृतियों की खरीद के लिए एक स्थायी निधि बना ली गयी है।

यहाँ भारत सरकार के तत्वावधान में प्रकाशित किये गये विश्व दर्शन के सर्वांग सम्पूर्ण इतिहास का भी विशेष रूप से उल्लेख कर देना उचित है। अब तक इस प्रकार के जितने इतिहास लिखे गये थे, उनमें केवल एक देश या प्रदेश के दर्शनशास्त्र का ही वर्णन रहता था। पश्चिमी दर्शन के इतिहासों में भारतीय अथवा अरबी दर्शनशास्त्र का कभी-कभी उल्लेख मात्र ही होता था। इसी प्रकार भारतीय दर्शन के इतिहासों में भी अन्य देशों के दर्शन शास्त्र का जहाँ-तहाँ उल्लेख रहता था, परन्तु अब तक विभिन्न देशों और विभिन्न युगों के मानवीय विचार के विकास का कोई सर्वांग सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं था। वैसे तो इस प्रकार का अध्ययन किसी भी समय महत्वपूर्ण समझा जाता, परन्तु आधुनिक युग में जबकि विभिन्न जातियाँ और विभिन्न संस्कृतियाँ एक दूसरे के बहुत निकट आ गयी हैं—राष्ट्रों में एक दूसरे के प्रति सद्भावना उत्पन्न करने के लिए—इस प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता बहुत तीव्र हो उठी है। इसलिए शिक्षा मन्त्रालय का एक पहला काम यह था कि संसार के विभिन्न देशों के लगभग ६० विद्वानों के सहयोग से 'पौरस्त्य और पाश्चात्य दर्शन का इतिहास'

(हिस्ट्री आफ फिलोसफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न) तैयार कराया जाय और प्रकाशित किया जाय।

४

यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि सरकार अपने आप में उत्कृष्ट कलाकृतियों का सृजन नहीं कर सकती। कुछ लोगों का तो यहाँ तक विचार है कि सरकार कला की उन्नति में भी सहायक नहीं हो सकती, क्योंकि सरकार का संरक्षण मिलने पर सम्भव है कि लोगों की कलात्मक गतिविधियाँ गलत दिशा में चली जायँ। इस प्रकार के संकटों से बचने के लिए ही भारत में तीन राष्ट्रीय अकादेमियों की स्थापना की गई है। इन अकादेमियों के सदस्य मुख्यरूप से विभिन्न क्षेत्रों में कार्य कर रहे कलाकार ही हैं। फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि प्रोत्साहन और समर्थन का उचित वातावरण तैयार करके राज्यकलाओं के विकास में सहायता दे सकता है; और उसे देनी भी चाहिये। प्रजातन्त्र में यह बात और भी अधिक आवश्यक हो गयी है। अतीत काल में सम्पन्न लोग—चाहे उन्हें पैसा कृषि से प्राप्त होता था, अथवा उद्योग से—कला के संरक्षक बन सकते थे। परन्तु जो देश समानतावाद की ओर बढ़ रहा है, उसमें या तो इस प्रकार के विशेषाधिकार युक्त वर्ग लुप्त हो चुके हैं, या लुप्त होते जा रहे हैं और उनका स्थान राज्य को लेना ही चाहिये।

भारत सरकार ने एक बिलकुल नया कदम तब उठाया, जब उसने यह निश्चय किया कि तरुण कलाकारों को इस प्रकार की छात्रवृत्तियाँ दी जायँगी, कि जिससे वे एक या एक से अधिक वर्षों के लिए पैसे की चिन्ता से मुक्त हो जायँ और स्वतन्त्र रहकर अपनी कला का विकास कर सकें। एक और योजना के अन्तर्गत ख्यातिप्रिय कलाकारों को इस प्रकार के अनुदान दिये गये, कि जिन-से वे विभिन्न प्रकार की कलाओं का परिमाप (सर्वेक्षण या सर्वे) कर सकें और उन कलाकृतियों का संग्रह कर सकें जो संरक्षण के अभाव में नष्ट हुई जा रही हैं। राष्ट्रीय अकादेमी की स्थापना के बाद अलबमों, चित्र ग्रंथों (पोर्टफोलियो) तथा चित्रमय पोस्टकार्डों के प्रकाशन की व्यवस्था की गयी, जिससे कला जनता में लोकप्रिय हो जाय। तरुण कलाकारों को प्रोत्साहन और सहायता देने के लिए सामयिक प्रदर्शनियाँ अधिकाधिक परिमाण में की जा रही हैं। यहाँ पर

उन वृद्ध कलाकारों के लिए, जिन्होंने अतीत में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी और इस समय आर्थिक कठिनाइयों में हैं, पेन्शन देने की प्रणाली का भी विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

साहित्य अकादेमी साहित्यकारों की इसी प्रकार की सेवा करने का प्रयत्न कर रही है। इसने राष्ट्रीय पुस्तक वर्णन सूची तैयार करने का काम हाथ में लिया है। यह अकादेमी कालिदास की, जो प्राचीन भारत का सम्भवतः सबसे बड़ा कवि है, रचनाओं का एक प्रमाप संस्करण तैयार करने में सहायता दे रही है। साहित्य अकादेमी ने यह भी निश्चय किया है कि प्रत्येक आधुनिक भारतीय भाषा की सर्वोत्तम रचनाओं के संग्रह प्रकाशित किये जायँ और उनके अनुवाद दूसरी भाषाओं में कराये जायँ, जिससे सारे देश की एक सांझी साहित्यिक निधि तैयार हो जाय।

अब समय आ गया है कि संगीत के क्षेत्र में भी हम अपनी अतीत की सफलताओं का नये सिरे से मूल्यांकन करें। इस समय हमारे संगीतज्ञों में नये-नये परीक्षणों की प्रेरणा बहुत स्पष्ट नहीं है। फिर भी आरकैस्ट्रा के प्रयोग तथा नये ध्वनिसंयोगों को तैयार करने की ओर प्रयत्न का कुछ प्रारम्भ हुआ दीखता है। एक लम्बे युग से भारतीय संगीत अपने पुराने यश पर जी रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बीच-बीच में कुछ संगीत के सुधारक भी होते रहे, जिन्होंने कुछ नये तत्वों का मिश्रण करने की चेष्टा की। इस सम्बन्ध में अमीर खुसरो, तानसेन या सूरदास, या हाल के दिनों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम लिया जा सकता है। फिर भी भारतीय संगीत की मुख्य रूपरेखा लगभग ५०० वर्ष से अपरिवर्तित चली आ रही है।

इस समय, व्यक्तियों और दलों के द्वारा किये जा रहे पृथक्-पृथक् प्रयत्नों के अतिरिक्त भारत सरकार भी कुछ ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करके—जिनमें विभिन्न स्वीकृत संगीत पद्धतियों के संगीतज्ञ मिलकर काम कर सकें और नयी शैलियों का विकास कर सकें—भारतीय संगीत को समुन्नत करने का प्रयत्न कर रही है। यह बात सर्वविदित है कि उत्तर और दक्षिण भारत में भारतीय संगीत लगभग समानान्तर रेखाओं में विकसित हुआ है। यह प्रस्ताव रखा गया है कि राष्ट्रीय अकादेमी के तत्वावधान में विभिन्न प्रदेशों में विकसित हुई संगीत पद्धतियों का अध्ययन करने के लिए प्रादेशिक अकादेमियों की स्थापना की जाय।

लखनऊ की हिन्दुस्तानी संगीत अकादेमी तथा दक्षिण में कर्नाटक संगीत विद्यालय प्राचीन संगीत परम्पराओं के कोशागारों के रूप में प्रयुक्त किये जा सकेंगे। यह भी विचार है कि इन संस्थाओं को संगीत शास्त्र में नये परीक्षणों की प्रयोगशाला-सा बना डाला जाय। हिन्दुस्तानी अकादेमी की स्थापना के तुरन्त बाद से ही एक मनोरंजक प्रयत्न यह किया जा रहा है कि संगीत का उपयोग भावनाओं को सुसंस्कृत करने के लिए किया जाय। इस परीक्षण का उद्देश्य यह पता चलाना है कि संगीत की विभिन्न लयों, धुनों और गतों का बालक के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है। एक बार जब इस सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकाल लिये जायेंगे, तब उस ज्ञान का उपयोग विद्यालयों के सामान्य पाठ्यक्रम को सुधारने के लिए किया जा सकेगा।

भारत में लोकनृत्य की परम्परा कई शताब्दी पुरानी है। अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् इस बात का भय था कि कहीं यह परम्परा समाप्त न हो जाय। अनेक दशाब्दियों तक नृत्यकला केवल उन थोड़े-से पेशेवर नर्तक और नर्तकियों तक ही सीमित रही, जिनका कि स्थान समाज में बहुत नीचा था। इस शताब्दी की चौथी दशाब्दी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रेरणा से नृत्यकला का पुनरुत्थान हुआ। उन्होंने न केवल नृत्य के अनेक पुराने रूपों को पुनरुज्जीवित किया, अपितु नृत्य को प्रतिष्ठा की वस्तु भी बना दिया। इस सम्बन्ध में उदयशंकर के नाम का उल्लेख करना भी उचित होगा, जिसने विदेशों में भारतीय नृत्यकला की धाक जमाने के लिए बहुत काम किया है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद नृत्य के विभिन्न रूपों के सम्बन्ध में लोगों की रुचि तीव्र रूप से जागृत हो गई है। भारत सरकार ने विद्यालयों में प्रारम्भ करने के लिए प्रतिनिधि लोकनृत्यों और संगीतों को संग्रह करने का काम प्रारम्भ कर दिया है; क्योंकि यह अनुभव किया गया है कि कला के इस सजीव रूप को जीवित बनाये रखने का यही एक सर्वोत्तम उपाय है कि उसका विद्यालयों में अभ्यास कराया जाय।

साहित्य के क्षेत्र में सभी भारतीय भाषाओं में लेखन की बाढ़-सी आयी हुई है। इस सम्पूर्ण लेखन की एक विशेषता प्रश्नात्मकता और बेकली कही जा सकती है। साहित्य के प्राचीन रूपों की परख वर्तमान की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए की जा रही है और प्रायः इन प्राचीन रूपों पर यह आक्षेप किया जाता है कि वे अपर्याप्त हैं। स्वयं भाषा तक के ताने-बाने में

परिवर्तन के सम्बन्ध में भी परीक्षण किये जा रहे हैं। बंगाल में आधुनिकता और परम्पराप्रियता की दो बिलकुल विरोधी प्रवृत्तियाँ एक दूसरे पर विजय पाने के लिए संघर्ष कर रही हैं। अन्य भाषाओं के बढ़ते हुए साहित्य में भी ये प्रक्रियाएँ देखी जा सकती हैं। एक स्वागत योग्य प्रवृत्ति यह है कि विभिन्न भाषाओं की रचनाओं का अनुवाद दूसरी भाषाओं में करके पारस्परिक सम्पर्कों को विशालतर बनाने का यत्न किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में भी राष्ट्रीय सरकार उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सहायता दे सकती है और दे रही है, जितनी अतीत में सम्भव थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यूनेस्को से सम्पर्क स्थापित करने के लिए राष्ट्रीय आयोग तथा साहित्य अकादेमी, दोनों ने ही इस अनुवाद के कार्य को अपना एक महत्वपूर्ण कर्तव्य स्वीकार कर लिया है।

कई नये विश्वकोश—ऐनसाइक्लोपीडिया—तैयार किये जा रहे हैं, जिनका प्रयोजन यह है कि आधुनिक ज्ञान को साधारण व्यक्ति तक उसकी अपनी मातृभाषा द्वारा पहुँचा दिया जाय। तमिल अकादेमी ने एक तमिल विश्वकोश की रचना का कार्य हाथ में लिया है। तेलुगु अकादेमी तेलुगु भाषा में इसी प्रकार का एक विश्वकोश तैयार करने में सहायता दे रही है। महाराष्ट्र, बंगाल तथा अन्य प्रदेशों में भी इसी के सामानान्तर कार्यक्रम जारी हैं। भारत सरकार ने एक ऐसा ज्ञानकोश हिन्दी में निकालने का भी निश्चय किया है, जिसके द्वारा सामान्य लोगों को आधुनिक ज्ञान सरल और सुबोध रूप में प्राप्त हो सकेगा; और यह ज्ञानकोश अन्य भारतीय भाषाओं में उसी प्रकार के ज्ञानकोशों की रचना का आधार बन सकेगा। यहाँ पर नवसाक्षर वयस्कों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए रचित एक लोकप्रिय ज्ञानकोश (ज्ञानसरोवर) का विशेष रूप से उल्लेख कर देना उचित होगा।

५

भारत की पुनरुत्थान की भावना अनेक क्षेत्रों में अभिव्यक्त हो रही है। भारत की लोकभाषाओं के विकास को एक बड़ी प्रेरणा इस निश्चय से भी मिली है कि उनका उपयोग राज्यभाषाओं के रूप में किया जायगा। महत्वपूर्ण साहित्यकारों का केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा सम्मान किये जाने से भी

इस लक्ष्य की पूर्ति में बड़ी सहायता मिली है। विभिन्न भाषाओं के साहित्य की सम्पत्ति और विविधता को देश के विभिन्न प्रदेशों के निवासियों के सम्मुख प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया जा रहा है। ख्याति प्राप्त संगीतज्ञों के सम्मान के लिए विशेष पुरस्कार देने प्रारम्भ किये गये हैं। इसी प्रकार के पुरस्कार नाटक, मूर्तिकला और वास्तुकला के क्षेत्र में भी प्रारम्भ किये गये हैं। भारत सरकार ने तरुण कलाकारों को प्रोत्साहन देने के लिए छात्रवृत्तियाँ देनी प्रारम्भ की हैं। उनका भी बहुत अच्छा प्रभाव हुआ है। देश में होनेवाली प्रदर्शनियों की संख्या काफी बढ़ गई है; और इनमें से अनेक प्रदर्शनियाँ तो केवल किसी एक व्यक्ति की कला के प्रदर्शन के लिए ही की गयीं। चुनी हुई कलाकृतियों को राष्ट्रीय गैलरी के लिए खरीद लेने की सरकार की नीति से अनेक कलाकारों को बड़ा प्रोत्साहन मिला है। भारतीय कला और संस्कृति के सभी पहलुओं के बारे में विदेशी लोगों की रुचि में भी बड़ी सुस्पष्ट वृद्धि हुई है।

बड़े उथले से परिमाप (सर्वेक्षण) में भी, जैसा कि हमने यहाँ किया है, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस क्षेत्र में प्रयत्न और परीक्षण तो अधिक हो रहे हैं और सफलता कम मिल रही है। यह बात कुछ आश्चर्यजनक भी नहीं है। कोई भी महान कला केवल उस सभ्यता से ही जन्म ले सकती है, जिसमें कि आन्तरिक समतुलन स्थापित हो चुका हो। इस समय भारत पुनर्निर्माण और समन्वय की प्रक्रिया में से गुजर रहा है। जब तक यह समन्वय पूर्ण न हो जाय, तब तक विभिन्न कलाओं के क्षेत्र में होने वाले परीक्षण एक अप्राप्त, और अपूर्ण रूप से अनुभूत आदर्श की टटोल भर रहेंगे, किसी पूर्व निर्धारित लक्ष्य की ओर स्थिर प्रगति का रूप नहीं ले सकेंगे।

अन्य क्षेत्रों की भाँति यहाँ पर भी सफलता का आधार आलोचना की भावना और चरित्र की सम्पूर्णता ही रहेगी। अनेक बार भारत का इतिहास इसलिए दुःखद बना रहा है, क्योंकि यहाँ के लोगों में आलोचनात्मक और जिज्ञासात्मक मन का अभाव था। जो संस्थाएँ आज से दो हजार वर्ष पूर्व उपयोगी थीं, उनका अस्तित्व अब तक भी केवल इसलिए बना रहा, क्योंकि किसी ने उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं उठाया। भारतीय घरों में प्रयुक्त होने वाले बर्तन-भाँडे मोहनजोदड़ो के समय से लगभग अपरि-

वर्तित ही चले आ रहे हैं। हमारी भोजन पकाने की पद्धतियों, मकानों और कपड़ों में उस आविष्कार-बुद्धि के चिह्न बिलकुल दिखाई नहीं देते, जो तीक्ष्ण, सजीव और अनुसन्धानात्मक वृत्ति का सार है।

अभी यह निर्णय करने का अवसर नहीं आया है कि स्वाधीनता की प्राप्ति का हमारे कलाकारों और साहित्यकारों की कृतियों की उत्कृष्टता पर क्या प्रभाव पड़ा है। पर एक बात निश्चित है; स्वाधीनता की प्राप्ति के कारण अनेक पुरानी बाधाएँ हट गयी हैं और प्रसुप्त योग्यताओं की पहले की अपेक्षा अधिक स्वच्छन्द और पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं। दूसरे देशों के अनुभव से यह बात स्पष्ट है कि जब भी कभी पुरानी बाधाएँ हट जाती हैं और मनुष्य की ऊर्जाओं को स्वतन्त्रता मिलती है, तब उसके बाद पुनरुत्थान की एक प्रबल भावना उत्पन्न होती है, जो अनेक प्रकार की सृजनात्मक गतिविधि के रूप में प्रकट होती है। कोई कारण नहीं कि भारत में भी ठीक यही बात क्यों न हो; और जब भारत में ऐसा होगा तो उसके परिणाम बहुत दूरगामी होंगे। अपनी प्राचीन परम्पराओं और अपनी अतीत की संस्कृति के विशाल स्रोतों की सहायता से भारत का ऐसा विकास न केवल भारत की, अपितु सम्पूर्ण मानवता की सांस्कृतिक समृद्धि को बढ़ाने में अत्यधिक सहायक होगा।

अध्याय ८

छात्रों में अनुशासनहीनता

हाल के दिनों में छात्रों की गम्भीर अनुशासनहीनता के कुछ ऐसे उदाहरण सामने आये हैं, जिनकी ओर राष्ट्रीय नेताओं तथा सभी स्तरों के शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। कुछ मामलों में तो बात इतनी दूर तक पहुँची कि विद्यालय में अध्यापकों पर अथवा परीक्षाओं में निरीक्षकों पर आक्रमण किया गया। कुछ अन्य मामलों में छात्रों की पुलिस के साथ, या जनता के कुछ वर्गों के साथ मुठभेड़ हुई। चरम अनुशासनहीनता के इन उदाहरणों के अतिरिक्त नयी पीढ़ी के काफी बड़े वर्ग में व्यापक अशान्ति और विद्रोह की भावना भर गयी है। इसमें से कुछ तो निस्सन्देह सारे विश्व में व्याप्त उस अशान्ति का ही एक अंश है, जो पुराने जीवन-मूल्यों के विनाश और उनके स्थान पर नये जीवन-मूल्यों के तैयार न हो पाने के कारण उत्पन्न हुई है। फिर भी, भारत में कुछ ऐसे विशिष्ट तत्व भी हैं, जिनके कारण देश में विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता और असन्तोष उत्पन्न होता है। जहाँ वर्तमान परिस्थिति उचित रूप से चिन्ता उत्पन्न करने वाली है, वहाँ यह भी सच है कि स्थिति काबू से बाहर नहीं है और प्रभावी उपाय बरतने से विद्यार्थियों और युवा पीढ़ी में फिर सामान्य मनोवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। इसके विपरीत यदि इस समय समुचित उपाय न बरते गये, तो यह समस्या इतनी विकट हो जा सकती है कि यह हमारे राष्ट्रीय जीवन की जड़ों को ही हिला दे।

१

यह स्पष्ट है कि कोई प्रभावी उपाय शुरू करने से पहले हमें परिस्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिये और वर्तमान अशान्ति को उत्पन्न करने वाले कारणों का सुस्पष्ट रूप में पता होना चाहिये। यदि इन सब कारणों का विश्लेषण करने बैठें, तो एक पूरी पोथी तैयार हो जाय। परन्तु कुछ ऐसे महत्व-पूर्ण कारणों का, जिनकी ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना उचित है, यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

(क) अध्यापकों की नेतृत्व शक्ति का ह्रास

छात्रों में वर्तमान अशान्ति की दशा का प्रथम और सर्वप्रमुख कारण अध्यापकों की स्थिति है। जहाँ अध्यापक लोग छात्रों का समुचित नेतृत्व करते हैं, वहाँ छात्रों में अनुशासनहीनता की कोई समस्या उठ ही नहीं सकती। दुर्भाग्य से आजकल अध्यापकों को अपने छात्रों का उतना आदर और प्रेम प्राप्त नहीं है, जितना उन्हें अतीत में प्राप्त था। इसका सारा दोष उनके ही सिर नहीं है। अध्यापकों की नेतृत्व शक्ति का ह्रास जिन कारणों से हुआ है उनमें से कुछ मुख्य कारणों का वर्णन संक्षेप में नीचे दिया जाता है:

(अ) १९२० के बाद राजनीतिक चेतना की वृद्धि होने के साथ-साथ विद्यार्थी लोग भी राजनीतिक संघर्ष में कूद पड़े। इन संघर्षों में उन्होंने निरन्तर या किसी सुसंगत रूप से भाग नहीं लिया, परन्तु राजनीतिक दासता के विरुद्ध विद्रोह की सामान्य भावना और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ने की इच्छा सर्वत्र फैल गयी थी। महात्मा गांधी, श्री चितरंजन दास, पं० जवाहरलाल नेहरू, मौलाना अबुल कलाम आजाद और श्री सुभाषचन्द्र बोस तथा अन्य नेताओं के व्यक्तित्व का भी युवक विद्यार्थियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। अध्यापक लोग अनेक कारणों से राजनीतिक संघर्ष में सक्रिय भाग नहीं ले सके और किसी सीमा तक अपने छात्रों की दृष्टि में प्रतिष्ठा और आदर गँवा बैठे।

(आ) गत ३० वर्षों में वर्तमान शिक्षा प्रणाली की अविराम और अनेक बार तो बड़ी विस्तृत आलोचना होती रही है। आलोचना और निन्दा में केवल एक कदम का ही अन्तर रहता है। इस शिक्षा प्रणाली की निन्दा में शिक्षकों की भी निन्दा की जाती है। इसके कारण अध्यापकों का आत्मविश्वास और

नैतिक बल क्षीण हो गया और जनता के मन में इस पेशे के प्रति अनादर का भाव जाग उठा। इस आलोचना के फलस्वरूप विद्यार्थियों में भी शिक्षा प्रणाली और शिक्षकों के प्रति तिरस्कार की भावना उत्पन्न हो गयी और वे इनसे उतना लाभ भी नहीं उठा सके, जितना कि उठाया जा सकता था।

(इ) इस काल में उपर्युक्त कारणों से तो अध्यापक की प्रतिष्ठा निरन्तर गिरती ही जा रही थी, परन्तु उसकी प्रतिष्ठा के गिरने का सबसे बड़ा कारण यह था कि अध्यापकों की आय बहुत थोड़ी थी। तीस या चालीस वर्ष पहले केवल थोड़े-से ही भारतीयों को ऊँची सरकारी नौकरी पा सकने की आशा रहती थी। उद्योग और वाणिज्य के क्षेत्रों में भी घुस पाने का अवसर बहुत कम था। ज्यों-ज्यों अन्य दिशाओं में लोगों को काम करने के अवसर मिलने लगे, त्यों-त्यों एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती गयी, जिसमें अध्यापन के क्षेत्र में वे ही लोग आने लगे, जो अन्य किसी क्षेत्र में जा पाने में असफल रहते थे।

(ई) युद्धकाल में और युद्धोत्तर मुद्रा प्रस्तार (इनफ्लेशन) के काल में उत्पन्न कठिनाइयों के कारण लोगों में यह सामान्य इच्छा जाग उठी कि अधिकाधिक वेतन वाले पद प्राप्त करने की कोशिश की जाय। अध्यापकों के वेतन पहले ही बहुत असन्तोषजनक थे, अब तो वे जीवन निर्वाह के लिए भी अपर्याप्त हो गये। अध्यापकों को, विशेष रूप से बड़े शहरों में, आय के अन्य सहायक साधन ढूंढने के लिए विवश होना पड़ा। अनेक पुराने अध्यापक इस पेशे को छोड़ने के लिए विवश हो गये और युवक लोग अध्यापक बनने के लिए बिलकुल इच्छुक नहीं थे। इसका परिणाम यह हुआ कि आजकल के अध्यापक न केवल दरिद्र हैं, अपितु प्रायः हताश और कटुता से भरे हुए हैं। इससे समाज में उनका स्थान ही नीचा नहीं होता, अपितु वे समाज के लिए वास्तविक संकट के स्रोत बन गये हैं।

(उ) शिक्षा की सुविधाओं में विस्तार के लिए जो माँग की गयी, वह यद्यपि पूर्णतया उचित थी फिर भी उससे अध्यापक की प्रतिष्ठा दो रूपों में कम हो गयी है। एक ओर तो कम आय और बड़ी संख्या में अध्यापकों की माँग होने के कारण इस पेशे के द्वार उन लोगों के लिए भी खोल दिये गये, जिनमें अध्यापन के लिए आवश्यक योग्यता नहीं थी। दूसरी ओर विद्यार्थियों की संख्या में अनुपात से कहीं अधिक वृद्धि होने का परिणाम यह हुआ कि अध्यापकों और शिष्यों में व्यक्तिगत सम्पर्क बिलकुल समाप्त हो गये। अतीत

काल में इस प्रकार के व्यक्तिगत सम्पर्कों के फलस्वरूप अध्यापक अपनी विद्वत्ता या चरित्र या दोनों के कारण अपने शिष्यों की निष्ठा, और अनेक बार उनका प्रेम तक प्राप्त करने में सफल होते थे। इस नयी परिस्थिति में अयोग्य अध्यापकों के लिए, जिनका अपने छात्रों से निजी सम्पर्क बनाने का अवसर नहीं के बराबर था, किसी भी प्रकार विद्यार्थियों का आदर प्राप्त कर पाना बहुत कठिन हो गया।

(ऊ) विशुद्ध शिक्षा के मामलों पर भी अध्यापक का नियन्त्रण बहुत कम था। विश्वविद्यालय, कालेज और स्कूलों पर प्रायः राजनीतिज्ञों का ही नियन्त्रण रहता है। यहाँ तक कि पाठ्यक्रम और परीक्षाओं का क्षेत्र भी अध्यापक के प्रभाव क्षेत्र से बाहर ही बाहर रहता है। परीक्षाओं पर आवश्यकता से अधिक जोर देने का परिणाम यह हुआ कि अध्यापक लोग छात्रों को केवल परीक्षा के लिए तैयार कराने वाले अभिकर्ता (एजेन्ट) मात्र रह गये हैं।

(ए) अध्यापक के नेतृत्व का ह्रास निरन्तर क्यों होता गया, इसका एक और बड़ा कारण यह है कि उन्होंने पैसे लेकर निजी ट्यूशनें करीब-करीब व्यापारिक स्तर पर करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसे भी अनेक अध्यापक हैं, जो अपने विद्यालय के काम की अपेक्षा निजी ट्यूशनों पर कहीं अधिक समय लगाते हैं और उन पर कहीं अधिक ध्यान देते हैं। ऐसे मामले भी कम नहीं हैं, जिनमें कि अध्यापक अपना निजी काम करने के कारण इतने अधिक थक जाते हैं कि वे विद्यालय में अपने कर्तव्यों को उचित रूप से पूरा नहीं कर पाते। इसके अतिरिक्त किसी विद्यार्थी या विद्यार्थी के संरक्षक से सीधे तौर पर पैसा लेने का परिणाम यह हो जाता है कि अध्यापक और शिष्य में एक ऐसा आर्थिक सम्बन्ध बन जाता है, जिसके कारण अध्यापक अपने छात्र पर अपने अधिकार का प्रयोग नहीं कर पाता और उस पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाता।

(ऐ) उपरिलिखित कारणों से विद्वत्ता तथा अन्य दृष्टियों से भी अध्यापक की उत्कृष्टता का ह्रास होना आवश्यक था। जब एक बार अध्यापकों की उत्कृष्टता घट गयी, तो छात्रों के समक्ष उनकी नेतृत्व शक्ति और भी तेजी से कम होती चली गयी। इस प्रकार एक ऐसा दुश्चक्र-सा बन गया, जिसमें एक ओर तो अध्यापकों की नेतृत्व शक्ति कम होते जाने के कारण योग्य व्यक्ति इस पेशे से दूर ही दूर रहने लगे; और दूसरी ओर, क्योंकि योग्य व्यक्ति इस पेशे

से दूर रहने लगे, इसलिए अध्यापकों की नेतृत्व शक्ति दिनों दिन कम और कम होती चली गयी।

(ख) आर्थिक कठिनाइयों की वृद्धि

अध्यापकों की नेतृत्व शक्ति का ह्रास अपने आप में हर हालत में एक गम्भीर समस्या होती, परन्तु आर्थिक कठिनाइयों की वृद्धि के कारण यह और भी चिन्ताजनक हो उठी। देश के औद्योगिक और वाणिज्य सम्बन्धी विकास तथा काम पाने के लिए ऐसे अनेक नये—जैसे सशस्त्र सेनाएँ या उच्च असैनिक सेवाएँ—क्षेत्र खुल जाने के बाद भी, जो पहले भारतीयों के लिए लगभग बिलकुल बन्द थे, आर्थिक कठिनाई निरन्तर बढ़ती ही गयी है। अंशतः यह सारे संसार में विद्यमान स्थिति का ही एक अंश है। युद्धकाल में सम्पत्ति और उसके स्रोतों का महान् विनाश होने के कारण सभी जगह स्वल्पता की दशाएँ उत्पन्न हो गयी हैं। औद्योगिक तथा आर्थिक दृष्टि से कहीं अधिक विकसित देश भी इस विपत्ति में फँसे हुए हैं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं कि भारत को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़े। जनसंख्या में वृद्धि होने के अतिरिक्त परिस्थिति इस कारण और भी अधिक विषम हो गयी है, क्योंकि लोग अब उन दीन-हीन दशाओं में रहने के लिए तैयार नहीं हैं, जिनमें वे पहले विवश होकर रहते थे। इस स्थिति का छात्र वर्ग पर भी अनेक रूपों में प्रभाव पड़ा है, जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण रूप निम्नलिखित हैं :

(अ) छात्रों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है, और बहुत-से छात्र उस सामाजिक स्तर से आये हैं, जो उनकी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रबन्ध नहीं कर सकता। अतीत में छात्रों की संख्या बहुत थोड़ी होती थी और वे सामान्यतया अपेक्षाकृत सम्पन्न वर्गों में से आते थे। इसलिए उस समय उन्हें कम से कम अपने छात्र-जीवन में किन्हीं बड़ी आर्थिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता था। अब क्योंकि छात्रों की संख्या बढ़ गयी है और वे समाज के सभी वर्गों में से आने लगे हैं, इसलिए वे अपने छात्र जीवन में भी आर्थिक संघर्ष के बोझ को अनुभव करने लगे हैं। अनेक मामलों में तो छात्रों को अपने विद्यालय और कालेज के अध्ययन काल में भी अपना निर्वाह पूर्णतया अथवा आंशिक रूप से अपने परिश्रम द्वारा ही करना पड़ता है।

(आ) विद्यार्थी जीवन में छात्रों को जिन आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, वे चाहे कितनी ही बड़ी क्यों न हों, किन्तु विद्यार्थी जीवन को समाप्त करने के बाद जो भविष्य उनमें से अधिकांश के सम्मुख होता है, वह और भी अधिक भयावह होता है। माध्यमिक विद्यालयों या कालेजों में पढ़ने वाले अधिकांश विद्यार्थियों के सामने अपने भविष्य की कोई निश्चित योजना नहीं होती और न उन्हें यही मालूम होता है कि पढ़ाई समाप्त करने के बाद वे क्या करेंगे। उनकी शिक्षा अधिकांशतः निरुद्देश्य होती है; और यह निरुद्देश्य इसलिए होती है, क्योंकि इस शिक्षा को पाकर वे किसी लाभदायक कार्य में नहीं लग सकते। विद्यालयों से बड़ी संख्या में विद्यार्थी कालेजों और विश्वविद्यालयों में केवल इसलिए आ जाते हैं, क्योंकि उन्हें इसके अतिरिक्त और कुछ करने को सूझ ही नहीं पड़ता। परिणाम यह होता है कि तरुण छात्र और छात्राओं का एक काफी बड़ा भाग विश्वविद्यालयों में इसलिए नहीं पहुँचता, कि उनमें उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने की कोई विशेष योग्यता है, या इसमें उन्हें कोई रुचि है, अपितु केवल इसलिए पहुँचता है, क्योंकि जब तक उन्हें कोई काम न मिले, तब तक समय कैसे बिताया जाय, इसका कोई अन्य उपाय उन्हें मालूम नहीं होता। कई बार तो यहाँ तक होता है कि वे लोग किसी काम की भी तलाश नहीं कर रहे होते, अपितु एक ऐसी अस्पष्ट-सी आशा में जी रहे होते हैं कि कुछ न कुछ काम बन ही जायगा। यह दशा इस कारण और भी दयनीय हो जाती है कि उच्चतर शिक्षा की संस्थाओं में प्रवेश पाने के बाद ये छात्र भविष्य के लिए बड़ी ऊँची-ऊँची आशाएँ बाँध बैठते हैं। विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने के बाद ये छात्र उन कामों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते, जिन्हें विद्यालय की शिक्षा पाने के बाद वे बड़े सन्तोष के साथ स्वीकार कर लेते। वर्तमान शिक्षा प्रणाली की निरन्तर और व्यापक आलोचना को सुन-सुनकर उसके प्रति उनके मन में जो अनादर पैदा हो जाता है, उसके साथ यह उद्देश्यहीनता, तथा आशाओं और अपने सामर्थ्य के बीच की खाई के कारण तरुण पीढ़ी के मन में एक निराशा की भावना उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण यह खतरा उत्पन्न हो जाता है कि उनका चरित्र जर्जर हो जायगा और समाज का आधार ही नष्ट हो जायगा।

(इ) आर्थिक संघर्ष की कठोरता इस प्रकार वित्तीय अनिश्चितता की स्थायी

भावना के फलस्वरूप और भी उग्र हो जाती है। अपने विद्यार्थी जीवन में छात्र लोग जिस प्रकार की जीविका उपार्जित कर पाते हैं, वह बहुत ही अपर्याप्त और अनिश्चित होती है। अध्ययन काल के पश्चात् उनका भविष्य बड़ा अन्धकारमय और निरानन्द होता है। इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाला मानसिक तनाव उन दीन-हीन परिस्थितियों के कारण और भी अधिक बढ़ जाता है, जिनमें कि अधिकांश छात्र रहते हैं। विद्यालयों और कालेजों के बोर्डिंग हाउस सामान्यतया छात्रों के लिए न्यूनतम सुविधाओं की व्यवस्था कर देते हैं, परन्तु बहुत-से निजी मेसों में तो जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो पातीं। इस प्रकार की अप्रिय और घुटी हुई परिस्थितियों में जीवन बिताते हुए अनेक छात्रों के मन में कटुता और रोष की भावना उत्पन्न हो जाती है, जो इस युग की समानतावादी प्रवृत्ति के कारण और भी प्रबल हो उठती है। जब वे छात्र अपनी दशा की तुलना समाज के उस छोटे-से वर्ग के साथ करते हैं, जो आर्थिक दृष्टि से भली दशा में होता है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उनमें से अनेक के अन्दर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की भावना जाग उठती है।

(ग) वर्तमान प्रणाली की त्रुटियाँ

जहाँ एक ओर हमें वर्तमान शिक्षा प्रणाली की समूचे रूप में निन्दा करने के प्रलोभन का संवरण करना चाहिये, वहाँ दूसरी ओर हमें इस शिक्षा प्रणाली की दुर्बलताओं को खोजने और उन्हें सुधारने के लिए प्रभावी उपाय बरतने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। ऐसी कोई शिक्षा प्रणाली नहीं है, जिसमें त्रुटियाँ न हों। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं, कि जब जिन दोषों का पता चल जाय, उनको तुरन्त दूर न किया जाय। हमारी वर्तमान प्रणाली में कई बातें ऐसी हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थी समाज के कुसाम्यस्थापना (कुसमंजन) की कारण हैं और उनके कारण एक बड़े वर्ग में असन्तोष और निराशा की भावना उत्पन्न हो जाती है। इनमें से कुछ ऐसी बातों का उल्लेख यहाँ किया जाता है, जिनकी ओर तत्काल ध्यान देने की आवश्यकता है :

(अ) वर्तमान शिक्षा प्रणाली बहुत अधिक साहित्यिक और शास्त्रीय है। यह शिक्षा प्रणाली उस वर्ग के लिए तो उपयुक्त हो सकती है, जो उच्चतर शिक्षा

प्राप्त करना चाहता है, परन्तु इसमें उन बालकों और किशोरों के लिए, जिनकी रुचियाँ और अभियोग्यताएँ ललित कलाओं, प्राविधिक (शिल्प सम्बन्धी) या अन्य व्यावहारिक प्रशिक्षण की ओर झुकी हुई हैं, पर्याप्त अवकाश नहीं है। जहाँ यह कहना अन्यायपूर्ण होगा कि आजकल की शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य केवल लिपिक तैयार करना है, वहाँ हमें यह भी स्वीकार करना ही होगा कि इस शिक्षा के फलस्वरूप लोगों का झुकाव स्वच्छवस्त्रीय व्यवसायों की ओर हो जाता है; और इस शिक्षा को प्राप्त करने वाले लोगों में से अनेक केवल इस प्रकार के कामों के अतिरिक्त और किसी काम के उपयुक्त नहीं होते। इस शिक्षा प्रणाली में ज्ञानेन्द्रियों और शारीरिक क्षमताओं के विकास की उपेक्षा की जाती है। यह शिक्षा प्रणाली शिक्षित लोगों में शारीरिक श्रम के प्रति अरुचि उत्पन्न कर देती है, क्योंकि ये शिक्षित लोग हाथ की मामूली कारीगरियों से भी अनभिज्ञ होते हैं। इस शिक्षा प्रणाली में छात्रों के चरित्र के विकास और उनमें नैतिक मूल्यों की भावना उत्पन्न करने की ओर ध्यान नहीं दिया जाता और यह प्रणाली इस सम्बन्ध में अधिकांशतः उदासीन रहती है।

(आ) विशुद्ध ज्ञान के दृष्टिकोण से भी यह शिक्षा प्रणाली पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं। पाठ्यक्रम प्रायः बहुत अच्छे होते हैं; और यदि उनको ठीक-ठीक ढंग से पढ़ाया जाय तो उनके द्वारा छात्रों में स्वतन्त्र विचार और सन्तुलित निर्णय करने की शक्ति विकसित हो सकती है; परन्तु वस्तुतः छात्रों में जिस वस्तु का विकास होता है, वह है बिना समझे-बूझे अपने मस्तिष्क में जानकारी को ठूँस लेने की प्रवृत्ति। इस प्रवृत्ति का एक मुख्य कारण यह है कि अन्तिम परीक्षा का तरीका ठीक नहीं है और अन्तिम परीक्षा पर अनुचित रूप से अधिक जोर दिया जाता है। विद्यार्थियों की परख अन्तिम परीक्षा द्वारा की जाती है, जो वस्तुतः किसी विषय को समझने की अथवा निर्णय करने की परख न होकर स्मृति शक्ति की जाँच भर होती है। इसका परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी अपने सारे शिक्षा-वर्ष में तो अपने कार्य की उपेक्षा करते रहते हैं, और अन्तिम कुछ सप्ताहों में रट-रटा कर अपने दिमाग में इतनी जानकारी ठूँस लेना चाहते हैं कि जिससे वे जैसे-तैसे अन्तिम परीक्षा में पास हो जायँ। इसके अनेक अवांछनीय परिणाम होते हैं। क्योंकि वर्ष के अधिकांश भाग में छात्रों की ऊर्जाएँ पूरी तरह कार्यरत नहीं रहतीं, इसलिए वे अनेक गतिविधियों

के रूप में बाहर निकलने के मार्ग ढूँढती रहती हैं, जिनमें से अनेक निश्चित रूप से समाजविरोधी होती हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली से बीच-बीच में रुक-रुककर काम करने की आदत पड़ जाती है, जिसके फलस्वरूप बहुत-से विद्यार्थी लम्बे समय तक निरन्तर कठिन परिश्रम करने में असमर्थ हो जाते हैं। इससे भी बुरी बात यह है कि अन्तिम परीक्षा पर अनुचित जोर देने का यह परिणाम हो सकता है, और बहुत बार होता है, कि विद्यार्थी आसानी से सफलता प्राप्त करने के लिए अनुचित उपायों का अवलम्बन करने लगते हैं।

(इ) अन्तिम परीक्षा पर अनुचित बल देने के कारण जो बुराई उत्पन्न हुई है, वह इस कारण और भी उग्र हो उठी है कि चाहे सरकार में हो अथवा निजी कार्यालयों या व्यवसाय संस्थाओं में, केवल बहुत निचले स्तर को छोड़कर, नौकरी पाने के लिए विश्वविद्यालय की उपाधि होने की शर्त आवश्यक समझी जाती है। जिन छात्रों ने सारे साल कुछ भी काम नहीं किया होता, वे अपना सारा विश्वास अन्तिम परीक्षा पर केन्द्रित किये रहते हैं और इसमें सफलता प्राप्त करने लिए अनेक अवांछनीय उपायों का अवलम्बन करते हैं। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय की उपाधि के लिए इतना आग्रह होने के कारण यदि हजारों नहीं, तो सैकड़ों ऐसे छात्र विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट होते हैं, जिनमें न तो उच्च-तर शिक्षा प्राप्त करने की क्षमता ही होती है, न रुचि ही। अनेक बार तो इस प्रकार के छात्र विश्वविद्यालय की कक्षाओं में पढ़ाये जाने वाले विषयों को समझ पाने में बिलकुल ही असमर्थ होते हैं। कक्षाओं में बड़ी संख्या में ऐसे विद्यार्थियों की उपस्थिति, जो विषय को समझ पाने में असमर्थ हों, या उस विषय में रुचि ही न रखते हों, या अक्षम और रुचिहीन दोनों ही हों, न केवल शिक्षा के प्रमाप को नीचे गिरा देती है और योग्य विद्यार्थियों की प्रगति में बाधा डालती है, अपितु विश्वविद्यालय के अधिकारियों के लिए नयी समस्याएं भी खड़ी कर देती है। जब तक विद्यार्थियों को किसी विषय में रुचि रहती है, तब तक कक्षा में अनुशासन की कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। जिन विद्यार्थियों को कक्षा में दिये जा रहे भाषणों में न तो रुचि होती है और न उन्हें समझ पाने की योग्यता ही होती है, वे आपस में गपशप करने लगते हैं या अन्य किसी तरह कक्षा में गड़-बड़ी मचाते हैं। फिर यह अव्यवस्था केवल अध्यापन कक्ष तक ही सीमित नहीं रहती। जब एक बार उनको अध्यापन कक्ष में नियम भंग करने की आदत पड़

जाती है, तो वे कक्षा के बाहर भी नियमों का उल्लंघन शुरू कर देते हैं।

(ई) वर्तमान शिक्षा प्रणाली का प्राधिकारात्मक ढंग भी विद्यार्थियों में अशान्ति और अनुशासनहीनता की वृद्धि का एक बड़ा कारण है। यह हमारे समाज की इस प्राधिकारात्मक प्रवृत्ति का ही एक प्रतिबिम्ब है कि हमारे यहाँ अपने से बड़े किसी व्यक्ति से मतभेद होने का अर्थ प्रायः यह समझा जाता है कि उस बड़े व्यक्ति का अनादर किया जा रहा है। वर्तमान पाठ्यक्रमों में अथवा सहपाठ्यक्रम गतिविधियों में भी विद्यार्थियों को स्वतन्त्रता या पहल करने का अवकाश बहुत कम रहता है और सामान्यतया वे ऊपर से मिलने वाले आदेशों को निष्क्रिय भाव से स्वीकार कर लेते हैं। विद्यालय एक प्रजातन्त्रात्मक समाज न होकर प्रायः बड़े कठोर रूप में विभिन्न स्तरों में बँटा हुआ समाज होता है, जिसमें प्रत्येक स्तर पर अधिकारी लोग यह चाहते हैं कि उनके नीचे के लोग बिना प्रश्नोत्तर किये चुपचाप आज्ञा पालन करते चले जायँ। जब तक इस शिक्षा प्रणाली से भविष्य में नौकरी मिलने की गारन्टी न भी सही, कम से कम आशा बँधी रही, तब तक तो छात्रों और छात्रों के माता-पिताओं की दृष्टि में इस प्राधिकारात्मक संरचना (स्ट्रक्चर) का कुछ न कुछ औचित्य समझा जाता रहा, और सामान्यतया इस पर कोई ऐतराज नहीं किया गया। परन्तु आजकल शिक्षित लोगों में बेकारी बढ़ने के साथ-साथ यह अनिवार्य है कि अतीत की इस प्रतिरोधहीन आज्ञाकारिता के विरुद्ध प्रतिक्रिया हो। विद्यार्थियों तथा अन्य युवकों के मामले में यह विद्रोह की भावना और भी अधिक उग्र इसलिए हो गयी, क्योंकि स्वाधीनता संग्राम के कारण एक आज्ञा-भंग का वातावरण बन गया था। सविनय आज्ञा-भंग आन्दोलन में लोगों से यह आग्रह किया गया था कि वे अन्यायपूर्ण कानूनों का पालन करने से इन्कार कर दें और उनका उल्लंघन करें। परन्तु अनेक बार न्यायपूर्ण कानून और अन्यायपूर्ण कानून के बीच अन्तर की रेखा खींच पाना कठिन हो जाता है। अनेक मामलों में ऐसा हुआ कि जब विद्यार्थियों को एक बार कुछ कानूनों को तोड़ने की आदत पड़ गयी, तो उनके मन में सभी कानूनों के प्रति अवहेलना की भावना उत्पन्न हो गयी। आजकल छात्रों में जो अनुशासनहीनता दीखती है, वह बहुत कुछ उनके द्वारा राष्ट्रीय संग्राम में लिये गये भाग का ही अवशेष है।

(घ) आदर्शवाद का सामान्य ह्रास

दरिद्रता का निरन्तर दबाव पड़ते रहने से मनुष्य की अनेक उत्तम भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं। इस समय वर्तमान आर्थिक कठिनाई के दोषजनक परिणाम इसलिए और भी उग्र हो गये हैं, क्योंकि अनेक कारणों से आदर्शवाद का सामान्यतया ह्रास हो गया है। पिछली दो या तीन दशाब्दियों में संसार के घटना चक्र ने सिड़ीपन, लोभ और विद्रोहात्मकता की भावनाओं को बढ़ाया है। इसके कुछ मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :

(अ) गत दो विश्वयुद्धों ने सारे संसार में एक सामान्य नैतिक पतन की प्रक्रिया शुरू कर दी है। इन युद्धों में सबसे पहली हत्या सत्य की हुई। जनता के अधिकांश वर्गों का धर्म द्वेष और शत्रुता ही बन गयी। युद्धकाल में वह वर्ग खूब धनी हो गया, जिसने कि सब प्रकार की अनुचित पद्धतियों का सहारा लिया। ईमानदार व्यक्ति कष्ट सह रहे थे और इनकी तुलना में मुनाफाखोर खूब समृद्ध हो रहे थे; इसलिए समाज के सामान्य नैतिक स्तर में गिरावट आ गयी। इस नैतिकता के ह्रास का, सब ओर फैली हुई चोर बाजारी, रिश्वत और अनाचार का प्रभाव युवक लोगों पर भी पड़ना अनिवार्य था।

(आ) समाज के प्रमापों में सामान्य गिरावट के अतिरिक्त युद्ध के कारण विद्यार्थी वर्ग के एक बड़े भाग के सम्मुख कोई गम्भीर लक्ष्य नहीं रहा। युद्ध काल में कुछ विशेष प्रकार के व्यवसायों और उद्योगों में अत्यधिक वृद्धि हुई। सरकारी गतिविधियों का विस्तार भी बहुत बड़े पैमाने पर हुआ। कम योग्यता वाले या बिलकुल अयोग्य युवकों को भी इन दशाओं में काफी बड़ी संख्या में आसानी से काम मिल गया। अनेक बार तो योग्य व्यक्तियों की अपेक्षा उचित-अनुचित का विवेक न करने वाले लोग ही अधिक फलते-फूलते थे। ऐसी दशा में आमतौर से लोगों की यह धारणा बन गयी कि जीवन में सफलता पाने के लिए न तो चरित्र की ही आवश्यकता है, न योग्यता की और न कठोर परिश्रम करने की। ऐसी दशा में इसमें क्या आश्चर्य है कि विद्यार्थियों का नैतिक स्तर युद्धकाल और उसके बाद के वर्षों में बहुत गिर गया, और विद्वत्ता तथा अध्ययन के प्रमापों में भी काफी गिरावट आ गयी !

(इ) भौतिकवादी विचारधारा के प्रसार के कारण भी जीवन के मूल्यों को समझने में काफी कमी आ गयी है; क्योंकि इस विचारधारा के अनुसार यदि लक्ष्य अच्छा हो, तो उसके लिए उचित-अनुचित सब साधनों का प्रयोग क्षम्य समझा जाता है। सामाजिक न्याय के लिए साम्यवादी माँग का सभी लोगों पर और विशेष रूप से युवक लोगों पर, तुरन्त प्रभाव पड़ा, क्योंकि इससे उन्हें एक न्यायोचित सामाजिक व्यवस्था की सम्भावना दीख पड़ी। साम्यवाद में विद्यमान आदर्शवाद का यह तत्व अब तक स्वीकृत जीवनमूल्यों के प्रति उदासीनता के कारण और भी अधिक भयावह हो उठा है। आर्थिक कठिनाइयों, बेकारी और मिथ्या आशाओं के भंग हो जाने के कारण तरुण विद्यार्थी नैतिक आदर्शों के ह्रास अथवा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता छिन जाने के भय से भी भयभीत नहीं होते, क्योंकि वे समझते हैं कि जीवन में न्यूनतम सुरक्षा प्राप्त करने के लिए कम से कम इतनी कीमत तो चुकानी ही होगी।

(ई) हमने ऊपर इस बात का उल्लेख किया है कि वर्तमान पीढ़ी के विद्यार्थी एक आर्थिक असुरक्षा की भावना से ग्रस्त रहते हैं। उनके सामाजिक बन्धनों अथवा सम्बन्धों की समाप्ति का प्रभाव और भी अधिक गहरा और दूरगामी हुआ है। पुरानी संस्थाएँ और विश्वास नष्ट हो गये हैं, जिसका फल यह हुआ है कि आजकल के युवकों के पास उस दृढ़ आधार का अभाव है कि जिसके ऊपर वे अपने जीवन के भवन का निर्माण कर सकें। किसी समय संयुक्त परिवार एक ऐसा अधिकार क्षेत्र था, जिसके अन्दर व्यक्ति बड़ी सरलता से काम कर सकता था। इस समय न केवल संयुक्त परिवार प्रथा छिन्न-भिन्न हो गयी है, अपितु सभी पारिवारिक बन्धन बहुत अधिक शिथिल हो गये हैं। इस प्रकार बालक को सामाजिक बनाने वाली एक सब से प्रबल शक्ति कमजोर पड़ गयी है और उसका स्थान किसी अन्य शक्ति ने नहीं लिया है। इस दशा में बालक को अधिकाधिक अपने ही सहारे रहना पड़ता है और वह यह अनुभव करता है कि न तो कोई उसकी देख-रेख करता है और न रक्षा करता है। विद्यार्थियों में विद्यमान अशान्ति और अनुशासनहीनता बहुत कुछ उनकी इस अनुभूति के कारण है कि वे किसी के अपने नहीं हैं।

(उ) परिस्थिति के इस प्रकार और अधिक बिगड़ने का एक कारण हमारे राष्ट्रीय संग्राम की सफलता के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ है। २५ या ३० वर्ष

पहले इस संग्राम के नायकों की प्रशंसा लोग इसलिए करते थे, क्योंकि उन्होंने किसी अच्छे उद्देश्य के लिए कष्ट उठाये थे। उस समय विद्यार्थी एक आदर्शवाद के वातावरण में पलते थे, जिसमें कांग्रेस और राष्ट्रीय नेता उन्हें कष्ट सहन करने और बलिदान करने के लिए चुनौती देते थे। स्वाधीनता प्राप्ति के साथ संघर्ष का वह दौर समाप्त हो गया है और उस समय जो लोग संघर्ष के नेता थे, वे अब सरकार के नेता हैं। ऐसा होना अनिवार्य ही है; परन्तु दुर्भाग्य से इसके कारण युवकों में एक सिड़ीपन की भावना उत्पन्न हो गयी है, और वह भी विशेष रूप से उन युवकों में, जिन्हें हमारे राष्ट्रीय नेताओं द्वारा उठाये गये कष्टों का व्यक्तिगत रूप से स्मरण नहीं है और वे केवल उन्हें अधिकार और प्रतिष्ठा के पद पर बैठे हुए देखते हैं।

(ऊ) अध्यापकों की समाज में बहुत कम प्रतिष्ठा होने का परिणाम भी यह हुआ है कि विद्यार्थियों में आदर्शवाद का ह्रास हो गया है। वस्तुतः इसके कारण जीवन-मूल्यों के प्रति उनकी भावना बिलकुल बचपन से ही कुम्हला जाती है। बालक अपनी पुस्तकों में पढ़ते हैं कि अध्यापकों का सम्मान किया जाना चाहिये; और वास्तविक जीवन में अध्यापकों की सम्मानहीन स्थिति से उसकी तुलना करते हैं। इसके कारण उनके मन में एक ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण वे सिद्धान्त और व्यवहार में स्पष्ट दीखते हुए विभेद को भी बिलकुल स्वाभाविक समझने लगते हैं। इस प्रकार वे यह विश्वास कर बैठते हैं कि जो कुछ पुस्तकों में पढ़ाया जाता है, उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्लेटो ने 'आत्मा में विद्यमान असत्य' को व्यक्ति का सबसे बड़ा दुर्भाग्य बताया है। हमारे सम्मुख आज एक ऐसा समाज विद्यमान है, जो अध्यापक के प्रति सम्मान प्रकट न करके अपनी सारी की सारी नयी पीढ़ी की आत्मा में असत्य की प्रवृत्ति को बढ़ा रहा है।

(ए) उपर्युक्त कारणों से युवकों की मनोवृत्ति ऐसी हो गयी है कि वे जीवन में एकमात्र सफलता को ही मूल्यवान समझते हैं। सफलता की व्याख्या भी वे बड़े संकीर्ण रूप में, और मुख्य रूप से सांसारिक सुविधाओं को प्राप्त करने के अर्थ में करते हैं। जिस सफलता में किसी महान लक्ष्य के लिए—जैसे कला का सृजन अथवा विज्ञान का अनुसन्धान—दीर्घ काल तक प्रयत्न और परिश्रम करने की आवश्यकता हो, आजकल उसका आदर उस भौतिक

सफलता की अपेक्षा बहुत कम है, जो धन की प्राप्ति के रूप में स्पष्ट दिखाई देती है।

२

अब क्योंकि हमने भारत में विद्यार्थियों में विद्यमान अशान्ति और अनुशासन-हीनता के कुछ प्रमुख कारणों को देख लिया है, इसलिए हम उन कारणों को दूर करने के उपायों पर विचार प्रारम्भ कर सकते हैं। इन सब कारणों को एक-दम समाप्त नहीं किया जा सकता। यह रोग बहुत लम्बे समय में धीरे-धीरे बढ़-कर इस दशा तक पहुँचा है, इसलिए इसकी चिकित्सा भी धीरे ही धीरे काफी लम्बी अवधि में हो सकेगी। इस सम्बन्ध में भी मतभेद हो सकता है कि चिकित्सा के उपायों में किन बातों को अधिक अग्रता दी जाय। परन्तु मेरे विचार से हमें अध्यापकों के नेतृत्व के ह्रास की समस्या को सुलझाने से इस इलाज का प्रारम्भ करना चाहिये। यह समस्या पूर्णरूप से शिक्षा की ही समस्या है, जबकि दूसरे प्रमुख कारणों को हटाने के लिए अनेक स्तरों पर कार्रवाई करनी आवश्यक होगी। यदि किसी प्रकार अध्यापक के नेतृत्व को फिर स्थापित किया जा सके, तो दूसरी बहुत-सी समस्याओं का समाधान अपने आप हो जायगा। एक सम्मानित और सक्षम अध्यापक विद्यार्थियों में विद्यमान अनैतिकता और सिड़ी-पन की रोक-थाम में काफी सहायता कर सकता है। यदि विद्यार्थियों में फिर से नैतिक बल आ जाय, तो उसका प्रभाव अवश्य ही समाज के सभी स्तरों पर पड़ेगा।

(क) अध्यापकों के समाप्त हो चुके नेतृत्व को फिर से स्थापित करने के उपाय

इसलिए हमारा पहला उपाय ऐसा होना चाहिये, जिसका लक्ष्य विभिन्न स्तरों पर अध्यापक के नेतृत्व को फिर से स्थापित करना हो। यह ठीक है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में निरन्तर सुधार की आवश्यकता को स्वीकार किया जाय, किन्तु इसकी व्यापक रूप में निन्दा बन्द होनी चाहिये। जैसा पहले कहा जा चुका है, इस प्रकार की सामान्य निन्दा से इसके अतिरिक्त और कोई परि-णाम उत्पन्न नहीं होता कि अध्यापकों का नैतिक बल समाप्त हो जाय और

विद्यार्थियों में एक निराशा की भावना छा जाय। शिक्षणात्मक सुधारों के लिए उपाय अवश्य बरते जाने चाहियें और इसमें कभी ढील नहीं दी जानी चाहिये, परन्तु इसके लिए वर्तमान शिक्षा प्रणाली की त्रुटियों का अतिरंजन नहीं किया जाना चाहिये। हमें यह भी देखना होगा कि नये और पुराने अध्यापकों में कोई बड़ा स्पष्ट भेद-भाव उत्पन्न न हो जाय। नये अध्यापकों को अपने कार्य में विश्वास और उत्साह अवश्य होना चाहिये, किन्तु वह विश्वास और उत्साह इस रूप में प्रकट नहीं होना चाहिये कि वे अपने आपको पुराने अध्यापकों से इस ढंग से बड़ा समझने लगें कि उससे पुराने अध्यापकों की भावनाओं को ठेस पहुँचे। और न उन्हें ऐसा समझना चाहिये कि पुराने अध्यापक तो शिक्षा क्षेत्र के ऐसे अस्पृश्य लोग हैं, जिनका सुधार ही नहीं किया जा सकता।

इस सम्बन्ध में पहला उपाय तो यह होना चाहिये कि अध्यापन के पेशे में जो लोग नये भरती किये जायँ, उनकी योग्यता पहले की अपेक्षा अधिक रखी जाय। अध्यापकों और छात्रों की संख्या में भी कोई अनुपात निश्चित किया जाना चाहिये। जब तक इस पेशे में और अधिक योग्य व्यक्ति न आयें, तब तक कोई वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि सर्वोत्तम लोग भी तब तक पूरी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक कि अध्यापकों और छात्रों की संख्या में वर्तमान विषमता बनी रहेगी। अध्यापकों की संख्या में न केवल इसलिए वृद्धि होनी चाहिये कि इससे अध्यापकों की योग्यता में सुधार होगा, अपितु इसलिए भी होनी चाहिये कि इसका सारे देश पर बहुत गहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ेगा। राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली में केवल प्राथमिक स्तर पर ही लगभग २७ लाख अध्यापकों की आवश्यकता होगी। इस समय प्राथमिक विद्यालयों में अध्यापकों की संख्या ६ लाख से कुछ ही अधिक है। इस प्रकार यदि शिक्षा का आवश्यक विस्तार किया जा सके, तो कम से कम २० लाख अध्यापक शिक्षा प्रणाली में खपाये जा सकते हैं। इसके परिणाम स्वरूप माध्यमिक और उच्च स्तर की शिक्षा संस्थाओं में भी इसी अनुपात में वृद्धि होगी। इस समय युवकों में पाई जाने वाली निराशा का एक मुख्य कारण शिक्षित लोगों की बेकारी है। यदि सब स्तरों पर कुल मिला कर केवल ४ लाख अध्यापक भी और नियुक्त किये जा सकें, तो शिक्षित लोगों की बेकारी पूरी तरह समाप्त हो जायगी। इससे युवकों में आशा और

प्रगति की भावना भर उठेगी और देश की मनोदशा में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जायगा।

आर्थिक उपायों का अवलम्बन तो करना आवश्यक ही है, परन्तु केवल आर्थिक उपाय अध्यापकों की उत्कृष्टता को बढ़ाने और समाज में उनकी प्रतिष्ठा की वृद्धि करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। कुछ लोग ऐसे हैं, जो सारा जोर अध्यापकों के वेतन क्रम को सुधारने पर देते हैं, किन्तु कुछ अन्य विचारकों का विचार है कि यह समस्या अध्यापकों की अपने पेशे की क्षमता में सुधार करने से ही हल होगी। कुछ अन्य तीसरे प्रकार के विचारकों का कथन है कि अध्यापकों के सम्मुख आदर्शों की दुहाई देना ही पर्याप्त होगा। परन्तु वस्तुतः इन तीनों बातों के सम्मिश्रण से ही अभीष्ट परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं। विश्वविद्यालय के स्तर के लिए निम्नलिखित उपायों का सुझाव प्रस्तुत किया जाता है :

(अ) अध्यापन के पेशे की ओर योग्य व्यक्तियों के आकृष्ट न होने के कारणों में से दो का विशेष उल्लेख करना आवश्यक है। एक ओर तो विश्वविद्यालयों में भावना बड़ी दूषित हो गयी है, और उनमें समुचित अध्ययनात्मक वातावरण का अभाव है। दूसरी ओर पर्याप्त योग्यता वाले व्यक्तियों को सभी शिक्षण संस्थाओं में जो वेतन मिलता है, वह बहुत थोड़ा होता है और लगभग अन्य सभी पेशों में प्राप्त होने वाले वेतनों की तुलना में बहुत कम होता है।

विश्वविद्यालयों में फिर से अध्ययन-अध्यापन का वातावरण उत्पन्न करने के लिए राजनीतिक पार्टियों और दलबन्दियों को समाप्त करके कुछ कदम उठाये जाने चाहिये। विश्वविद्यालय के उपकुलपति तथा अन्य अधिकारियों की नियुक्ति किसी दल विशेष का ध्यान रखकर नहीं की जानी चाहिये, अपितु केवल विद्या सम्बन्धी योग्यता के आधार पर की जानी चाहिये। उपकुलपति के चुनाव तथा विश्वविद्यालयों के सिन्डीकेटों और सीनेटों के पुनर्गठन के सम्बन्ध में राधाकृष्णन-आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लेने से ये दोष काफी सीमा तक दूर हो सकते हैं। इन सिफारिशों को क्रियान्वित करने के लिए अनेक विश्वविद्यालय अधिनियमों में संशोधन करने की तो आवश्यकता होगी, किन्तु वित्तीय अड़चन शायद ही कोई पड़े।

इसके साथ ही वेतन क्रम भी बढ़ाये जाने चाहियें और विशेष रूप से

प्रारम्भिक दशाओं में। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि हमारे साहित्य तथा विज्ञान और प्रविधि के क्षेत्रों में सर्वोत्तम नर-नारियों का एक काफी बड़ा भाग विश्वविद्यालयों में ही रखा जा सके। यदि विश्वविद्यालय उतना प्रारम्भिक वेतन दे सकें, जितना कि युवकों को सरकारी नौकरी, वाणिज्य और उद्योगों में मिलने की आशा होती है, तो अनेक सर्वोत्तम नवयुवक अवश्य ही अध्यापन के पेशे की ओर आकृष्ट हो सकेंगे। जब वे एक बार अध्यापन के पेशे में आ जायेंगे और उन्हें अपने विशिष्ट क्षेत्रों में रुचि उत्पन्न हो जायगी, तो सरकारी नौकरी, वाणिज्य और उद्योगों के क्षेत्र में सफल व्यक्तियों को होने वाले अपेक्षाकृत अधिक लाभ का आकर्षण भी उनको बहुत नहीं रहेगा। उस दशा में केवल थोड़े-से ही लोग अध्यापन के पेशे को बीच में से छोड़कर जायेंगे और ये लोग वे होंगे, जिनमें अध्यापन के पेशे के प्रति अनुराग नहीं होगा। विश्वविद्यालयों में कार्य और नौकरी की शर्तें अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा इतनी अधिक सुखद हैं कि यदि जीवन की बड़ी-बड़ी आवश्यकताएँ पूरी होती रहें, तो जीवन के अन्य क्षेत्रों में अधिक वेतन का आकर्षण भी बहुत लोगों को लुभा नहीं सकता। इंग्लैंड के विश्वविद्यालयों में प्राप्त अनुभव के आधार पर इस प्रकार की आशा उचित ही प्रतीत होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत में भी अनेक योग्यतम विद्यार्थियों को अध्यापन के पेशे की ओर आकर्षित किया जा सकता है और उन्हें वहीं रोका जा सकता है, यदि उनका प्रारम्भिक वेतन प्रशासन सेवाओं की अपेक्षा अधिक या कम से कम उनके बराबर हो।

(आ) वेतनों के सुधार के लिए इन सामान्य उपायों के अतिरिक्त विशेष असाधारण योग्यता वाले नर-नारियों के लिए कुछ विशेष उपाय भी बरते जाने चाहियें। एक सुझाव यह है कि देश में राष्ट्रीय प्राध्यापक-वृत्तियों (नेशनल प्रोफेसरशिप) की प्रणाली प्रारम्भ की जाय। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रोफेसरों का न केवल वेतन अधिक होगा, अपितु इस प्रकार के पद को प्राप्त करना अपने आप में एक उच्च सफलता का चिह्न समझा जायगा। किसी भी विश्वविद्यालय को इस प्रकार की नियुक्तियों का कोई नियत कोटा प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि तब तक कोई भी पुरुष या स्त्री राष्ट्रीय प्रोफेसर नियुक्त नहीं हो सकेगी, जब तक कि उसे किसी भी क्षेत्र में एक अधिकारी व्यक्ति स्वीकार न कर लिया जाय। राष्ट्रीय चुनाव समिति की सिफारिश पर किसी भी विषय में राष्ट्रीय

प्रोफेसर की नियुक्ति की जा सकती है। एक बार नियुक्ति हो जाने के बाद राष्ट्रीय प्रोफेसर की नियुक्ति उसके सारे जीवन काल के लिए होगी और वह भारत के किसी भी विश्वविद्यालय में अध्यापन का कार्य कर सकेगा। यह सम्भव है कि शायद बहुत थोड़े ही विश्वविद्यालय ऐसे हों, जिनमें एक से अधिक व्यक्ति राष्ट्रीय प्रोफेसर नियुक्त होने के योग्य समझे जायँ। कुछ विश्वविद्यालयों में ऐसा शायद एक भी व्यक्ति न हो। फिर भी इस प्रकार के पद विद्यमान रहने के कारण विश्वविद्यालय के अध्यापकों को और अधिक प्रयत्न करने के लिए प्रेरणा मिलेगी और उन्हें यह आश्वासन रहेगा कि यदि उन्होंने असाधारण सफलता प्राप्त कर ली, तो समाज उनका आदर करेगा। इस प्रकार के प्रोफेसर-पदों की स्थापना का तात्कालिक परिणाम यह होगा कि योग्य व्यक्ति विश्व-विद्यालयों को छोड़कर दूसरी नौकरियों में जाना बन्द कर देंगे।

(इ) एक और आवश्यक उपाय यह किया जाना चाहिये कि जिन अध्यापकों में कालेज के क्षेत्र में संगठित जीवन का निर्माण करने की विशेष क्षमता विद्यमान है, उन्हें कुछ विशेष मान दिया जाय। आजकल की प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्रत्येक विश्वविद्यालय में ऐसे कुछ न कुछ अध्यापक विद्य-मान हैं, जो अपने छात्रों के लिए मित्र, दार्शनिक और पथदर्शक बने हुए हैं। अनेक बार तो इस प्रकार के अध्यापकों का न केवल उन छात्रों पर प्रभाव होता है, जो उनके अपने विभागों में पढ़ रहे होते हैं, अपितु विश्वविद्यालय के सारे ही छात्र वर्ग पर उनका प्रभाव होता है। इस प्रकार के अध्यापकों को यदि समुचित मान्यता दी जाय, तो वे अध्यापकों के नेतृत्व को फिर से स्थापित करने के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं। आजकल के अधिकांश विद्यार्थियों में जो एक निरुद्देश्यता और निराशा की-सी भावना पायी जाती है, उसे हटाने में भी वे सहायता कर सकते हैं।

(ई) इसी प्रकार का एक और कदम उन लोगों को भी विशेष मान्यता देने के लिए उठाया जाना चाहिये, जिनमें अध्यापन के लिए विशेष उत्साह है। हममें से प्रत्येक कुछ न कुछ ऐसे अध्यापकों का स्मरण कर सकता है, जिनमें अपने विषय का असाधारण विद्वान या अनुसन्धानकर्त्ता न होते हुए भी एक ऐसा विशेष गुण विद्यमान था, जिसके द्वारा वे अपने छात्रों में अध्ययन के लिए नया उत्साह उत्पन्न कर देते थे। अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने की

शक्ति अध्यापन के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण तत्व होती है। और वह सदैव किसी अध्यापक में उसकी विद्वत्ता के अनुपात में नहीं पायी जाती। यदि विश्व-विद्यालय के दोनों ही उद्देश्य हैं, अर्थात् एक तो यह कि समाज के पास जो ज्ञान पहले से विद्यमान है, उसे नयी पीढ़ी को प्रदान किया जाय; और दूसरा यह है कि इस प्रकार के ज्ञान की सीमाओं को और अधिक विस्तृत किया जाय, तो यह बिल्कुल स्पष्ट है कि विश्वविद्यालय में विशुद्ध अनुसन्धानकर्ता और विशुद्ध अध्यापक दोनों ही प्रकार के व्यक्ति शिक्षक वर्ग में रहने चाहियें। आजकल कई बार यह प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है कि अनुसन्धान के कार्य पर बहुत जोर दिया जाय, चाहे उसके लिए अध्यापन के कार्य को बलिदान ही कर देना पड़े। यह ठीक है कि अनुसन्धान का निश्चित रूप से बड़ा महत्व है, परन्तु अध्यापक को उसकी अध्यापन की योग्यता के लिए भी मान दिया जाना चाहिये। इस प्रकार की क्षमता की जाँच के लिए कोई यन्त्र सदृश उपाय सुझा पाना तो कठिन होगा, परन्तु इस सम्बन्ध में विद्यार्थियों का निर्णय प्रायः काफी कुछ ठीक निर्णय होता है। वस्तुतः अनेक बार विद्यार्थी अध्यापक की क्षमताओं के उससे कहीं अधिक अच्छे निर्णायक होते हैं, जितना कि अध्यापक विद्यार्थियों की क्षमताओं का निर्णायक होता है।

(उ) कालेजों और विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के लिए विदेशों में विशेष अध्ययन की सुविधाओं का प्रबन्ध करके उनके उच्चतर प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जानी चाहिये। इस सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट छात्रवृत्तियों की स्थापना से न केवल काफी संख्या में योग्य युवक अध्यापन के पेशे की ओर आकृष्ट होंगे, अपितु तरुण अध्यापकों को चुने हुए पश्चिमी विश्वविद्यालयों के कहीं अधिक विद्वत्तापूर्ण परिवेश (ऐनवायरनमेंट) में रहने का अवसर प्राप्त होने के परिणामस्वरूप हमारे विश्वविद्यालयों के अध्ययन और अध्यापन के वातावरण को सुधारने में भी सहायता मिलेगी। यह हमें स्वीकार करना होगा कि कुछ थोड़े-से सम्माननीय अपवादों को छोड़कर हमारे कालेजों और विश्वविद्यालयों के अधिकांश अध्यापकों में से समर्पण और सेवा की भावना समाप्त हो चुकी है। पश्चिम के अनेक विश्वविद्यालयों में यह भावना अब भी प्रभूत मात्रा में पायी जाती है। इनमें से कुछ विश्वविद्यालयों में तो अध्ययन-अध्यापन का वातावरण अपेक्षाकृत बहुत ही अच्छा है और उनके कार्यकर्ताओं में ऐसे अनेक व्यक्ति विद्यमान

हैं, जिनमें सच्ची सेवा की भावना भरी है। यौवन के प्रारम्भ में इस प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से हमारे अध्यापकों की अगली पीढ़ी पर अवश्य ही गहरा प्रभाव पड़ेगा।

यदि हम अपने प्रत्येक विश्वविद्यालय के लिए कम से कम एक-एक किसी प्रसिद्ध विदेशी विद्वान की सेवाएँ तीन से लेकर पाँच वर्ष तक के लिए प्राप्त कर सकें, तो इसका भी परिणाम हमारे विश्वविद्यालयों के वातावरण पर अच्छा पड़ेगा। अनेक बार किसी एक ही व्यक्ति की उपस्थिति कालेज के सम्पूर्ण वातावरण को बदलने में समर्थ होती है। यदि हम विदेशी प्रोफेसरों का चुनाव बुद्धिमत्तापूर्वक करें, तो वे अध्यापन का प्रमाप ऊँचा करने तथा विश्वविद्यालयों में समुचित अध्ययन-अध्यापन का वातावरण उत्पन्न करने में सहायक होंगे। वस्तुतः सर्वोत्तम परिणाम उस दशा में प्राप्त हो सकते हैं, जबकि विदेशों से प्रोफेसरों को यहाँ पर बुलाना तथा यहाँ के तरुण अध्यापकों को अध्ययन के लिए बाहर भेजना, दोनों ही एक समेकित कार्यक्रम के अंग हों, जिससे जब हमारे युवक अध्यापक विदेश से लौट कर आयें, तो वे उस कार्य को आगे जारी रख सकें, जिसे यहाँ पर आने वाला विदेशी प्रोफेसर प्रारम्भ कर चुका होगा।

(ऊ) सभी स्तरों पर अध्ययन-अध्यापन के वातावरण में सुधार और अध्यापकों के वेतन में वृद्धि बहुत आवश्यक है; परन्तु उतना ही आवश्यक यह भी है कि अध्यापकों की सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाया जाय। वित्तीय तथा अन्य दूसरे कारणों से अध्यापकों के वेतन क्रम को उचित सीमा तक बढ़ाने में तो काफी समय लगेगा; परन्तु उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए विशेष उपाय बरतने में कोई बाधा नहीं है। सामान्यतया सरकारी नौकरी में तथा अन्य स्थानों में भी व्यक्ति की प्रतिष्ठा का सम्बन्ध उसे प्राप्त होने वाले वेतन या उसकी आय के साथ जुड़ा रहता है। परन्तु इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं। भारतीय प्रशासन सेवा के कनिष्ठ (जूनियर) सदस्य की प्रतिष्ठा भी प्रान्तीय प्रशासन सेवा के सदस्य की अपेक्षा अधिक होती है, भले ही प्रान्तीय प्रशासन सेवा वाले व्यक्ति का वेतन अधिक भी क्यों न हो। आजकल मन्त्रियों को स्थायी सेवा के सदस्यों की अपेक्षा कम वेतन मिलता है, परन्तु इससे उनके सम्मान और सामाजिक प्रतिष्ठा पर कोई आँच नहीं आती।

मन्त्रियों की स्थिति इस कारण सुरक्षित रहती है, क्योंकि उनके हाथ में

राजनीतिक शक्ति रहती है। अध्यापकों के सम्बन्ध में समाज में उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिये कुछ विशेष उपाय बरतने पड़ेंगे। हमें फिर उस प्राचीन परम्परा को अपनाने का प्रयत्न करना चाहिये, जिसमें सामाजिक प्रतिष्ठा का सम्बन्ध व्यक्ति की आर्थिक स्थिति के साथ अनिवार्य रूप से नहीं जुड़ा होता था। प्राचीन भारत में विद्वान लोगों का, चाहे वे कितने भी गरीब क्यों न हों, बड़ा सम्मान किया जाता था; और यह स्थिति तो बहुत हाल में ही हुई है कि सामाजिक प्रतिष्ठा का सम्बन्ध धन-सम्पन्नता के साथ इतने घनिष्ठ रूप से जुड़ गया है।

(ए) अध्यापकों की सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए अनेक उपायों में से हम अपने देश में भी उस एक उपाय का प्रयोग कर सकते हैं, जो टर्की में बहुत सफल रहा है। टर्की की सरकार जब भी कोई महत्वपूर्ण कानून बनाना चाहती है, तो वह विश्वविद्यालय के अध्यापकों की एक समिति इसलिए नियुक्त कर देती है कि वह समिति उस कानून को शास्त्रीय दृष्टि से और विशेषज्ञों की दृष्टि से जाँच-पड़ताल ले। सरकार इस समिति की सलाह को मानने के लिए बाधित नहीं है; परन्तु केवल इस तथ्य के कारण, कि कानून बनाने से पहले विश्वविद्यालय के अध्यापकों की सलाह ली जाती है, जनता की दृष्टि में अध्यापकों की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जाती है। यह पद्धति शिक्षण की दृष्टि से लाभदायक और राजनीतिक दृष्टि से स्वस्थ पद्धति है। अध्यापकों के सामने सुस्पष्ट समस्याएँ रख दी जाती हैं, जिससे वे उनका अध्ययन कर सकें और वास्तविकता को गहराई तक समझ सकें। किसी भी समस्या का विद्वानों की एक ऐसी संस्था द्वारा, जो राजनीतिक पक्षपात से काफी कुछ परे है, विश्लेषण करवा लेने से सरकार को भी लाभ रहता है और वह उन गलतियों को करने से बच जाती है, जिन्हें कि वह राजनीतिक दबाव और दलबन्दी के जोश में कर बैठती।

कालेजों और विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के वेतनों, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा अपने पेशे की क्षमता को बढ़ाने की आवश्यकता के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह सब का सब माध्यमिक और प्रारम्भिक विद्यालयों के अध्यापकों पर और भी अधिक सबल रूप से लागू होता है। इन अध्यापकों के वेतन कई बार तो इतने कम होते हैं कि उनके द्वारा वे अपनी अनिवार्य आवश्यकताएँ तक

मुश्किल से ही पूरी कर पाते हैं। जो लोग अध्ययन-अध्यापन के जीवन की प्रतिष्ठा को बनाये रखना चाहते हैं, उनके लिए इन अध्यापकों की सामाजिक प्रतिष्ठा एक निरन्तर चिन्ता का विषय बनी हुई है। अनेक बार इन अध्यापकों की अपने पेशे की क्षमता इतनी कम होती है कि वह इस पेशे के लिए निर्धारित बिलकुल न्यूनतम प्रमापों तक को पूरा नहीं कर पाती। इस दशा को सुधारने के लिए कुछ अनिवार्य उपाय ये हैं :

(अ) प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के वेतन क्रम में सुधार की आवश्यकता सबसे अधिक है; और इसी में सबसे बड़ी कठिनाई भी है, क्योंकि इन अध्यापकों की संख्या बहुत अधिक है। विश्वविद्यालयों और कालेजों में सभी ग्रेडों के अध्यापकों की संख्या कुल मिलाकर तीस हजार से कुछ कम ही है; और इनकी तुलना में प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों की संख्या लगभग ८ लाख है। यदि इन अध्यापकों की आर्थिक स्थिति में बिलकुल मामूली-सा भी सुधार करना हो, तो उसके लिए भी बहुत विशाल धन राशि की आवश्यकता होगी। परन्तु यदि हम देश के भविष्य को सुधारने के लिए कुछ भी चिन्तित हैं, तो इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है कि यह आवश्यक धन राशि किसी न किसी प्रकार जुटाई जाय।

(आ) कालेजों और विश्वविद्यालयों के अध्यापकों की अपेक्षा भी कहीं अधिक आवश्यकता प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों की प्रतिष्ठा जनता की दृष्टि में बढ़ाने की है। वित्तीय कठिनाइयों के कारण यह सम्भव नहीं दीखता कि निकट भविष्य में उनके वेतन क्रम में कोई ऐसा सुधार किया जा सके, जिससे वे समाज के सम्पन्न लोगों में गिने जा सकें। इस समय तो उनकी माँग केवल यह है कि उनकी आय कम से कम इतनी हो जानी चाहिये कि जिससे उनकी आधारभूत मानवीय आवश्यकताएँ पूरी हो जायें और उनके सिर पर घर का खर्चा पूरा करने की चिन्ता हर समय सवार न रहे। ऐसी दशा में उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए कुछ विशेष उपायों का अवलम्बन करना अनिवार्य हो जाता है। हाल ही में भारत सरकार ने एक कदम उठाया है, जिसके द्वारा राज्य की ओर से बिलकुल नगण्य-से व्यय पर अध्यापकों की प्रतिष्ठा में वृद्धि की जा सकती है। नयी दिल्ली में राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति की ओर से प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों का अभिनन्दन किया गया। इस

पर बड़ी मामूली धन राशि व्यय हुई, परन्तु केवल इस तथ्य के कारण, कि राष्ट्रपति की ओर से उन पुरुषों और स्त्रियों के नाम निमन्त्रणपत्र गये, जिन्हें कि अब तक गाँवों के लोग बिलकुल मामूली आदमी समझते रहे थे, देहातों में काफी कुछ हलचल-सी मची। माध्यमिक तथा प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों के लिए इसी प्रकार के अभिनन्दनों तथा अन्य विशेष समारोहों का आयोजन प्रत्येक राज्य कर सकता है, जिसमें कि उस राज्य का अध्यक्ष राज्यपाल और मुख्य मन्त्री भी उपस्थित रहें। यदि सब राज्यों के मुख्य मन्त्री यह नियम बना लें कि वे जिस भी किसी केन्द्र में जायेंगे, वहाँ के कुछ माध्यमिक और प्रारम्भिक विद्यालयों के अध्यापकों से अवश्य मिलेंगे, तो इससे सामान्य जनता की दृष्टि में, और विशेष रूप से देहाती क्षेत्रों में, अध्यापकों की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जायगी।

(इ) इस सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण उपाय यह है कि प्रधानाध्यापक के पद और प्रतिष्ठा में वृद्धि कर दी जाय। एक अच्छा प्रधानाध्यापक विद्यालय में बहुत कुछ परिवर्तन कर सकता है। इंग्लैंड की पब्लिक स्कूल प्रणाली की महान सफलता का एक रहस्य यह भी है कि इन स्कूलों में प्रधानाध्यापकों की हैसियत बहुत ऊँची होती है, और उनकी योग्यता भी बहुत होती है। तीस या चालीस वर्ष पहले भारत में ऐसे कई प्रसिद्ध प्रधानाध्यापक थे, जिनकी ख्याति सारे प्रान्त में, और कुछ मामलों में तो सारे भारत में फैली होती थी। आजकल ऐसे प्रधानाध्यापक भी मिलने कठिन हैं, जिनकी ख्याति एक पूरे राज्य के अन्दर भी फैली हुई हो। इसलिए हमारा एक अविलम्ब कदम यह होना चाहिये कि प्रधानाध्यापक का पद और प्रतिष्ठा और बढ़ा दी जाय। उसे न केवल इतना वेतन दिया जाय, कि जिससे ठीक ढंग के लोग इस काम के लिए मिल सकें, बल्कि उसे अध्यापकों को नियुक्त करने और उनकी पदोन्नति करने के सम्बन्ध में भी विस्तृत अधिकार दिये जायँ। संक्षेप में प्रधानाध्यापक सारी संस्था का मेरुदंड होना चाहिये और संस्था की प्रगति और उन्नति की सारी जिम्मेदारी उसी पर डाल दी जानी चाहिये। जब विद्यालय के कल्याण और प्रतिष्टा की जिम्मेदारी पूरी तरह उसके कंधों पर डाल दी जायगी, तो यह आशा की जा सकती है कि वह उसे पूरा करने का प्रयत्न करेगा।

मैंने जापान में देखा कि वहाँ माध्यमिक और प्रारम्भिक विद्यालयों के प्रधा-

नाध्यापकों को लगभग उतना ही वेतन दिया जाता है, जितना कि कार्यकारी (ऐग्जीक्यूटिव) अधिकारियों को। टर्की में मैंने देखा कि प्रारम्भिक विद्यालय के अध्यापक का वेतन लगभग २५० रुपये प्रति मास से प्रारम्भ हो कर ५०० रुपये प्रति मास तक जाता है, और इसकी तुलना में सरकार के सचिव का वेतन लगभग ११०० रुपये प्रति मास से लेकर १५०० रुपये प्रति मास तक जाता है। दूसरे शब्दों में, वहाँ प्रारम्भिक विद्यालय के अध्यापक के अधिकतम वेतन और राज्य के उच्चतम प्रशासक के वेतन में अनुपात केवल लगभग १ और ३ का है। भारत में यह अनुपात किन्हीं-किन्हीं मामलों में तो १ और ८० तक का भी है।

(ई) माध्यमिक और प्राथमिक स्तर पर अध्यापन की उत्कृष्टता की सबसे बड़ा शत्रु है कार्य की एकरसता और नीरसता। साल के बाद साल उन्हीं पाठों को दुहराते-दुहराते उस विषय में अध्यापकों की रुचि नहीं रहती। इसलिए इस एकरसता को समाप्त करने के लिए कुछ न कुछ उपाय किये जाने चाहियें। अध्यापकों की उत्कृष्टता को बढ़ाने की दृष्टि से सेवा काल में दिये जाने वाले प्रशिक्षण के महत्व के सम्बन्ध में जितना कहा जाय, वह कम ही है। हाल के वर्षों में इंग्लैंड में हुए परीक्षणों से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि इस प्रकार के सेवा काल में दिये जाने वाले प्रशिक्षण के कारण अयोग्य अध्यापकों में भी इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि अब वे पुराने रूप में पहचाने जाने भी कठिन हैं। इसलिए हमें अध्यापकों के लिए नवचेतनाप्रद (रिफ्रैशर) पाठ्यक्रमों और सेवा काल में दिये जाने वाले प्रशिक्षण की व्यवस्था को और बढ़ाना चाहिये। इस व्यवस्था को करने का एक उपाय यह है कि सब स्तरों के अध्यापकों के लिए सैमिनारों और अध्ययन शिविरों का संगठन किया जाय। १९५२ में भारत सरकार के तत्वावधान में अखिल भारतीय प्रधानाध्यापकों का जो सैमिनार हुआ था, उसमें पच्चीस राज्यों के पचास प्रधानाध्यापकों ने भाग लिया था। इसके ऊपर २० हजार रुपये भी व्यय नहीं हुए थे, किन्तु इससे सारे देश में प्रधानाध्यापकों के नैतिक बल को बढ़ाने में काफी सफलता मिली। इसके परिणामस्वरूप भारत में प्रधानाध्यापकों का पहला व्यावसायिक संगठन भी स्थापित हुआ। यह प्रस्ताव रखा गया है कि प्रधानाध्यापकों के लिए इस प्रकार के कैम्प-सह-सैमिनारों की प्रणाली को जारी रखा जाय। १९५४-५५ में भारत के

विभिन्न भागों में इस प्रकार के १० सैमिनार किये गये और इस प्रयोजन के लिए धन राशि फोर्ड फाउन्डेशन से प्राप्त हुई।

यदि इसी प्रकार के प्रधानाध्यापकों का कैम्प-सह-सैमिनार राज्य की ओर से किया जाय, तो उस पर और भी कम व्यय होगा। इसलिए किसी भी राज्य के लिए प्रति वर्ष ऐसे दो सैमिनारों का आयोजन करना कठिन नहीं होना चाहिये। इसका अर्थ यह होगा कि इस योजना से राज्य में प्रति वर्ष लगभग १०० अध्यापक लाभ उठा सकेंगे। इससे कुछ ही वर्षों की अवधि में सारे देश में माध्यमिक शिक्षा को सम्पूर्णतया सबल बनाने में सहायता मिलेगी। इस प्रकार के सैमिनारों और अध्ययन-शिविरों का आयोजन प्रारम्भिक विद्यालयों के प्रधानाध्यापकों तथा अन्य अध्यापकों के लिए भी किया जाना चाहिये।

(उ) नवचेतनाप्रद (रिफ्रैशर) पाठ्यक्रम और सेवा काल में दिया जाने वाला प्रशिक्षण अध्यापक के जीवन की एकरसता को तोड़ने की दृष्टि से बहुत स्वागत योग्य वस्तु है। इस प्रकार के प्रशिक्षण के अतिरिक्त हमें इन अध्यापकों को अवकाश-शिविरों और स्वास्थ्य-सुधार गृहों के द्वारा आत्मिक और शारीरिक शक्ति संग्रह करने का अवसर भी देना चाहिये। माध्यमिक और प्रारम्भिक विद्यालयों के बहुत थोड़े प्रधानाध्यापक, और उससे भी कम अध्यापक आर्थिक कठिनाइयों के कारण इस योग्य होते हैं कि अवकाश के दिनों में कहीं जा कर आनन्द मना सकें। फिर भी उन्हें इस प्रकार की सुविधाओं की आवश्यकता अन्य अधिकांश पेशे वाले लोगों की अपेक्षा अधिक है। साल के बाद साल अध्यापन कक्ष में काम करते रहने के कारण अध्यापकों की ऊर्जा और जीवन शक्ति सूख जाती है। यदि उन्हें इस प्रकार की छुट्टियाँ न दी जायँ, जिनमें कि वे नयी शक्ति संचय कर सकें, तो उनका काम उत्साहहीन, जीवनहीन और यन्त्र सदृश होता जाता है। इसका परिणाम यह हो सकता है कि नयी पीढ़ी को ऐसी क्षति पहुँच जाय, जो स्थायी बन जाय। और इस क्षति से हर हालत में बचना ही चाहिये। यदि बहुत थोड़े पैमाने पर भी अवकाश शिविरों और स्वास्थ्य-सुधार गृहों की व्यवस्था की जाय, तो उसका भी अध्यापकों के नैतिक बल पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार के उपायों से उन्हें न केवल यह अनुभव होगा कि समाज को उनके कल्याण का ध्यान है, अपितु तुरन्त ही उनके कार्य की उत्कृष्टता भी बहुत बढ़ जायगी।

(ऊ) विद्यालयों की प्रबन्ध समितियों की रचना इस तरह होनी चाहिये कि यदि उनमें से दलबन्दियाँ और गुटबन्दियाँ बिलकुल समाप्त न भी की जा सकें, तो भी वे न्यूनतम अवश्य हो जायँ। जहाँ चुनावों और षड्यन्त्रों के कारण विश्वविद्यालयों में अनुशासन को धक्का पहुँचा है, वहाँ इस प्रकार के संघर्षों का प्रभाव विद्यालयों पर और भी अधिक हानिकारक हुआ है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं, जहाँ कि प्रबन्ध समिति का सचिव (सैक्रेटरी) प्रधानाध्यापकों और अध्यापकों के लिए एक छोटा-मोटा अत्याचारी शासक-सा बन जाता है। यदि प्रबन्ध समितियों के संविधान में से चुनावों को बिलकुल ही समाप्त न किया जा सके, तो भी कोई ऐसी पद्धति अपनायी जाय, जैसी न्यूयार्क राज्य में बोर्ड आफ रीजेन्ट्स के चुनाव में अपनायी गयी है। यह बोर्ड न्यूयार्क राज्य में शिक्षण क्षेत्र की सर्वोच्च सत्ता है, और इसका चुनाव राज्य की विधान-सभा करती है। फिर भी यह दलगत राजनीति से पूरी तरह स्वतन्त्र है। इसका कारण यह है कि इस बोर्ड के १३ सदस्यों में से प्रति वर्ष केवल एक सदस्य का चुनाव होता है और वह सदस्य १३ वर्ष के लिए चुना जाता है। क्योंकि राज्य के गवर्नर का कार्यकाल केवल ४ वर्ष का होता है और विधान सभा के सदस्यों का कार्यकाल केवल २ वर्षों का, इसलिए किसी भी सदस्य के ऊपर किसी भी दल का प्रभाव एक या दो वर्ष बीतने के बाद बहुत थोड़ा ही रह जाता है। भारतीय विद्यालयों की प्रबन्ध समितियों के लिए यदि इसी प्रकार की चुनाव पद्धति अपनायी जाय, तो उसके फलस्वरूप वे दलगत संघर्ष और षड्यन्त्र बहुत कम हो जायेंगे, जिनके कारण आजकल के विद्यालय-समाज का जीवन बहुत दूषित हो गया है।

(ए) इस समय निजी ट्यूशन करने की जो दूषित प्रथा विद्यमान है, उसे अवश्य रोका जाना चाहिये। परन्तु यह केवल तभी सफलतापूर्वक किया जा सकता है, जबकि अध्यापक को जीवन निर्वाह योग्य वेतन मिल रहा हो। इस समय भी इस प्रकार के नियम बने हुए हैं कि कोई भी अध्यापक बिना मुख्याध्यापक को बताये और उसकी सहमति के बिना निजी ट्यूशन नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में भी नियम बने हुए हैं कि कोई अध्यापक एक समय में कितनी निजी ट्यूशनें कर सकता है। किन्तु प्रायः इन नियमों का पालन कम होता है और उल्लंघन अधिक। अपने पक्ष के समर्थन में अध्यापक लोग प्रायः यह कहते

हैं कि उनके लिए पढ़ाने की भी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण वस्तु जीवित रहना है; और उनके वेतन इतने पर्याप्त नहीं हैं कि उनसे उनकी और उनके परिवार की न्यूनतम आवश्यकताएँ भी पूरी हो सकें। ज्यों-ज्यों वेतन क्रम में धीरे-धीरे सुधार होता जायगा, त्यों-त्यों इस प्रकार के नियमों का पालन और अधिक सख्ती से किया जा सकेगा और अध्यापकों द्वारा की जाने वाली निजी ट्यूशनों को कठोरतापूर्वक नियमित किया जा सकेगा। किन्तु जब तक अध्यापकों के वेतन क्रम में काफी सुधार न हो जाय, तब तक कम से कम इतना प्रबन्ध अवश्य किया जाना चाहिये कि ट्यूशनों की व्यवस्था विद्यालय की मार्फत की जाय और ट्यूशन पढ़ाने का काम भी विद्यालय में ही हो। प्रधानाध्यापक को यह अधिकार दिया जाना चाहिये कि जो बालक पढ़ाई में औरों से कुछ कमजोर या पिछड़े हुए हैं, उनकी विशेष पढ़ाई का प्रबन्ध वह करे और यह काम उस प्रधानाध्यापक की देख-रेख में चुने हुए अध्यापकों द्वारा विद्यालय में ही होना चाहिये। इस प्रकार के अध्ययन से जो फीस प्राप्त हो, वह सब अध्यापकों में बाँट दी जाय, और स्वभावतः ही इस वितरण में उन अध्यापकों को कुछ अधिक भाग मिलेगा, जिन्होंने कि वस्तुतः इस पढ़ाई के काम में हिस्सा लिया होगा। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिये कि इस काम के लिए अध्यापकों को चुनने में प्रधानाध्यापक किसी प्रकार के पक्षपात से काम न ले। इस प्रकार निजी ट्यूशनों की वर्तमान अनियन्त्रित प्रथा की रोक-थाम की जा सकती है और इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं, जिनमें कि अध्यापक अपनी सारी ऊर्जा और ध्यान विद्यालय के काम पर ही केन्द्रित कर सकें। यदि कोई चाहे, तो यहाँ तक कह सकता है कि वर्तमान स्थिति में बिना कोई अन्य परिवर्तन किये केवल इस एक उपाय से ही—यदि इसे प्रभावी रूप से क्रियान्वित किया जाय तो—भारतीय शिक्षा में क्रान्तिकारी सुधार हो सकता है।

(ख) विद्यार्थियों की आर्थिक कठिनाइयों को हल करने के उपाय

विद्यार्थी लोग जिन आर्थिक कठिनाइयों से ग्रस्त हैं, उन्हें रातोंरात नहीं हटाया जा सकता, और न उनका हल सारे समाज से पृथक् किसी एक ढंग से किया जा सकता है। जब तक समाज की आर्थिक दशा में सामान्य रूप से सुधार नहीं हो जाता, तब तक शिक्षा संस्थाओं में छात्रों की दशा भी असन्तोष-

जनक रहेगी। फिर भी सुधार करने और त्रुटियों को हटाने के लिए यथासम्भव प्रत्येक प्रयत्न किया जाना चाहिये। इनमें से कुछ प्रस्तावित उपायों को क्रियान्वित करने के लिए सार्वजनिक निधियों से धनराशि की सहायता की आवश्यकता होगी; किन्तु ये धनराशियाँ आवश्यक नहीं कि बहुत बड़ी ही हों। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कुछ विशिष्ट उपाय सुझाव के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं :

(अ) उन योग्य छात्रों को, जो आर्थिक दृष्टि से तंगी की दशा में हैं, अधिकाधिक सुविधाएँ देने के लिए कदम उठाये जा सकते हैं, और अवश्य उठाये जाने भी चाहियें। यह समस्या विश्वविद्यालयों और कालेजों के स्तर पर जाकर तो सबसे अधिक उग्र हो ही उठती है, परन्तु बहुत बार माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों को भी अपने निर्वाह के लिए स्वयं उपार्जन करना पड़ता है। इस समय विद्यालयों और कालेजों में पन्द्रह से लेकर बीस प्रतिशत तक छात्रों को छात्रवृत्तियाँ, छात्र वेतन या अन्य रियायतें देने की व्यवस्था है। इंग्लैंड जैसे सम्पन्न देशों में सार्वजनिक कोष से इस प्रकार सहायता प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या कहीं अधिक होती है। आक्सफोर्ड जैसे विश्वविद्यालय में ८० प्रतिशत से अधिक छात्रों को किसी न किसी रूप में सार्वजनिक सहायता मिल रही होती है। यह ठीक है कि हमारे पास इतने साधन नहीं हैं कि छात्रों को इतने बड़े पैमाने पर सार्वजनिक सहायता दी जा सके, परन्तु वर्तमान व्यवस्था में कुछ न कुछ वृद्धि कर पाना बहुत आवश्यक है, और सम्भव भी है। अपने सीमित साधनों को देखते हुए हमें उन पद्धतियों पर भी विचार करना चाहिये, जिनके द्वारा विद्यार्थियों को अपना निर्वाह करने में कुछ सहायता मिल सकती है। इनमें से एक उपाय यह है कि विद्यालय और महाविद्यालय में आवश्यक सेवा कार्य करने के लिए विद्यार्थियों के परिश्रम का अब तक जितना उपयोग किया जाता है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उपयोग किया जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका का उदाहरण इस सम्बन्ध में बड़ा शानदार है। वहाँ अनेक विद्यार्थी विद्यालयों और कालेजों में घंटी बजाने, चपरासगीरी करने, चौकीदारी करने, अखबार बेचने, पुस्तकालयों में सहायक का काम करके अथवा अन्य कार्य करके अपना अध्ययन पूरा करते हैं। गरीब विद्यार्थियों को सहायता देने का एक और उपाय यह हो सकता है कि कालेजों और विद्यालयों में आगे के एक अनुच्छेद में वर्णित

सुविधाओं की वृद्धि करने के लिए इन गरीब छात्रों का उपयोग किया जाये।

(आ) जहाँ शिक्षण संस्थाएँ विद्यार्थियों के वित्तीय बोझ को कम करने में सहायता कर सकती हैं और उनको करनी भी चाहिये, वहाँ उन्हें इस बात के निश्चय के लिए भी कोई कदम उठाना चाहिये कि विद्यार्थी लोग इस प्रकार प्रस्तुत की गयी सुविधाओं से लाभ उठा सकें। आजकल के अनेक विद्यार्थियों में जो निरुद्देश्यता पायी जाती है, उसे शिक्षा की उत्कृष्टतर आयोजना करके हटाया जाना चाहिये। प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का जन्म-जात अधिकार समझा जा सकता है। परन्तु हमारी जैसी वर्तमान परिस्थिति है, उसमें प्रारम्भिक शिक्षा से आगे की शिक्षा अपने उपार्जन से ही प्राप्त करनी होगी। प्रारम्भिक शिक्षा की समाप्ति पर इस बात की काफी सावधानी से, और माध्यमिक शिक्षा काल की समाप्ति पर और भी अधिक कठोरतापूर्वक पड़ताल होनी चाहिये कि जो लोग आगे की शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, वे उसके योग्य हैं भी, या नहीं। सामान्यतया कालेजों और विश्वविद्यालयों में केवल उन्हीं विद्यार्थियों को प्रवेश मिलना चाहिये, जिनमें उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने की विशेष अभियोग्यता और रुचि हो। इस प्रकार का चुनाव मुख्य रूप से अध्यापकों द्वारा ही होना चाहिये और मुख्यरूप से छात्रों और उनके संरक्षकों को सलाह के रूप में बतलाया जाना चाहिये।

आजकल जब कभी भी हम छात्रों के लिए सलाह देने या उनके व्यावसायिक पथ प्रदर्शन की चर्चा करते हैं, त्योंही मनोवैज्ञानिकों और मनोविशेषज्ञों की सलाह लेने की बात करने का रिवाज-सा हो गया है। इसमें बड़ा सन्देह है कि इस प्रकार की विलास की बातें उन देशों के लिए भी वांछनीय हैं या नहीं, जो इतने सम्पन्न हैं कि इस प्रकार की सलाहें ले पाने में समर्थ हैं। यह आशा करना ज्यादती है कि कोई भी विशेषज्ञ किसी बालक से एक या दो बार आधे-आधे घंटे के लिए मिलकर उसकी अभियोग्यताओं और रुचियों को ठीक-ठीक जाँच सकता है। दूसरी ओर, यह प्रयत्न, कि सब बालकों के लिए इस प्रकार का पथप्रदर्शन प्रत्येक बालक को लम्बी अवधि तक उचित रूप से देखते रहने के बाद किया जाय, बड़े से बड़े धनी देशों के बस का भी न होगा। खैर, कम से कम भारत के लिए इस प्रकार का कार्यक्रम सोचने या शुरू करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे बालकों को सलाह या पथप्रदर्शन दिया ही नहीं जा सकता। जिन अध्यापकों को सारे साल, और अनेक बार तो लगातार कई साल तक बालक को देखते रहने का अवसर मिलता है, वे उसकी अभियोग्यताओं और रुचियों के सम्बन्ध में काफी कुछ सही आकलन कर सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि अध्यापक विद्यार्थियों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करें। यह बिलकुल स्पष्ट है कि इस प्रकार की योजना केवल तभी सफल हो सकती है, जब कि अध्यापकों और बालकों के माता-पिताओं में घनिष्ठ सहयोग हो। यदि अध्यापक अपने छात्रों में कुछ और अधिक दिलचस्पी लें और बालकों के माता-पिताओं से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करें, तो अध्यापक और माता-पिता मिलकर ही बालक को उसके भविष्य के लिए सर्वोत्तम सलाह दे सकते हैं। इसके लिए प्रोक्टोरियल प्रणाली जैसी प्रणाली को शुरू करने की भी आवश्यकता हो सकती है। यह प्रणाली सावास शिक्षण संस्थाओं (रैजिडेन्शल इंस्टीट्यूशन) में पायी जाती है। इसके अनुसार प्रत्येक अध्यापक को कुछ-कुछ छात्र सौंप दिये जाते हैं और उनकी जिम्मेदारी उसी पर रहती है। वर्तमान परिस्थितियों में इस बात का जोखिम है कि इस प्रकार की प्रणाली क्षुद्र हृदय अध्यापकों के हाथ में जाकर दूषित होकर छोटे-मोटे अत्याचार या खुफिया पुलिस की-सी निगरानी के रूप में परिवर्तित हो जाय। परन्तु इस प्रणाली के दुरुपयोग का खतरा उस समय नगण्य-सा हो जायगा, जब अध्यापक लोग माता-पिताओं और संरक्षकों के घनिष्ठ सहयोग से कार्य कर रहे होंगे।

यदि अध्यापक लोग अपने निर्धारित कर्तव्य को सूझ-बूझ और बुद्धिमत्ता के साथ पूरा करें, तो इससे दुहरा लाभ होगा। एक ओर तो अध्यापकों को उनका खोया हुआ नेतृत्व फिर प्राप्त हो जायगा; और दूसरी ओर कालेजों और विश्वविद्यालयों में किशोरों में इस समय जो निरुद्देश्यता की भावना पायी जाती है, वह यदि बिलकुल समाप्त न भी हो, तो भी कम अवश्य हो जायगी। उच्चतर शिक्षा में प्रवेश करने वाले छात्रों की योग्यता और संख्या पर नियन्त्रण रहने के कारण उन शिक्षित युवकों की आशाओं और सामर्थ्य में उतनी बड़ी खाई भी नहीं रहेगी, जितनी कि अब है, और जो आजकल के युवकों में पायी जाने वाली निराशा का बहुत बड़ा कारण है।

(इ) परन्तु विद्यार्थियों की आर्थिक कठिनाइयाँ एक दिन में हल नहीं हो

सकतीं। इसी प्रकार अध्यापकों और माता-पिताओं द्वारा सलाह और पथ प्रदर्शन के फलस्वरूप भी सब विद्यार्थी तुरन्त शिक्षा या प्रशिक्षण के उन मार्गों पर नहीं डाले जा सकेंगे, जिनके लिए वे विशेषरूप से उपयुक्त हैं। इसलिए विद्यालयों और कालेजों में विद्यमान अनेक सुविधाओं को और अधिक बढ़ाने की तत्काल आवश्यकता है।

यहाँ पर हम सबसे पहले 'अपना काम आप करो' कार्यक्रमों पर विचार कर सकते हैं। खेल के मैदानों, प्रेक्षागृहों (स्टैडियम), रंगशालाओं (थियेटर) और उद्यानों का निर्माण या सुधार, और बड़ी आयु के छात्रों के सम्बन्ध में विद्यालयों और छात्रावासों के भवनों का निर्माण, जहाँ तक सम्भव हो, अध्यापकों के नेतृत्व में छात्रों द्वारा ही कराया जाना चाहिये। यह चीज़ अव्यवहार्य नहीं है, यह बात देश के विभिन्न भागों में स्वेच्छा से बनाये गये संगठनों के अनुभव से सिद्ध हो चुकी है। इस सम्बन्ध में किसी एक संस्था का उल्लेख करना न्यायोचित न होगा, क्योंकि अनेक सोसाइटियों और ट्रस्टों ने कालेजों, प्रशिक्षण संस्थाओं, अनेक उच्च तथा प्राथमिक विद्यालयों और छात्रावासों के भवनों का निर्माण पूर्णतया उन्हीं छात्रों के परिश्रम द्वारा किया है, जो उनका उपयोग करते हैं।

शिक्षण संस्थाओं में आधारभूत भौतिक सुविधाओं की वृद्धि के लिए अध्यापकों के नेतृत्व में छात्रों के श्रम का उपयोग करने से अनेक लाभ होंगे इससे जो छात्र अपना निर्वाह स्वयं अपने उपार्जन द्वारा करना चाहते हैं, उन्हें सहायता मिलेगी और अपने व्यय का कम से कम कुछ अंश स्वयं उपार्जन करने का अवसर मिल जायगा। इस व्यवस्था से जिस भौतिक परिवेश (एनवायरनमेंट) में वे रहते हैं, उसके सुधार में भी सहायता मिलेगी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह अस्वास्थ्यकर परिवेश भी उनमें कटुता की भावना जगाने वाला एक बड़ा कारण है। यह भी समझ लिया जाना चाहिये कि यदि विद्यालय को सामाजिक जीवन का केन्द्र बनाना है, और उससे बालकों और किशोरों को सर्वांगीण विकास में सहायता लेनी है, तो उसमें क्रीड़ा क्षेत्रों और उद्यानों, सभाभवनों और विश्राम कक्षों तथा पुस्तकालयों और वाचनालयों का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के कार्यक्रमों से अध्यापकों को अपने छात्रों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अवसर मिलेगा और छात्रों को अपनी ऊर्जा के प्रयोग के लिए अनेक सृजनात्मक मार्ग मिल जायेंगे।

इस प्रकार के 'अपनी सहायता आप करो' कार्यक्रमों के अतिरिक्त विद्यालय और कालेज ऐसी योजनाएँ प्रारम्भ कर सकते हैं, अथवा ऐसी योजनाओं में सहायता दे सकते हैं, जिसमें छात्रों को श्रम करने के बदले पैसा दिया जाता हो और उस श्रम से समाज की सम्पत्ति में वृद्धि होती हो। इस सम्बन्ध में जिन उदाहरणों का तुरन्त ध्यान आता है, वे हैं स्थानीय संस्थाओं अथवा गैरसरकारी संगठनों द्वारा रात्रि-विद्यालयों और स्वास्थ्य केन्द्र जैसी सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था; अथवा सार्वजनिक उद्यानों, क्रीड़ा-क्षेत्रों और उपवनों जैसी सुविधाओं का प्रबन्ध।

राज्य को इस सम्बन्ध में भी कदम उठाना चाहिये कि विद्यालयों के बालकों को या तो बिलकुल मुफ़्त या केवल नाममात्र मूल्य पर मध्याह्नाश टिफिन, दोपहर का हल्का भोजन) दिया जाय। विद्यालयों में मिलने वाले मध्याह्नाश का परिणाम इंग्लैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका के विद्यालयों में इतना अच्छा हुआ है कि इस एक अकेले उपाय से छात्रों का नैतिक बल इतना उन्नत हो गया है कि उतना अन्य किसी भी एक उपाय से नहीं हुआ। मध्याह्नाश के लिए छात्रों से मामूली धनराशि ली जा सकती है, परन्तु प्रिंसिपल या प्रधानाध्यापक को यह अधिकार होना चाहिये कि वह अपने विवेक के आधार पर कम से कम ऐसे विद्यार्थियों को मध्याह्नाश मुफ्त देने की अनुमति दे, जो उसके लिए मूल्य दे नहीं सकते। जहाँ कहीं सम्भव हो, इस प्रकार के मुफ्त मध्याह्नाश के बदले छात्रों से काम करा लिया जाय। बुनियादी शिक्षा प्रणाली में इस बात की आशा दीखती है कि बालक विद्यालय की निधियों के लिए कुछ धनराशि दे सकेंगे। इस प्रकार प्राप्त होने वाली धनराशियों का इससे अच्छा और कोई उपयोग नहीं हो सकता कि उन्हें बालकों के मध्याह्नाश पर ही व्यय कर दिया जाय। यदि उसके बाद भी कुछ धनराशि बच रहे, तो उसका उपयोग विद्यार्थियों को विद्यालय की सादगीपूर्ण वर्दी देने के लिए किया जा सकता है।

(ग) वर्तमान शिक्षा प्रणाली के दोषों का सुधार

वर्तमान शिक्षा प्रणाली के बड़े पैमाने पर पुनर्गठन करने में अवश्य ही काफी समय लगेगा। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का पुनर्गठन एक अविच्छिन्न प्रक्रिया होगी, क्योंकि शिक्षा जैसी सजीव वस्तु में कोई भी दशा अन्तिम नहीं

समझी जा सकती। फिर भी हमारे पहले दिये गये विश्लेषण को दृष्टि में रखते हुए कुछ स्पष्ट दीख पड़ने वाले दोषों को तुरन्त हटाया जा सकता है और हटाया जाना भी चाहिये। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

(अ) विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग और माध्यमिक शिक्षा आयोग, दोनों ने ही किशोरों की विविध रुचियों और अभियोग्यताओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन का सुझाव प्रस्तुत किया था। प्रारम्भिक शिक्षा सब बालकों के लिए एक रूप हो सकती है, क्योंकि प्रारम्भिक शिक्षा काल में शिक्षा का लक्ष्य बालक को कुछ आवश्यक जानकारी दे देना और उसमें विचार और कार्य करने की कुछ निश्चित आदतें डाल देना भर होता है। परन्तु किशोरावस्था के आगमन के साथ बालकों की रुचियों और अभियोग्यताओं में अन्तर बहुत स्पष्ट दीख पड़ने लगता है। इसलिए माध्यमिक शिक्षा प्रारम्भिक शिक्षा की अपेक्षा अधिक विविधतापूर्ण होनी चाहिये। इस समय नयी संस्थाओं के रूप में, अथवा विद्यमान संस्थाओं को रूपान्तरित करके बहुमुखी विद्यालयों की स्थापना का प्रस्ताव सरकार के सम्मुख है। यह आशा की जाती है कि माध्यमिक शिक्षा काल में पाठ्यक्रमों की और अधिक विविधता होने के कारण किशोरों की अधिकाधिक संख्या विशुद्ध शास्त्रीय अध्ययन को छोड़कर दूसरे क्षेत्रों में चली जायगी। इससे विश्वविद्यालयों पर दबाव कुछ कम हो जायगा। इससे अनेक युवकों और युवतियों को किशोरावस्था की समाप्ति पर लाभदायक व्यवसाय में काम मिल जायगा और इससे उनमें पाये जाने वाले असन्तोष और निराशा की भावना का एक बड़ा कारण दूर हो जायगा।

पाठ्यक्रम की संरचना में इन परिवर्तनों के साथ-साथ बालकों को शारीरिक और नैतिक शिक्षा देने की भी व्यवस्था की जानी चाहिये। कालेजों और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए नेशनल कैडेट कोर जैसी संस्थाओं का सदस्य होना सैनिक शिक्षा के दृष्टिकोण से उतना मूल्यवान नहीं है, जितना कि वह युवकों और युवतियों के शारीरिक विकास और उनमें नियमितता और अनुशासन की आदतें उत्पन्न करने की दृष्टि से मूल्यवान है। हमारा अन्तिम लक्ष्य यह होना चाहिये कि जो भी विद्यार्थी चाहें, उन सबको इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जा सके। किन्तु इस लक्ष्य को पूरा करना शायद वित्तीय

कठिनाइयों के कारण आसान न हो। फिर भी इस प्रकार की सुविधाएँ इतनी बढ़ायी जानी चाहियें कि इस प्रकार का प्रशिक्षण चाहने वाले सब विद्यार्थियों को कम से कम एक साल तक नेशनल कैडेट कोर का सदस्य रहने का अवसर मिल सके।

नेशनल कैडेट कोर पर होने वाले व्यय को दृष्टि में रखते हुए सब समर्थ शरीर वाले विद्यार्थियों के लिए सेना और शारीरिक शिक्षा का कोई और सरलतर रूप प्रारम्भ किया जा सकता है। इस प्रकार के पाठ्यक्रमों के लिए नेशनल कैडेट कोर में प्रशिक्षण पाये हुए छात्र नेता और शिक्षक का काम कर सकते हैं। इस प्रकार इस योजना पर होने वाला व्यय भी बहुत कम हो जायगा और प्रशिक्षित कैडेटों को नेतृत्व करने का अवसर मिल जायगा। जो भी छात्र नेशनल कैडेट कोर में भरती होना चाहते हों, उन सबके लिए इस प्रकार के प्रशिक्षण की सुविधा प्राप्त होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त जिस भी छात्र में कोई शारीरिक दोष न हो, उसे शारीरिक बल की अनेक प्रकार की परीक्षाओं में नियत न्यूनतम क्षमता अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। शारीरिक व्यायाम को छात्रों की शिक्षणात्मक दिनचर्या का ही एक भाग बना देने से न केवल उनके अनुशासन को सुधारने में सहायता मिलेगी, अपितु उनमें एक नया उत्साह भी भर जायगा।

विद्यालय के बालकों के लिए बालचर आन्दोलन और मार्ग-दर्शन प्रायः चरित्र के विकास और पहल करने की शक्ति (प्रारंभण) के लिए सर्वोत्तम अवसर प्रदान करते हैं। ये गतिविधियाँ बालकों की ऊर्जाओं के उपयोग के लिए न केवल स्वस्थ और उपयोगी मार्ग प्रदान करती हैं, अपितु उन्हें कहीं अधिक आत्मविश्वासी और प्रत्युत्पन्नमति भी बना देती हैं। ये गतिविधियाँ उनमें समाज की सेवा की भावना विकसित करने में भी सहायक होती हैं। यह ठीक है कि इस प्रकार की गतिविधियों में भाग लेना अनिवार्य न किया जाय, परन्तु इनके बारे में सुविधाएँ इतनी बढ़ायी जायँ और उनकी सदस्यता इतनी आकर्षक बना दी जाय कि जिससे मुश्किल से ही कोई ऐसा बालक बने, जो उनमें भाग न ले रहा हो।

(आ) पाठ्यक्रमों के विविधीकरण और सह पाठ्यक्रम गतिविधियों में वृद्धि करने के साथ-साथ वर्तमान परीक्षा प्रणाली का भी पुनर्गठन करना आवश्यक

है। इस समय अन्तिम परीक्षा पर अनुचित रूप से बहुत अधिक बल दिया जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वर्ष के अधिकांश भाग में किशोरों की ऊर्जाओं का कोई उपयोग नहीं हो रहा होता। यदि इन विद्यार्थियों को सारे साल निरन्तर काम करने के लिए विवश किया जाय, तो विद्यार्थियों में आजकल जो अशान्ति और अनुशासनहीनता विद्यमान है, वह बहुत कुछ समाप्त हो जायगी। निरन्तर कार्य में जुटे रहने के कारण विद्यार्थियों की फालतू ऊर्जा का सदुपयोग हो जायगा और उन्हें शरारत करने के लिए अवसर ही न मिलेगा। इससे उनमें निरन्तर कार्य करने की आदत का विकास हो सकेगा; और इस प्रकार की आदत का विकास भी शिक्षा एक बड़ा लक्ष्य है। इस प्रकार परीक्षा की प्रणाली का इस प्रकार का पुनर्गठन, जिसमें विद्यार्थी की योग्यता की जाँच उसके वर्ष भर में किये हुए कार्य के अभिलेख (रिकार्ड) और साथ ही साथ अन्तिम परीक्षा में किये गये उसके कार्य द्वारा की जायगी, अधिकांश विद्यार्थियों के जीवन में एक नया अनुशासन उपस्थित कर सकेगा।

(इ) इस समय विद्यालयों और कालेजों दोनों में ही अध्यापन कक्षों में अध्यापन की जो पद्धतियाँ विद्यमान हैं, उनमें भी परिष्कार किया जाना आवश्यक है। आजकल सामान्यतया होता यह है कि अध्यापक भाषण दे रहा होता है या पाठ पढ़ा रहा होता है और विद्यार्थी बिलकुल निष्क्रिय श्रोता मात्र होते हैं। क्योंकि विद्यार्थियों से सचेत रहने की अपेक्षा नहीं की जाती, इसलिए उनका ध्यान इधर-उधर भटकने लगता है और ऐसा विशेष रूप से तब होता है, जब कि पढ़ाने वाला अध्यापक या पढ़ाया जा रहा विषय शुष्क और नीरस हो। नीरवधानता और उदासीनता में एक कदम का ही अन्तर है। जब एक बार पाठ के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो जाती है, तो कक्षा के अनुशासन का आधार डगमगा जाता है और कुछ ही समय बाद अनुशासनहीनता अनेक बाह्य रूपों में प्रकट होने लगती है। अब यह बात लगभग सभी जगह स्वीकार की जाती है कि प्रारम्भिक कक्षाओं के विद्यार्थियों को ऐसी गतिविधियों में लगाया जाना चाहिये, जिनमें वे निरन्तर व्यस्त बने रह सकें और उन्हें अध्यापन कक्ष के कार्य में रुचि उत्पन्न हो। बड़ी आयु के विद्यार्थियों के लिए ट्यूटोरियल कक्षाओं, सैमिनारों और वाद-विवादों का आयोजन करके इसी प्रकार के परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। जहाँ विद्यार्थियों को कक्षा के कार्य में सक्रिय रूप से भाग

लेना पड़ता है, वहाँ पर कार्य के अनुशासन के कारण उनके चरित्र का विकास होता है और उसके फलस्वरूप वे विद्यालय समाज के अपेक्षाकृत अच्छे सदस्य बन पाते हैं।

इस समय जो अध्यापन पद्धति सामान्यतया प्रचलित है, उसमें छात्रों को कम काम करना पड़ता है और अध्यापकों को अधिक। यदि भाषणों और उपदेशों का बोझ कुछ कम हो जाय, तो अध्यापक छात्रों के काम का पर्यवेक्षण भली भाँति कर सकता है। ट्यूटोरियलों और सैमिनारों की पूरी तरह विकसित प्रणाली के लिए अध्यापकों की संख्या में काफी वृद्धि करने की आवश्यकता होगी और शायद इसीलिए इस प्रणाली को वित्तीय दृष्टि से निकट भविष्य में चालू कर पाना सम्भव न हो। परन्तु इस कठिनाई को यदि पूरी तरह हल करने में न भी सही, तो भी कम करने में दो उपायों से सहायता मिल सकती है। एक उपाय तो यह है कि भाषण या प्रवचन के लिए जितने घंटे अब दिये जाते हैं, उनकी संख्या कम कर दी जाय और उस समय का उपयोग विद्यार्थियों के समूहों के काम का पर्यवेक्षण करने में किया जाय। दूसरा उपाय यह है कि वरिष्ठ (सीनियर) या योग्यतर छात्रों का उपयोग अपेक्षाकृत छोटे छात्रों के काम के पर्यवेक्षण के लिये किया जय। यदि इन दो उपायों का विवेकपूर्ण ढंग से प्रयोग किया जाय, तो इससे कक्षा का आकार छोटा हो जायगा और इस प्रकार अध्यापकों को अपने शिष्यों के साथ और अधिक घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने में सहायता मिलेगी। इस प्रणाली में क्योंकि छात्रों को अधिक प्रयत्न करना होगा और कार्य में पहल करनी होगी, इसलिए उन्हें प्राप्त होने वाली शिक्षा भी अब की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट कोटि की होगी। साथ ही इससे अध्यापकों को छात्रों पर व्यक्तिशः अथवा छोटे-छोटे समूहों के रूप में अधिक ध्यान देने का अवसर मिलेगा। इस प्रकार अध्यापक द्वारा भाषण या प्रवचन पर से जोर हटाकर छात्रों के सक्रिय सहयोग पर जोर दे देने से वर्तमान शिक्षा प्रणाली की एक बड़ी दुर्बलता को समाप्त करने में सहायता मिलेगी।

(ई) आज कल यह जो आग्रह किया जाता है कि सबसे निचले स्तरों को छोड़ कर शेष सभी नौकरियों के लिए विश्वविद्यालय की उपाधि अवश्य ही होनी चाहिये, यह भी समाप्त कर दिया जाना चाहिये। इंग्लैंड के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि बिना विश्वविद्यालय की उपाधि का आग्रह किये भी

सार्वजनिक सेवाओं में पर्याप्त संख्या में योग्य व्यक्तियों की भरती की जा सकती है। वस्तुतः नौकरी के साथ विश्वविद्यालय की उपाधि का सम्बन्ध समाप्त कर देने पर इंग्लैंड में विश्वविद्यालयों और सार्वजनिक सेवाओं दोनों पर ही बड़ा लाभकारी प्रभाव हुआ है; और हम आशा कर सकते हैं कि भारत में भी विश्व-विद्यालय की उपाधि का नौकरी के साथ सम्बन्ध समाप्त कर देने से ऐसा ही परिणाम होगा।

विश्वविद्यालय की उपाधि की शर्त उड़ा देने से एक और ढंग से भी सामान्य वातावरण के सुधार में सहायता मिलेगी और उसका अनुशासन की समस्या पर प्रत्यक्ष प्रभाव दिखायी पड़ेगा। इंग्लैंड में विभिन्न स्तर की सेवाओं के लिए भरती का आधार आयु होती है। इसका परिणाम यह होता है कि १९ वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते अधिकांश नवयुवक विभिन्न पेशों और व्यवसायों में लग चुके होते हैं। जब वे सुनिश्चित रूप से अपने कार्यों पर लग जाते हैं, उसके बाद उन्हें अपनी-अपनी विशिष्ट कार्य-दिशाओं में और आगे प्रशिक्षण दिया जाता है। वे थोड़े-से युवक, जो आगे अध्ययन जारी रखते हैं, इस दृष्टि से पढ़ रहे होते हैं कि या तो वे उच्चतर शिक्षा प्राप्त करें, या उन व्यवसायों के लिए योग्यता प्राप्त करें, जिनके लिए वैज्ञानिक या प्राविधिक ज्ञान की काफी अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है। भारत में भी इस प्रकार की प्रणाली प्रारम्भ हो जाने पर विश्वविद्यालयों और कालेजों से वे बहुत-से छात्र बाहर चले जायेंगे, जो वहाँ बिना किसी उद्देश्य के पढ़ रहे होते हैं और प्रायः उच्चतर शिक्षा पाने के लिए अयोग्य होते हैं।

(उ) विद्यालयों के वातावरण का कुछ और अधिक प्रजातन्त्रीकरण होना चाहिये, जिससे छात्रों में स्वतन्त्रता और पहल करने की भावना कुछ और अधिक उत्पन्न हो। हाल के वर्षों में युवकों के काफी बड़े वर्ग में आदेशों का उल्लंघन करने की जो मनोवृत्ति उत्पन्न हो गयी है, वह अंशतः उनकी सत्ता के सामने चुपचाप सिर झुका देने की पहले की मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया है। यदि विद्यार्थियों को अपने सीमित क्षेत्र के अन्दर स्वाधीनता न दी जाय, तो इसमें क्या आश्चर्य है कि जब उनके निरीक्षण में जरा ढील हो, तो उसी समय वे छात्र उच्छृङ्खलता पर उतर आयें। जहाँ पर छात्रों को खेलों या सांस्कृतिक या शिक्षण सम्बन्धी गतिविधियों में आत्म अभिव्यक्ति का अवसर मिलता रहता

है, वहाँ पर सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कभी भी इतना स्पष्ट और गम्भीर नहीं होता। जहाँ पर विद्यार्थियों की स्वतन्त्रता की अनेक आकांक्षाओं को बाहर निकलने के लिए साधारण और स्वस्थ द्वार नहीं मिल पाते, वहाँ पर विद्यार्थी ऐसी गतिविधियों की ओर झुकने लगते हैं, जो असामाजिक या समाज विरोधी होती हैं। अनुशासन का विकास उत्तरदायित्व की भावना से होता है, और उत्तरदायित्व की भावना केवल उत्तरदायित्व को व्यवहार में लाने से ही उत्पन्न हो सकती है।

विद्यार्थियों को कुछ और अधिक आत्मशासन का अवसर देने के उपायों में यहाँ उस एक प्रणाली का उल्लेख विशेष रूप से कर देना उचित है, जिसमें विद्यालय को कुछ सदनों (हाउस) में बाँट दिया जाता है। फिर इनमें से प्रत्येक सदन को कुछ कक्षाओं में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक कक्षा में बीस या पच्चीस विद्यार्थी होते हैं और उनका कार्यभार एक अध्यापक को सौंप दिया जाता है। इस अध्यापक की सहायता के लिए एक या एक से अधिक मानीटर नियुक्त किये जाते हैं। मानीटरों के चुनाव में शिक्षा की योग्यता की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्व दिया जाता है। कक्षाओं में अनुशासन बनाये रखने के लिए इन मानीटरों को काफी अधिकार दिया जाता है। हमें इस प्रणाली को अपनी स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार यथोचित संशोधन करके अपना लेना चाहिये।

इतना ही नहीं, विभिन्न कक्षाओं के मानीटरों को मिलाकर एक मानीटर-परिषद् बनायी जानी चाहिये। इस परिषद का काम सारे विद्यालय में अनुशासन बनाये रखना हो। प्रिंसिपल या प्रधानाध्यापक को चाहिये कि वह इन मानीटरों को उनकी कक्षाओं के नेता के रूप में और मानीटर-परिषद् को सारे विद्यालय के सामूहिक नेतृत्व के रूप में मान्यता दे। थोड़े-से मामूली परिष्कार के बाद यह प्रणाली कालेजों और विश्वविद्यालयों में और भी अधिक सफल हो सकनी चाहिये।

मानीटर-परिषद् एक 'जुवेनाइल कोर्ट आफ आनर' के रूप में भी काम कर सकती है। यह सामान्य अनुभव की बात है कि यदि बालकों को उनके गौरव या इज्जत का ध्यान दिला दिया जाय, तो वे अनुशासनहीनता तथा अन्य अवांछनीय कामों से दूर ही दूर रहते हैं। गौरव की भावना को जगाने की

प्रणाली बिलकुल प्रारम्भिक कक्षाओं से लेकर विश्वविद्यालय की कक्षाओं तक विकसित की जानी चाहिये।

विद्यार्थियों को आत्म अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न रूपों में अवसर दिया जाना चाहिये। इसके लिए एक और भी महत्वपूर्ण कारण विद्यमान है। जीवन में हमें अनेक महत्वपूर्ण पाठ 'यत्न करो और गलती सुधारो' के नियम से सीखने पड़ते हैं। यह कहीं अधिक अच्छा है कि यत्न और गलती के ये परीक्षण एक ऐसे क्षेत्र में हो जायँ, जहाँ गलती के फलस्वरूप समाज के लिए कोई बड़ा खतरा उत्पन्न न हो। यदि विद्यार्थियों को अपने मामलों को खुद सम्हालने का अधिकाधिक अवसर दिया जाय, तो अनुशासन और उत्तरदायित्व की भावना को, जो राजनीतिक संघर्ष के वर्षों में बहुत कुछ नष्ट हो चुकी है, फिर से जाग्रत करने में तिहरा प्रभाव पड़ेगा। वे लोग व्यस्त और कार्यरत रहेंगे और अपनी ऊर्जाओं का प्रयोग उपयोगी गतिविधियों के लिए करेंगे; उन्हें नागरिकता और आत्म शासन की कला में प्रशिक्षण मिल जायगा, जिससे वे अपने बाद के जीवन में उन गलतियों से वच सकेंगे, जिनसे अन्यथा समाज की संरचना को ही क्षति पहुँचती; और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वे इन स्वेच्छा से स्वीकृत कार्यों को पूर्ण करके आत्मानुभूति का आनन्द प्राप्त कर सकेंगे।

(घ) छात्रों में जीवन-मूल्यों की भावना को फिर से जाग्रत करने के उपाय

हम पहले ही इस तथ्य का उल्लेख कर चुके हैं कि विद्यार्थियों में विद्यमान अशान्ति और अनुशासनहीनता आधुनिक जगत् के समाज की एक सामान्य रुग्णता का ही अंग है। यदि हमें यह शिकायत है कि युवकों के एक बड़े वर्ग में आदर्श-वाद का अभाव है, तो यह स्वयं इस बात पर आक्षेप है कि समाज की जीवन-मूल्यों की भावना समाप्त हो चुकी है। विद्यार्थी समाज के एक अविभाज्य और सम्भवत: सबसे अधिक अनुभूतिशील वर्ग हैं। यह स्पष्ट है कि जब तक समाज का सामान्य स्वभाव गन्दा और कमीना है, तब तक हम छात्रों में भी जीवन-मूल्यों की प्रबल भावना की आशा नहीं कर सकते। इससे केवल यह तथ्य और भी अधिक सुस्पष्ट हो उठता है कि शिक्षा एक सामाजिक कृत्य है, और इसकी उन्नति या अवनति भी समाज की सामान्य उन्नति या अवनति पर निर्भर है।

यदि हमें विद्यार्थियों में आदर्शवाद की भावना फिर से जगानी है, तो हमें एक ऐसा सामाजिक वातावरण तैयार करना होगा, जिसमें जीवन-मूल्यों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता हो और विद्यार्थियों में उनको प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हो। इस प्रकार यह समस्या मुख्यरूप से स्वयं समाज में ही जीवन-मूल्यों के प्रति आदर उत्पन्न करने की समस्या है।

इस बात को जितनी बार दुहराया जाय, उतना ही कम है कि इस समय समाज में अध्यापकों की जो स्थिति है, उसके फलस्वरूप जीवन-मूल्यों के प्रति हमारी भावनाएँ बचपन से ही कुम्हला जाती हैं। वस्तुतः नयी पीढ़ी में जीवन-मूल्यों के ह्रास का यह भी एक बड़ा कारण है। अध्यापक की वास्तविक दुर्दशा उस सबका जीता-जागता निषेध है, जो सिद्धान्ततः अध्यापक का उचित प्राप्य माना जाता है। सिद्धान्त और व्यवहार की ऐसी ज्वलन्त विषमता छात्र के विश्वास के आधार को ही खोखला कर देती है। इस प्रकार के खीझे और चिढ़े हुए अध्यापकों का आचरण छात्रों के विश्वास के लिए और भी हानिकारक होता है। यह सिद्धान्त कि 'आचरण उपदेश की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है' बालकों के विषय में जितना सत्य है, उतना शायद और कहीं नहीं। भग्नाश, स्नेहहीन और दरिद्र अध्यापकों का आचरण छात्रों के आचरण के प्रमाप को, और इसीलिए समाज के आचरण के प्रमाप को नीचे गिरा देता है। अध्यापक की सामाजिक प्रतिष्ठा को उन्नत करने और उसके नेतृत्व को फिर से स्थापित करने के लिए हमने जो उपाय सुझाये हैं, यदि उन्हें क्रियान्वित किया जाय, तो छात्रों में आदर्श-वाद के ह्रास का एक प्रमुख कारण समाप्त हो जायगा।

यदि एक बार अध्यापकों की सामाजिक प्रतिष्ठा फिर से स्थापित हो जाय, तो यह आशा की जा सकती है कि इस पेशे में जीवन-मूल्यों के प्रति आदर की भावना फिर उत्पन्न हो जायगी। ऐसे उपाय सोचे जा सकते हैं, जिनसे छात्रों में समाज के प्रति कर्तव्य की भावना जाग्रत हो। सभी देशों में विद्यार्थियों का निर्वाह दूसरे लोगों के प्रयत्न से होता है और उन्हें पोषण समाज की सम्पत्ति से प्राप्त होता है। भारत जैसे देश में, जहाँ प्रति व्यक्ति वार्षिक आय ३०० रुपये भी नहीं, एक विद्यालय के छात्र का व्यय समाज के ऊपर ५०० से ६०० रुपये प्रति वर्ष से कम नहीं पड़ता, और कालेज या विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले छात्र का व्यय १००० रुपये वार्षिक के लगभग पड़ता है। क्योंकि छात्र अपने

अध्ययन काल में सामाजिक सम्पत्ति के उत्पादन में मुश्किल से ही कोई योग देते हैं, इसलिए इसका अर्थ यह है कि विद्यालय में पढ़ने वाले एक बालक का भरण-पोषण करने के लिए तीन व्यक्तियों की प्रति व्यक्ति होने वाली आय की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार कालेज के विद्यार्थी के निर्वाह का व्यय चार या पाँच व्यक्तियों की प्रति व्यक्ति होने वाली आय के बराबर होता है। इस तथ्य के कारण सभी विद्यार्थियों के ऊपर एक विशेष उत्तरदायित्व आ पड़ता है। अपना अध्ययन समाप्त करने के बाद उन्हें समाज को उससे कुछ अधिक ही लौटाने का प्रयत्न करना चाहिये, जितना कि उन्होंने समाज से प्राप्त किया है। यदि वे इतना न भी कर सकें तो भी उन्हें कम से कम समाज को उतना तो लौटा ही देना चाहिये, जितना समाज ने उनके ऊपर व्यय किया है।

छात्रों में समाज के प्रति कर्तव्य की भावना को उत्पन्न करने का एक उपाय यह है कि उन्हें समाज सुधार की विभिन्न परियोजनाओं के साथ सम्बन्ध बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। किशोरावस्था के आगमन के साथ उन्हें यह बात अनुभव कर लेनी चाहिये कि शिक्षा एक बड़ा विशेषाधिकार है, जो समाज ने उन्हें दिया है और भावी नागरिकता की तैयारी के प्राथमिक कर्तव्य के रूप में न्यायोचित रूप से उन्हें अपने समाज से लिए हुए ऋण का कुछ अंश तो लौटा देने का यत्न करना ही चाहिये। छात्रों के सक्रिय सहयोग से अनेक प्रकार की समाज-सेवाओं का विकास किया जा सकता है। कुछ देशों में कालेजों और विद्यालयों ने पड़ोस के किसी एक गाँव को अपने हाथ में ले लिया है और उसकी उन्नति के लिए अनेक रूपों में कार्य किया है। कुछ अन्य देशों में छात्रों तथा अन्य युवकों ने राष्ट्रीय विकास और पुनर्निर्माण के कार्यक्रमों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया है। भारत में राष्ट्रीय जीवन के पुनर्निर्माण के कार्यक्रमों में कार्य करने के लिए, चाहे वे कार्यक्रम सामुदायिक परियोजनाओं के रूप में हों, या राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं के रूप में, या पिछड़े हुए क्षेत्रों में शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी आधारभूत सेवाओं की व्यवस्था करने के रूप में हों, युवकों के लिए बड़ा उत्तम अवसर विद्यमान है।

हमने विश्वयुद्धों के दुष्परिणामों और सारे संसार में भौतिकवादी विचार-धारा का ऊपर उल्लेख किया है। जहाँ यह ठीक है कि उनके दुर्भावनाजनक प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता, वहाँ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये

कि युद्ध के अनुभव ने करोड़ों व्यक्तियों में किस प्रकार कर्तव्य और बलिदान की भावना जगा दी है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् युवक लोग न्याय, समानता और स्वतन्त्रता पर आधारित शान्ति के सपने लेने लगे थे। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद संसार के विशालसंख्यक लोगों को स्वाधीनता प्राप्त हो गयी है और सामाजिक न्याय का आदर्श सभ्य समाज के ताने-बाने का ही एक अंग बन गया है। चाहे जो हो, हमें यह अवश्य याद रखना चाहिये कि आदर्शवाद किशोरावस्था की सबसे बड़ी विशेषता है। जीवन की इस अवस्था में भावनाओं का एक सहसा अभ्युत्थान होता है और युवक लोग किसी आदर्श के लिए बड़े से बड़ा जोखिम उठाने को तैयार हो जाते हैं। कठिनाइयों और संकटों को झेलने का युवकों को विशेष चाव होता है; और यदि उनके सम्मुख सही आदर्श उपस्थित किये जायँ, तो बलिदान की कोई ऐसी सीमा नहीं है, जहाँ तक वे पहुँच न सकें।

यहाँ, युवकों में आदर्शवाद की भावना उत्पन्न करने में धर्म का क्या हाथ हो सकता है, इस सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना उचित होगा। धर्म उन अनेक मानसिक द्वन्द्वों को समाप्त कर देता है, जिनके कारण व्यक्ति के विचार और क्रियाशक्ति पंगु बनी रहती है। धर्म ऐसी ऊर्जाओं को उन्मुक्त कर देता है, जो कठिनाई या पराजय को स्वीकार करना जानती ही नहीं। धर्म के द्वारा व्यक्ति को अपने आपसे बड़ी शक्तियों के साथ एकाकार होने का न केवल अवसर मिलता है, अपितु इसके लिए प्रोत्साहन भी प्राप्त होता है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति को लोभ और स्वार्थ के बन्धनों से ऊपर उठने में समर्थ बनाता है। जब धर्म कट्टर सिद्धान्तों और विधि-विधानों के फेर में पड़ जाता है, तभी वह एक संकुचित करने वाला तत्व बन जाता है और लोगों में पारस्परिक संघर्ष का कारण बनता है। व्यक्ति को आत्मा के बन्धन से मुक्ति दिलाने वाले विस्तृततर पहलू की दृष्टि से धर्म मनुष्य को उन्नत बनाने वाली महानतम शक्तियों में से एक है।

क्योंकि किशोरावस्था में मन किसी भी महान उद्देश्य को अंगीकार करने के लिए सबसे अधिक तैयार होता है और उस उद्देश्य के लिए सब कुछ बलिदान करने को उद्यत होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि इन विस्तृत अर्थों में छात्रों को धर्म के इस उदार बनाने वाले प्रभाव से वंचित न रखा जाय। कट्टर

सिद्धान्तों और विधि-विधानों से रहित यह धर्म उन महान मानवीय आदर्शों को प्रकट करेगा, जिनके द्वारा सारे विश्व का नीति शास्त्र बना है। यदि विद्यार्थियों को मानव के इन महान आदर्शों के सम्पर्क में न लाया जायगा तो उनके जीवन दरिद्र और अर्थहीन बने रहेंगे।

छात्रों को इन आदर्शों के सम्पर्क में लाने का एक तरीका यह है कि विद्यालयों और कालेजों में प्रति दिन एक प्रार्थना सभा हो, जिसमें सब विद्यार्थियों को एकत्र होकर मानव जाति के सांझे उत्तराधिकार की सम्पत्ति में से हिस्सा बँटाने का अवसर प्राप्त हो। कुछ मिनटों के लिए एक जगह एकत्र होना, चाहे फिर वह बिलकुल मौन और निःशब्द ही क्यों न हो, विद्यार्थियों को इस बात का स्मरण करा देता है कि वे एक ही शिक्षा-जगत् के समान रूप से सदस्य हैं। इस प्रकार प्रार्थना सभा का अपने आप में एक बड़ा महत्व है; क्योंकि इससे सब विद्यार्थियों को अनुशासन में रह कर एक सांझे अनुभव में भाग लेने का अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त सांझे रूप से पूजा करने अथवा महान ग्रन्थों को पढ़ने से उन्हें इस बात का भी अवसर मिलता है कि वे कुछ उच्चतर जीवन-मूल्यों के सम्पर्क में आ सकें और इस बात को अनुभव कर सकें कि सभी मानवीय आदर्श और महत्वाकांक्षाएँ मूलतः एक ही हैं। यह सामान्य अनुभव की बात है कि जिन विद्यालयों और कालेजों में प्रार्थना सभा होती है, उनके छात्रों में सुनिश्चित रूप से अनुशासन और बन्धुत्व की भावना कहीं अधिक होती है।

मानवीय आदर्शों की मूलभूत एकता को अनुभव कर लेने के फलस्वरूप अपने इतिहास और राष्ट्रीय परम्पराओं के अध्ययन के नवीनीकरण के कार्यक्रम को क्रियान्वित करना भी सरल हो जायगा। आधुनिक संसार में अधिकांश संघर्ष और कटुता केवल इस कारण है कि इतिहास गलत ढंग से पढ़ाया जाता है। बहुत हाल तक भी इतिहास को केवल युद्धों और विजयों का एक अभिलेख मात्र समझा जाता था; उसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इसलिए मनुष्यों और राष्ट्रों का मूल्यांकन इस दृष्टि से नहीं किया गया कि उन्होंने मानव-कल्याण में क्या योग दिया, अपितु इस दृष्टि से किया गया कि उन्होंने रणक्षेत्र में कितनी सफलता प्राप्त की। यहाँ तक कि राष्ट्रीय परम्पराओं को भी अपने राष्ट्र के अत्यधिक गौरव और अभिमान को उभारने के साधन के रूप में प्रयुक्त किया गया।

व्यक्ति और राष्ट्र सैनिक विजयों में अत्यधिक अभिमान अनुभव करते रहे हैं और वे यह भूल गये हैं कि युद्धों का परिणाम अनिवार्य रूप से यह होता है कि पहले तो भौतिक, और बाद में नैतिक प्रमाप नीचे गिर जाते हैं।

यदि अतीत में युद्धों के कारण मानव-प्रगति में बाधा पड़ी है और उनके कारण समाज की दशा अवनत हुई है, तो आधुनिक युग में तो यह खतरा उत्पन्न हो गया है कि कहीं युद्धों के कारण मनुष्य का अस्तित्व ही समाप्त न हो जाय। इसलिए यह बड़ी आवश्यक बात है कि आजकल विद्यार्थी संसार को पहले की अपेक्षा अधिक सही रूप में देखें; और इस बात को अनुभव करें कि मनुष्य का इतिहास अधिकाधिक प्रकाश, स्वाधीनता और मधुरता की ओर एक चिरयुग से चली आ रही लम्बी यात्रा है, जिसमें विभिन्न राष्ट्रों, देशों और युगों के नर-नारियों ने कभी तो जानते-बूझते, और अनेक बार बिना यह अनुभव किये कि उनका लक्ष्य और प्रयत्न एक ही है, परस्पर सहयोग किया है। अब तक मनुष्य ऊपरी सतह पर दीख पड़ने वाले संघर्ष और प्रतियोगिता के प्रति अधिक संवेदनशील रहे हैं, और उस सहयोग के प्रति कम संवेदनशील, जो सम्पूर्ण मानव-प्रगति का आधार है। परन्तु अब उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि यह बात, कि अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए संघर्ष ही जीवन का नियम है, केवल अर्ध सत्य है।

जहाँ कभी-कभी प्रतियोगिता ने प्रगति की ओर बढ़ने में सहायता दी है, वहाँ सहयोग प्राणियों के जीवित रहने का आधार रहा है। मनुष्य के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से सत्य है। अपनी दुर्बल इन्द्रियों और स्वल्प शारीरिक शक्ति के द्वारा भी वह शेष सृष्टि पर केवल इसलिए विजय प्राप्त कर सका, क्योंकि वह इतने बड़े पैमाने पर सहयोग कर सकता था, जितना कि अन्य कोई पशु नहीं कर सकता था। यह सहयोग भाषा के कारण सम्भव हो सका। भाषा के कारण उसमें अत्यन्त सूक्ष्म सुनिश्चितता के साथ, और अनुभव के इतने बड़े क्षेत्र में अपने विचारों का आदान-प्रदान करने की शक्ति आ गयी, जो अनुपम है। क्योंकि भाषा एक ऐसा सामाजिक उत्तराधिकार है, जो शिक्षा के द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी आगे चलता चला जाता है, इसलिए शिक्षकों का समाज के प्रति यह कर्तव्य है कि वे सहयोग के उस तत्व पर विशेष बल दें, जो भाषा के माध्यम

से किये जाने वाले सब सम्पर्क स्थापनों (कम्युनिकेशन); संचारणों में निहित है।

हमने ऊपर इस बात का उल्लेख किया है कि युवकों में आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक असुरक्षा की भावना के कारण किस प्रकार सिड़ीपन-सा आ गया है और आदर्शों का ह्रास हो गया है। हमने ऊपर कुछ उपायों का भी संकेत किया है, जो युवकों के मन से इस असुरक्षा की भावना को समाप्त करने के लिए आवश्यक हैं। अध्यापकों, छात्रों और माता-पिताओं के बीच घनिष्ठतर पारस्परिक सम्पर्क स्थापित होने से युवकों में समुदाय की भावना विकसित होगी और इसके फलस्वरूप वे आत्मीयता का अनुभव कर सकेंगे। जब एक बार युवकों में यह अनुभूति उत्पन्न हो जायगी, तब वे निरुद्देश्यता की उस भावना से भी बहुत पीड़ित नहीं रहेंगे, जिसके कारण वे आजकल किंकर्तव्यविमूढ़-से रहते हैं। भले ही इस समय संयुक्त परिवार प्रणाली समाप्त हो चुकी है, फिर भी अध्यापकों और माता-पिताओं के सहयोग से बालक को वे जीवन-मूल्य काफी कुछ मात्रा में प्राप्त हो सकते हैं, जो पहले इस प्रणाली द्वारा प्राप्त होते थे। समाज में सहयोग के महत्व की बात केवल विभिन्न समूहों के मध्य अव्यक्त सम्बन्धों के वर्णन पर ही समाप्त नहीं हो जानी चाहिये, अपितु उसके अन्तर्गत विभिन्न आयु और विभिन्न सम्बन्धों वाले व्यक्तियों के साथ होने वाले दैनिक सम्पर्कों का भी वर्णन आ जाना चाहिये। यदि आजकल के युवक यह अनुभव कर सकें कि उनके पूर्वजों की परम्परा अभी तक भी जीवित है, और बढ़ रही है, तो उनकी किसी की आत्मीय न होने की भावना समाप्त हो जायगी।

परम्पराओं को पुनरुज्जीवित करने के लिए एक आवश्यक शर्त यह है कि परिवर्तन की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया जाय। युवकों के सामाजिक दिशा से भटक जाने का एक बड़ा कारण यह है कि अलग-अलग पीढ़ियाँ मानसिक दृष्टि से एक दूसरे से दूर होती हैं। प्रत्येक पीढ़ी अपने विचारों के साथ चिपकी रहती है और उनमें किसी प्रकार की वृद्धि या परिवर्तन को स्वीकार करने को तैयार नहीं होती। क्योंकि तरुण पीढ़ी की पृष्ठभूमि और परिवेश अलग होता है, इसलिए उसे पुराने आदर्श बेमौजूँ जान पड़ते हैं। इसलिए यदि पुरानी पीढ़ी इस बात को अनुभव कर ले कि उसके आदर्शों को अपनाने से पहले नयी पीढ़ी उनमें थोड़ा-बहुत हेर-फेर अवश्य करेगी, तो पिताओं और पुत्रों के बीच होने

वाले विवादों का एक बड़ा कारण समाप्त हो जायगा। इसके साथ ही साथ आजकल की नयी पीढ़ी में पायी जाने वाली अशान्ति और जीवन-मूल्यों का ह्रास भी बहुत कुछ समाप्त हो जायगा।

ऊपर बताये गये उपायों से विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता और अशान्ति की समस्या को हल करने में काफी सहायता मिलेगी। परन्तु यदि इस अध्ययन में दिये गये सब सुझावों को भी अपना लिया जाय, तो भी किन्हीं तात्कालिक और जादू के-से परिणामों की आशा करना मूर्खता होगी। यह भी सम्भव नहीं है कि इन सब उपायों का प्रयोग एक साथ किया जा सके। इन उपायों के रूप में हम न केवल शिक्षा सुधार के, अपितु समाज सुधार के भी उपाय प्रारम्भ कर रहे होंगे। जहाँ शिक्षा भावी नागरिक को प्रशिक्षण देती है, वहाँ यह भावी समाज के स्वरूप का भी निर्धारण करती है। इस प्रकार की शिक्षा का मूल्य शिक्षा को प्रदान करने वाले अध्यापकों के चरित्र और कार्य क्षमता पर निर्भर होता है। यही कारण है कि समाज का भविष्य उसके अध्यापकों की उत्कृष्टता पर निर्भर रहता है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि अकार्यक्षम और असन्तुष्ट अध्यापक समाज की नींव को ही खोखला कर देते हैं। उनकी अकार्यक्षमता और असन्तोष की छूत बालकों को लग जाती है और इस प्रकार क्रांति, विघटन और विनाश के बीज बो दिये जाते हैं। इसके विपरीत आदर्शों में आस्था रखने वाले और परम्पराओं के निरन्तर पुनरुज्जीवन के लिए कृतसंकल्प अध्यापकों का दल मानव जाति के लिए असीम उन्नति और समृद्धि की दशाएँ प्रस्तुत कर सकता है।

अध्याय ९

शिक्षा का नियत कर्तव्य

प्राय: लोगों में यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि वे शिक्षा का मूल्यांकन उसकी मानवीय गुणों को विकसित करने की क्षमता द्वारा नहीं, अपितु उसकी नौकरी दिलाने की क्षमता द्वारा करते हैं। जहाँ इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि शिक्षा का यह काम है कि वह व्यक्तियों को समाज का सृजनशील सदस्य बनाये, वहाँ यह प्रश्न भी अवश्य उठाया जा सकता है कि क्या नौकरी दिलाना शिक्षा का मुख्य ध्येय है? यह स्पष्ट है कि यह प्रारम्भिक या माध्यमिक शिक्षा तक का भी लक्ष्य नहीं हो सकता। प्रारम्भिक शिक्षा अधिक से अधिक बालक की शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का विकास कर सकती है; उसे आवश्यक ज्ञान की एक न्यूनतम मात्रा प्रदान कर सकती है और उसमें सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक आदतें डाल सकती है। यदि समाज ने स्थितिशील (जड़) ही न बने रहना हो, तो माध्यमिक शिक्षा का भी लक्ष्य ऐसे युवक तैयार करना होना चाहिये, जिनमें किसी एक ही संकुचित क्षेत्र में योग्यता प्राप्त कारीगर बने रहने के बजाय नये ज्ञान और नयी प्रविधियों (टैक्नीक) का विकास करने की क्षमता विद्यमान हो ।

माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति के बाद हम शिक्षा को व्यावसायिक या पेशे सम्बन्धी प्रशिक्षण और उच्चतर शिक्षा, इन दो भागों में बाँट सकते हैं। व्यावसायिक या पेशे सम्बन्धी प्रशिक्षण समाज के बने रहने के लिए बहुत आवश्यक है। परन्तु केवल एकमात्र इस प्रकार के प्रशिक्षण पर सारा ध्यान

केन्द्रित कर लेना खतरे से खाली नहीं है। अनेक समाजों ने अपने सबसे अधिक होनहार युवक छात्रों को इस प्रकार का अत्यधिक विशेषज्ञता का प्रशिक्षण दिलवाया; और कई बार उन्हें स्वयं क्षति उठाकर यह समझना पड़ा कि उत्पादन की पद्धतियों में परिवर्तन हो जाने अथवा प्रकृति के नियमों और प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान के बढ़ जाने के कारण इस प्रकार के उच्च प्रशिक्षित लोग बिलकुल बेकार हो गये; और कई बार तो ऐसी दशा हो गई कि उनको कोई काम दे पाना ही असम्भव हो गया।

इस पेशे सम्बन्धी प्रशिक्षण से बिलकुल भिन्न, उच्चतर शिक्षा एक अव्यक्त प्रकार की शिक्षा है और प्रायः उसका जीवन की व्यावहारिक समस्याओं से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु इसकी अव्यक्तता इसका रक्षक गुण है; क्योंकि इसके कारण इस प्रकार की शिक्षा विश्वजनीन ढंग की शिक्षा बन जाती है। किसी एक विशेष क्षेत्र तक सीमित न रहने के कारण यह मन को उन सामान्य सत्यों तक ऊँचा उठ पाने में समर्थ बना देती है, जो हमें आध्यात्मिक जगत् की पहली झलक दिखा पाते हैं। इन विश्वजनीन सत्यों का अनुसन्धान ही समस्त मानव-प्रगति का आधार भी है।

१

वस्तुतः इस प्रश्न का कोई सरल उत्तर नहीं दिया जा सकता कि शिक्षा केवल उन विषयों तक सीमित रहनी चाहिये, जिनका सम्बन्ध मनुष्य मात्र से समान रूप से है, या अलग-अलग व्यक्तियों की विशिष्ट योग्यताओं के प्रशिक्षण की दृष्टि से दी जानी चाहिये। इस विरोध को प्रकट करने का लोकप्रिय ढंग यह है कि इसे जीवन के लिए शिक्षा बनाम पेशे के लिए शिक्षा के रूप में वर्णित किया जाय। परन्तु ज्योंही यह प्रश्न इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है, त्योंही अनेक सन्देह उठ खड़े होते हैं। 'जीवन के लिए शिक्षा' इस वाक्यांश से हमारा ठीक-ठीक क्या अभिप्राय है? सामान्य रूप से जीवन जैसी कोई वस्तु नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति किसी विशिष्ट समाज का सदस्य होता है और उस समाज में उसका जो भी विशिष्ट स्थान होता है, उसके साथ जुड़े हुए कुछ निश्चित विशिष्ट कृत्यों को वह करता है। यदि जीवन में किसी विशिष्ट स्थान के साथ जुड़े हुए किन्हीं सुनिश्चित कर्तव्यों पर जोर दिया जाय, तो 'जीवन के लिए शिक्षा' और

'पेशे के लिए शिक्षा' इन दोनों का अन्तर समाप्तप्राय· हो जाता है।

इसी प्रकार यदि हम यह जाँचने का यत्न करें कि पेशे के लिए शिक्षा का क्या अर्थ है, तो भी वही परिणाम निकलता है। कोई भी पेशा अपने आप में जीवन का एक ढंग मात्र होता है; और इस कारण पेशे के लिए दी जाने वाली शिक्षा जीवन के किसी विशेष ढंग के लिए दी जाने वाली शिक्षा है। हमें इस सम्बन्ध में भी सावधान ही रहना चाहिये कि जीवन में व्यक्ति की पदस्थिति (स्टेशन) की धारणा को बहुत दूर तक न खींचा जाय। पदस्थिति पर बहुत जोर देने का परिणाम यह हो सकता है कि समाज बड़े कठोर रूप से विभिन्न स्तरों में बँट जाय और उसके फलस्वरूप कोई जाति या वर्ग की-सी संरचना (स्ट्रक्चर) उत्पन्न हो जाय, जिसमें व्यक्ति का काम किसी पहले से निर्धारित विशिष्ट कृत्य को करना भर हो। यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय, तो 'जीवन के लिए शिक्षा' और 'किसी पेशे के लिए शिक्षा' के बीच का अन्तर फिर लुप्त हो जाता है। यहाँ पर इस बात की ओर भी संकेत कर देना उचित होगा कि व्यक्ति की पदस्थिति के ऊपर बहुत जोर देने का परिणाम अधिक सम्भव यही है कि एक स्थितिशील (स्टेटिक) समाज तैयार हो जाय। मानव प्रगति की एक मुख्य दिशा यह रही है कि वर्ग अथवा जाति की कठोर संरचना से दूर हटा जाय और व्यक्ति को अपने भविष्य के व्यवसाय का चुनाव करने के लिए अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाय।

इस प्रकार सामान्य रूप से स्वीकार किये जाने वाला विरोध बनाये नहीं रखा जा सकता; और इससे यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि समय-समय पर शिक्षा के उद्देश्यों के नये सिरे से परिभाषा करने की आवश्यकता होती है। जब इन उद्देश्यों को स्पष्ट रूप में हृदयङ्गम कर लिया जाय, उसके बाद ही हम जिसे सामान्य शिक्षा कहा जा सकता है, उसका सम्बन्ध विशेषताप्राप्त शिक्षा के साथ जोड़ने का प्रयत्न कर सकते हैं। इन उद्देश्यों का सर्वांग सम्पूर्ण विश्लेषण एक छोटे-से निबन्ध में नहीं किया जा सकता। शिक्षा की प्रकृति को ठीक-ठीक रूप में समझने के लिए हमें मन की प्रकृति और उसकी क्रियाओं के विश्लेषण, और मानव मन के समाज और संसार के साथ सम्बन्ध को आधार बनाना होगा। इस प्रकार के विश्लेषण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले विस्तृत विचार क्षेत्र में न जाकर हम उन चार परस्पर सम्बद्ध किन्तु एक दूसरे

से पृथक् प्रयोजनों को समझने का प्रयत्न करेंगे, जो शिक्षा का लक्ष्य समझे जा सकते हैं। शिक्षा का पहला प्रयोजन व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करना है। शिक्षा का एक प्रयोजन व्यक्ति को उस संसार के सम्बन्ध में ज्ञान देना भी है, जिसमें कि वह रहता है। तीसरा प्रयोजन यह है कि व्यक्ति में उन निपुणताओं को विकसित किया जाय, जो सामाजिक जीवन को बनाये रखने और उन्नत करने के लिए आवश्यक हैं, जिससे व्यक्ति समाज का एक सृजनशील सदस्य बन सके। इन तीनों के साथ सम्बद्ध, परन्तु साथ ही इन तीनों से बिलकुल पृथक् एक चौथा प्रयोजन भी है, और वह है—व्यक्ति की जीवन-मूल्यों की खोज की आकांक्षा को पूरा करना।

इन चारों में से प्रत्येक उद्देश्य का उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और सुनिश्चित विवेचन करने की आवश्यकता है, जितना कि यहाँ किया जा सकता है। जब हम व्यक्तित्व के विकास की बात कहते हैं, तो हमारा अभिप्राय व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक और आध्यात्मिक योग्यताओं की वृद्धि और परिपक्वता से होता है। अविकसित शरीर केवल शारीरिक वृद्धि के अभाव का नाम नहीं होता, बल्कि उसमें कुछ स्पष्ट विध्यात्मक (पोजीटिव) अवांछनीय विशेषताएँ भी पायी जाती हैं। इसी प्रकार अविकसित मन में न केवल बौद्धिक स्वतन्त्रता का विकास नहीं होता, बल्कि वह मन अन्ध विश्वास, सुधारों के विरोध, भय और द्वेष का भी एक स्रोत बना रहता है। यह सामान्य अनुभव की बात है कि किसी बालक को स्नेह न देने का अर्थ केवल इतना नहीं है कि बालक संवेगों की दृष्टि से क्षुधित रह जाय, अपितु वह दूसरों के लिए एक संकट का और भ्रष्टता फैलाने का स्रोत बन जाता है। व्यक्तित्व के आध्यात्मिक विकास की परिभाषा कर पाना और भी अधिक कठिन हो सकता है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अन्य मामलों की भाँति इस क्षेत्र में भी वृद्धि न हो पाना केवल एक अभाव मात्र नहीं है, अपितु एक ऐसी निषेधात्मक वस्तु है, जिसका कि स्वयं उस व्यक्ति पर तथा दूसरों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः इस सम्बन्ध में सोचते हुए आश्चर्य जगत् में भटकने वाली बालिका ऐलिस की दशा का ध्यान आ जाता है। वह देखती है कि उसे अपनी जान बचाने के लिए भागना पड़ता है, और फिर भी वह वहीं रहती है, जहाँ वह पहले खड़ी थी। वृद्धि होने में असफलता के पश्चात् व्यक्ति वहीं नहीं रहता,

जहाँ कि वह पहले था, अपितु ऐसी असफलता उसे अपने प्रारम्भ बिन्दु से भी कुछ नीचे की ओर वापस धकेल देती है।

शिक्षा का दूसरा उद्देश्य भौतिक जगत् का, और उसके साथ-साथ समाज के विचारों और आदर्शों का ज्ञान प्राप्त कराना है। इस प्रकार के ज्ञान के बिना व्यक्ति बना भी नहीं रह सकता, फिर अपने व्यक्तित्व का विकास करना तो दूर की बात है। वस्तुत: व्यक्तिगत विकास और समाज की सेवा, दोनों के लिए ही इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होना एक आवश्यक शर्त है। कई बार शिक्षा को केवल जानकारी प्राप्त करने के तुल्य समझा जाता है; परन्तु हमें इस सम्बन्ध में सावधान रहना चाहिये कि भौतिक संसार या विचारात्मक (आइ-डियेशनल) परिवेश के अलग-अलग ज्ञान में से किसी भी एक पर आवश्यकता से अधिक अनुचित बल न दिया जाय; क्योंकि इस संसार को समझने के लिए हमारे लिए ये दोनों ही प्रकार के ज्ञान समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। फिर भी जिस संसार में हम रहते हैं, उसके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना शिक्षा के सभी कार्य-क्रमों का मूलाधार है।

शिक्षा के तीसरे लक्ष्य तक पहुँचने के लिए व्यक्तित्व का विकास और परि-वेश के सम्बन्ध में ज्ञान की प्राप्ति, दोनों ही आवश्यक हैं। व्यक्ति केवल समाज में रहते हुए ही अपना कृत्य (फंक्शन) करता रह सकता है। यदि व्यक्ति की वृद्धि और विकास के साथ-साथ इस परिवेश में परिवर्तन और विकास न हो, तो तनावों का उत्पन्न हो जाना अनिवार्य है। सच तो यह है कि अनुकूल परिवेश से व्यक्ति की वृद्धि और विकास में सहायता मिलती है, और प्रतिकूल परिवेश से बाधा पड़ती है। दूसरी ओर, अलग-अलग व्यक्तियों की प्रगति अथवा दुर्दशा का परिणाम समाज की उन्नति या अवनति होता है। यदि कोई व्यक्ति समाज का सृजनशील सदस्य बनना चाहता है, तो उसे न केवल अपनी वृद्धि को बनाये रखना होगा, अपितु समाज की वृद्धि में भी कुछ न कुछ योग देना होगा। आज-कल की सामाजिक दशाओं में व्यक्ति को अपनी सारी सीमित ऊर्जा समाज को सक्रिय बनाये रखने में लगानी पड़ती है। दूसरी ओर प्रगति के लिए इस बात की आवश्यकता होती है कि समाज जितनी कुछ सफलता प्राप्त कर चुका है, उससे आगे बढ़ा जाय। क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में हमारी ऊर्जा का अधिकांश भाग केवल सामान्य स्थिति को बनाये रखने में ही लग जाता है, इस

लिए उससे आगे बढ़ने के लिए असाधारण प्रयत्न की आवश्यकता होती है। फिर भी यह एक ऐसी जिम्मेदारी है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी सीमा तक पूरा करना ही चाहिये। जब तक हम कुछ दें नहीं, तब तक हम कुछ ले नहीं सकते; और जब तक हम कुछ लें नहीं, तब तक कुछ दे भी नहीं सकते।

यह परिस्थिति इस तथ्य के कारण और भी उलझ जाती है कि समाज के सदस्य के रूप में नियत कर्तव्य को पूरा करने के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति का एक अक्षुण्ण व्यक्तित्व भी है, जो बिलकुल निराला है। मनुष्य को अपनी आन्तरिक प्रकृति की माँगों को पूर्ण करके ही सन्तोष प्राप्त हो सकता है। इसे हम जीवन-मूल्यों की खोज अथवा आत्म-ज्ञान की यात्रा कह सकते हैं। परन्तु हम चाहे इस-का वर्णन किसी भी रूप में क्यों न करें, प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर एक ऐसा तत्व होता है, जहाँ पहुँचकर वह अपनी सामाजिक आवश्यकताओं से ऊपर उठ जाता है। वह आत्मज्ञान को केवल अपने समाज की माँगों को पूरा करके अथवा अपने पेशे के कृत्यों को पूर्ण करके प्राप्त नहीं कर सकता।

ऊपर इस विरोधाभास का उल्लेख किया जा चुका है कि 'जीवन के लिए शिक्षा' का अर्थ वस्तुत: 'जीवन में किसी विशेष कृत्य के लिए शिक्षा' भी हो सकता है। दूसरे शब्दों में यदि 'जीवन के लिए शिक्षा' की संकुचित अर्थों में व्याख्या की जाय, तो उसे पेशे के लिए शिक्षा से पृथक् कर पाना कठिन ही है। फिर भी पहले बताये जा चुके कारणों से इन दोनों के बीच अन्तर करना ही होगा। एक ओर तो, समाज की प्रगति पदस्थिति (स्टेटस) से युगबन्ध (कन्ट्रैक्ट) की ओर तथा कठोरता से तरलता (प्रवहणशीलता) की ओर है; दूसरी ओर समाज के वर्तमान संगठन में इसके अधिकांश सदस्यों की लगभग सारी शक्ति सभ्यता के केवल उस प्रमाप को बनाये रखने में लगा देनी पड़ती है, जो कि अब तक प्राप्त किया जा चुका है। यह सम्भव है कि समाज-विकास की ओर अधिक प्रगति होने पर हमें यह पता चले कि मनुष्य में सृजनशील ज्योति उस-की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप से व्यापक हो गयी है, जितना कि हम इस समय कल्पना करते हैं; परन्तु अब की अपेक्षा अधिक सुखी समाज में भी लोगों की इस सृजनात्मक ज्योति की आभा में अन्तर रहेगा ही। यह सम्भव है कि भविष्य में समाज के सब सदस्य सामान्य सामाजिक कल्याण में अब की अपेक्षा अधिक

योग दे सकें, परन्तु वस्तुतः महत्त्वपूर्ण प्रगतियाँ उस समय भी अब की ही भाँति प्रतिभाशाली व्यक्तियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही होंगी। परन्तु इससे पहले कि ऐसा कोई प्रयत्न किया जा सके, हमें इस बात को देखना होगा कि ऐसा प्रयत्न करने वाला व्यक्ति या व्यक्ति-समूह समाज के अधिकांश सदस्यों के सांझे प्रमाप को तो प्राप्त कर चुका है। भविष्य के लिए नये परीक्षण केवल इस समय तक प्राप्त सफलताओं के आधार पर ही किये जा सकते हैं।

शिक्षा के पहले दो उद्देश्य हैं—व्यक्ति के विभिन्न गुणों का विकास करना, और उसे संसार का कुछ ज्ञान प्रदान करना। जहाँ तक इनमें से पहले उद्देश्य का सम्बन्ध है, हमें उन विशेष कृत्यों के सम्बन्ध में विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है, जो व्यक्ति को बाद के जीवन में करने पड़ सकते हैं। विशेषज्ञता-प्राप्ति शिक्षा के दूसरे उद्देश्य में दीखनी शुरू होती है और इसके द्वारा ही वास्तविकता के उन पहलुओं का निर्धारण होता है, जिनका उस व्यक्ति को कुछ अधिक या कुछ कम गहरा ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। जब हम शिक्षा के तीसरे और चौथे उद्देश्यों पर विचार करते हैं, तो यह विशेषज्ञता-प्राप्ति और भी अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ने लगती है। कोई भी व्यक्ति सामाजिक लक्ष्यों को बनाये रखने या उन्हें उन्नत करने में, और इस प्रकार समाज का एक सृजनशील सदस्य बनने में केवल अपने व्यक्तिगत ढंग से ही योग दे सकता है। इसी प्रकार उसका पुरातन जीवन-मूल्यों को हृदयंगम करना और नये जीवन-मूल्यों का अनुसन्धान भी उसकी व्यक्तिगत क्षमता पर ही आधारित होगा। आत्मज्ञान प्रकृत्या ऐसी वस्तु है, जो मुख्यतः एक वैयक्तिक कृत्य है। धर्म के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह वह वस्तु है, जिसकी साधना मनुष्य एकांत में करता है। विज्ञान, दर्शन और कला के मूल्य निस्सन्देह सामाजिक जीवन को समृद्ध बनाते हैं, परन्तु धर्म की भाँति वे भी मुख्यतया मनुष्य की एकांत साधना के ही परिणाम हैं।

इस प्रकार पहली दृष्टि में यह दिखाई पड़ता है कि शिक्षा का पहला लक्ष्य हमें सामान्य शिक्षा के सिद्धान्त की ओर ले जाता है; और तीसरा लक्ष्य विशेष गुणों और योग्यताओं के प्रशिक्षण का सुझाव प्रस्तुत करता है। दूसरे लक्ष्य में संसार का सामान्य ज्ञान और किन्हीं खास व्यवसायों के उपयुक्त विशेष ज्ञान,

दोनों ही आ जाते हैं। चौथा उद्देश्य इनमें से किसी भी श्रेणी में नहीं आता और वह सबसे अलग ही रहता है।

परन्तु विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी कि इन लक्ष्यों में किया गया इस प्रकार का अन्तर टिक नहीं सकता। इनमें से प्रत्येक उद्देश्य दूसरे उद्देश्यों का समर्थक है और उनसे समर्थित भी है। इस बात का एक ज्वलन्त उदाहरण यह है कि जीवन के भौतिक प्रमापों में उन्नति उन अव्यक्त अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप हुई है, जिनका पहली दृष्टि में व्यावहारिक समस्याओं से कोई सम्बन्ध दिखायी नहीं पड़ता।

२

अब हम यह देखने का यत्न करते हैं कि क्या शिक्षा के इन प्रयोजनों का सम्बन्ध शिक्षा की अलग-अलग दशाओं से जोड़ा जा सकता है? परन्तु इस सम्बन्ध में एक चेतावनी दे देना आवश्यक है। किसी विशेष प्रयोजन का सम्बन्ध किसी विशेष दशा से जोड़ने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह प्रयोजन शिक्षा की अन्य दशाओं में काम नहीं कर रहा होगा। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कोई विशिष्ट प्रयोजन किसी विशिष्ट दशा में और दशाओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

अब यह बात स्पष्ट है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास और संसार के सामान्य ज्ञान की प्राप्ति का प्रारम्भ प्राथमिक या प्रारम्भिक स्तर से होना चाहिये। यह दशा बचपन के प्रारम्भ से लेकर किशोरावस्था के आगमन के भी कुछ बाद तक बनी रहती है। इस दशा में किन्हीं सुनिर्दिष्ट निपुणताओं या योग्यताओं के विकास का कोई प्रश्न नहीं उठता। इस स्तर पर शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य यह है कि बालक को वह ज्ञान प्रदान कर दिया जाय, जो उसके समाज में अन्य सदस्यों को प्राप्त है; और बालक में उन शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक और नैतिक आदतों का विकास कर दिया जाय, जो उसके जीवित रहने और प्रगति करने के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जीवन की इस प्रारम्भिक दशा में उसकी अभियोग्यताएँ भी बहुत कुछ अभिन्न ही होती है। इसी लिए हम बालकों को दी जाने वाली शिक्षा को सामान्य ढंग की शिक्षा कह सकते हैं, और प्राय: कहते भी हैं।

जहाँ प्रारम्भिक शिक्षा उद्देश्य की दृष्टि से सबसे अधिक सामान्य है, वहाँ साथ ही यह सब दशाओं की अपेक्षा सुव्यक्त (कौंक्रीट) भी है। हम बालक को उस संसार का, जिसमें कि वह रहता है, ज्ञान केवल आसपास की वस्तुओं से प्रारम्भ करके ही दे सकते हैं। जो भी निपुणताएँ हम उसमें विकसित करना चाहते हैं वे भी उनके परिवेश की तात्कालिक आवश्यकताओं पर आधारित होनी चाहियें। यदि प्राथमिक शिक्षा को अपना वास्तविक लक्ष्य पूरा करना है, तो वह समाज के स्थानीय अनुभव पर आधारित होनी चाहिये। क्योंकि इस प्रकार का अनुभव एक विशिष्ट ढंग का होता है, इसलिए प्राथमिक शिक्षा उद्देश्य की दृष्टि से, और शायद प्रणाली की दृष्टि से भी सामान्य होते हुए भी विषय की दृष्टि से अन्य किसी भी दशा की शिक्षा की अपेक्षा कहीं अधिक सुनिर्दिष्ट (स्पॅसिफिक) होती है।

बुनियादी शिक्षा की धारणा में, जो हाल ही में भारत में विकसित हुई है, इसी सत्य को स्वीकार किया गया है। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य बालक को किसी ऐसी दस्तकारी के द्वारा, जिससे कि वह परिचित है, ज्ञान देकर उसके व्यक्तित्व का विकास करना है। किसी प्रचलित दस्तकारी के ऊपर आग्रह करके बुनियादी शिक्षा ने एक महत्वपूर्ण सत्य को पकड़ लिया है। यह शिक्षा इस बात को स्वीकार करती है कि बालक के लिये अव्यक्त शिक्षण न केवल एक बोझ बन जाता है, बल्कि अवास्तविक भी रहता है। दस्तकारी पर जोर देने के कारण गतिविधि का तत्व भी शिक्षा की प्रणाली में तुरन्त आ पहुँचता है। इतना ही नहीं, दस्तकारी का अर्थ एक सामाजिक दृष्टि से उपयोगी गतिविधि भी है; और इसके फलस्वरूप बालक को बिलकुल प्रारम्भ से ही समाज के एक सदस्य के रूप में अपने कर्तव्य को समझने की शिक्षा दी जाती है। किसी स्थानीय दस्तकारी पर आग्रह करने का कारण शिक्षा के इस सिद्धान्त को स्वीकार करना है कि शिक्षा परिचित से शुरू हो कर अपरिचित की ओर, या ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़नी चाहिये। अन्त में बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य बालकों में नागरिकता की आदतें डालना है और ये आदतें अव्यक्त सिद्धान्तों के द्वारा नहीं डाली जा सकतीं, क्योंकि उनका बालकों के लिये कोई अर्थ नहीं होता; अपितु ये आदतें उन्हें दैनिक जीवन में अभ्यास के द्वारा डाली जाती हैं।

बुनियादी शिक्षा के इन गुणों से ही यह बात ध्वनित हो जाती है कि प्रार-

म्भिक शिक्षा के विषय अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग ही होने चाहियें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रणाली सब जगह एक ही होगी, परन्तु विस्तार की बातें अलग-अलग स्थानों में इतनी अलग-अलग होंगी कि सावधान पर्यवेक्षक के सिवाय अन्य व्यक्ति उनके अन्दर छिपी हुई एकता को शायद पहचान ही न सके। शिक्षा के उद्देश्य सबके लिए समान होंगे, परन्तु शिक्षा की इस दशा में जिन विधियों से इन उद्देश्यों को पूर्ण किया जा सकता है, वे इस बात पर निर्भर होंगी कि शिक्षा को किस प्रकार अधिकतम सुव्यक्त और सुनिर्दिष्ट बनाया जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस बात का भी औचित्य बताया जा सकता है कि किसी सुनिर्दिष्ट परिवेश में रहते हुए भी प्रारम्भिक शिक्षा सामान्य क्यों होती है। यह शिक्षा सामान्य इसलिए होती है, क्योंकि यह बालक की विस्तृत रूप से जाग्रत जिज्ञासा को पूर्ण करती है। बालक के सम्मुख जो भी वस्तु आती है, उसके सम्बन्ध में वह 'क्यों' का उत्तर अवश्य जानना चाहता है। इस शिक्षा का उद्देश्य एक सामान्य संसार में उन विभिन्न अनुभवों को मिला कर एक करना है, जो अपने बिलकुल नये-नये रूपों में यहाँ प्राप्त होते हैं। प्रारम्भिक शिक्षा को परिवेश की दृष्टि से सुनिर्दिष्ट, किन्तु उद्देश्य की दृष्टि से सामान्य होना होगा। यह सुनिर्दिष्ट इसलिए है, क्योंकि इसका प्रारम्भ ज्ञात परिवेश से होता है। यह सामान्य इसलिए है, क्योंकि इसका उद्देश्य बालक के जीवन का समाज के जीवन के साथ समेकन (इंटैग्रेशन) करना है।

जब हम प्रारम्भिक शिक्षा से आगे बढ़कर माध्यमिक शिक्षा पर आते हैं, तो एक नया सिद्धान्त लागू हो उठता है। मनुष्य का शेष प्राणियों से अन्तर उसकी अव्यक्तीकरण (ऐब्स्ट्रैक्शन) की शक्ति के कारण है। शारीरिक शक्ति और ज्ञानेन्द्रियों की दुर्बलता की अक्षमता के होते हुए भी मनुष्य ने शेष सब प्राणियों पर इसलिए विजय प्राप्त कर ली है, क्योंकि उसमें विशिष्ट घटनाओं से सामान्य नियम निकाल पाने की क्षमता है। इस प्रकार के सामान्यीकरण का सार यह है कि असम्बद्ध या अनावश्यक वस्तु से महत्वपूर्ण वस्तु को पृथक् कर लिया जाय। किसी भी क्षण हमारा अनुभव असंख्य पृथक्-पृथक् वस्तुओं (आइटम) से पूर्ण होता है। हम अपना ध्यान भले ही किसी एक विशिष्ट वस्तु पर केन्द्रित किये हुए हों, परन्तु हम अपनी चेतना के छोरों पर अनुभव होने वाले गन्ध, शब्द और दृष्टि

के प्रभावों को बिलकुल परे नहीं कर सकते। परन्तु यदि हम इन्द्रियों के इन असंख्य अनुभवों से अपना ध्यान विचलित होने दें, तो हमें शायद कभी भी किसी एक अनुभव की अनुभूति ही न हो सके। केवल सम्बद्ध वस्तुओं को चुनने, और उनको किसी महत्वपूर्ण वस्तु के रूप में संयुक्त कर लेने के द्वारा ही हमारा अनुभव सुसंगत और बोधगम्य बन पाता है।

यह भी कहा जा सकता है कि एक दृष्टि से पशु भी अपने अनुभवों में असम्बद्ध और महत्वपूर्ण का अन्तर कर लेते हैं। अपने शिकार का पीछा करता हुआ बाघ शिकार के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की ओर ध्यान नहीं देता। फिर भी, इस प्रकार के चुनाव में और मानवीय विचार में होने वाली चुनाव की प्रक्रिया में अन्तर है। पशुओं के लिए इस प्रकार का चुनाव सदैव एक सहज वृत्ति (इंस्टिंक्ट) द्वारा संचालित क्रिया होती है। इसलिए यह पुनरावृत्ति के ढंग की, और साथ ही एक ही दिशा में होने वाली क्रिया होती है। यदि एक ही प्रकार की परिस्थिति हो, तो इस क्रिया में त्रुटि प्रायः कभी होती ही नहीं। परन्तु यदि परिस्थिति बदल जाय, तो सहज वृत्ति द्वारा संचालित प्रतिग्रह (रिस्पोंस) का परिणाम बहुत सांघातिक हो सकता है, और प्रायः होता भी है। मनुष्य के मामले में यह चुनाव सहज वृत्ति का कार्य न होकर बुद्धि का कार्य होता है। इसीलिए यह कहीं अधिक पेचीदा होता है और शायद ही कभी पुनरावृत्यात्मक होता है। क्योंकि इस प्रकार का चुनाव अव्यक्तीकरण पर आधारित होता है, इसलिए यह मनुष्य की अपने अनुभवों को अलग-अलग इकाइयों में विभक्त कर सकने की शक्ति और उन इकाइयों में परस्पर सम्बन्ध निर्धारित करने की शक्ति से प्राप्त होता है। यह शक्ति मनुष्य को विषयों की अत्यधिक पेचीदगी को एकता के ढाँचे में ढालने में समर्थ बनाती है और अन्य सब पशुओं की अपेक्षा मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार यही शक्ति है। यह बात मनुष्य की अपने विचारों को दूसरे व्यक्तियों तक पहुँचाने की क्षमता के रूप में स्पष्ट देखी जा सकती है। पक्षी और पशु आवाजें करते हैं, किन्तु उनका अर्थ बहुत सीमित होता है। लेकिन एक मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जिसने सुस्पष्ट ध्वनियों के द्वारा भाषा का सृजन किया है।

जहाँ विश्लेषण की शक्ति मनुष्य को अन्ततोगत्वा अन्य सब प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ बना देती है, वहाँ जब तक इन शक्तियों का समुचित विकास न

हो, तब तक वह अन्य पशुओं की तुलना में अपेक्षाकृत असहाय रहता है। अधिकांश प्राणियों के मामले में जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक निपुणता उन्हें किशोरावस्था की समाप्ति से पूर्व ही प्राप्त हो जाती है। मानव किशोर, विशेष रूप से आधुनिक समाज का मानव किशोर, अपनी देख-रेख स्वयं उचित रूप से कर पाने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के मामले में किशोरावस्था की अवधि भी अपेक्षाकृत लम्बी है। इसलिए उसकी जीवन के लिए तैयारी सारे बाल्यकाल में और किशोरावस्था में, और उसके बाद भी जारी रहती है।

माध्यमिक शिक्षा काल को मोटे तौर पर किशोरावस्था की अवधि के बराबर समझा जा सकता है। कुल मिला कर बालकपन की विशेषताएँ बड़ी स्पष्ट और एकरूप होती हैं। इसलिए बालकों के साथ व्यवहार करते हुए व्यक्ति अपने आपको काफी कुछ सुदृढ़ आधार पर अनुभव करता है। उन्हें एक निश्चित मात्रा में जानकारी दी जानी होती है, और विचार और क्रिया की कुछ निश्चित आदतों का प्रशिक्षण दिया जाना होता है। दूसरी ओर, बड़ी आयु के लोगों के साथ व्यवहार में भी एक सुनिश्चित रुख अपनाया जा सकता है, क्योंकि उनकी आदतें और अभियोग्यताएँ अपेक्षाकृत पक्की हो चुकी होती हैं। परन्तु किशोर न तो बालक ही होते हैं और न वयस्क ही; और इससे भी अधिक परेशानी की बात यह है कि वे एक दौर से बड़ी तेजी से दूसरे दौर में पहुँचते जाते हैं। उस समय वे ऐसे अनेक मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों में से गुजर रहे होते हैं, जिनका व्यक्ति और समाज दोनों के लिए ही बड़ा महत्व होता है। इसके अतिरिक्त किशोरावस्था के आगमन के साथ-साथ अभियोग्यताओं और रुचियों में अन्तर और अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है; और इसलिए चुनाव के लिए विशालतर क्षेत्र की आवश्यकता होती है। अतः इस सीमा पर आकर प्रारम्भिक शिक्षा की एकरूप प्रणाली के स्थान पर रुचि, अभियोग्यताओं और योग्यता की विविधताओं को सन्तुष्ट करने के लिए काफी विविध पाठ्यक्रम रखे जाने चाहियें।

पाठ्यक्रमों के विविधीकरण (डाइवर्सीफिकेशन) और विशेषताप्राप्ति (स्पैशलाइजेशन) में बस एक कदम का ही अन्तर है। किन्हीं चुनी हुई दिशाओं में विकास का परिणाम अनिवार्य रूप से यह होता है कि विशेषज्ञताप्राप्ति के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की माँग की जाने लगे। यह माँग प्रायः यह रूप धारण

करती है कि जीवन की तैयारी के लिए किन्हीं सुनिर्दिष्ट निपुणताओं की प्राप्ति की माँग की जाय। इस सम्बन्ध में यह युक्ति दी जाती है कि जब व्यक्ति बालक के रूप में आधारभूत आवश्यक निपुणताओं को प्राप्त कर चुके, तो माध्यमिक शिक्षा काल में उसे ऐसी सुनिर्दिष्ट निपुणताएँ प्राप्त करनी चाहियें, जिनसे कि वह किसी पेशे के योग्य बन सके। यह भी युक्ति दी गयी है कि यदि ऐसा न किया जाय, तो माध्यमिक शिक्षा प्रारम्भिक शिक्षा को ही और आगे घसीटना भर रह जायगी। इस दृष्टिकोण के समर्थकों के विचार से माध्यमिक शिक्षा किसी विशिष्ट व्यवसाय के लिए शिक्षा अथवा प्रशिक्षण होनी चाहिये।

परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि माध्यमिक शिक्षा काल में किसी पेशे के लिए प्रशिक्षण की यह माँग उचित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक शिक्षा आधारभूत निपुणताएँ प्राप्त करा सकती है; परन्तु यह निपुणता प्राप्ति केवल बहुत ही सामान्य अर्थों में होती है। साथ ही प्रारम्भिक शिक्षा की अवधि इतनी छोटी होती है कि उसमें यह भरोसा नहीं किया जा सकता कि वे निपुणताएँ विद्यार्थी के मन में स्थायी रूप से जम गयी हैं। इस प्रकार यह खतरा बराबर बना रहता है कि यदि प्रारम्भिक शिक्षा काल के बाद भी कुछ वर्ष तक उनका अभ्यास न किया जाय, तो वे फिर विस्मृत हो जा सकती हैं।

फिर, प्रारम्भिक शिक्षा काल में प्राप्त किया ज्ञान इतना अल्प और इतना अनिश्चित होता है कि उसके भरोसे यह आशा नहीं की जा सकती कि व्यक्ति अपने जीवन में सरलतापूर्वक प्रगति करता चला जायगा। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य केवल अपने ही अनुभव पर निर्भर नहीं रहता, अपितु उस समाज के अनुभव पर भी निर्भर रहता है, जिसमें उसका जन्म हुआ है। क्योंकि उसके कार्य मुख्यरूप से सहजवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) पर आधारित नहीं रहते, अपितु विश्लेषण और अव्यक्तीकरण पर आधारित रहते हैं, इसलिए उसे अपने कार्य करने के लिए काफी विशाल और विविध प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार सामान्य शिक्षा को कुछ और लम्बे काल तक खींचने की माँग मनुष्य की प्रकृति पर आधारित है। यों तो इस बात की आवश्यकता सदा से ही रही है, परन्तु आधुनिक जीवन की बढ़ी हुई और निरन्तर बढ़ती पेचीदगी के कारण यह आवश्यकता कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो उठी है। इसलिए समाज को अपने यथासम्भव बड़े भाग की शिक्षा को जारी रखने की व्यवस्था

या तो माध्यमिक शिक्षा के रूप में अथवा बाद में होने वाले वयस्क शिक्षरण के रूप में अवश्य करनी चाहिये।

कुछ और भी ऐसी बातें हैं, जिनके कारण माध्यमिक शिक्षा को मुख्य रूप से वह होना चाहिये, जिसे सामान्य या उदार शिक्षा कहा जाता है। हम ऊपर किशोरों की अस्थिरता का उल्लेख कर चुके हैं। यह वह अवधि होती है, जिसमें बालक बढ़कर वयस्क बन रहे होते है, और उनकी यह वृद्धि अनेक दौरों में से गुजरती है। सम्भव है कि प्रत्येक दौर में व्यक्तित्व का कोई अलग ही पहलू अधिक प्रमुख हो। साथ ही, किसी विशिष्ट गुण (ट्रेट) के प्रकट होने के आधार पर भावी जीवन के सम्बन्ध में निश्चय करने की दृष्टि से यह समय बहुत अल्प होता है। इस दशा में भावी पेशे के सम्बन्ध में किये गये किसी भी अन्तिम निर्णय के कारण बड़ी भारी गलतियाँ हो सकती हैं। किशोरावस्था में जवान लड़कों या लड़कियों को, जहाँ तक भी सम्भव हो, अधिक से अधिक छूट दी जानी चाहिये। क्योंकि किसी विशिष्ट पेशे के सम्बन्ध में प्रशिक्षण किशोर की मनोदशा में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ-साथ बदला नहीं जा सकता, इसलिए यह आवश्यक है कि इस स्तर पर शिक्षा को यथासम्भव विशालतम आधार पर आधारित और यथासम्भव सामान्य बनाया जाय। यदि किशोर युवक या युवती को अपने पेशे का एक बार चुनाव कर लेने के बाद उस निर्णय के साथ ऐसा बाँध दिया जाय, कि वह उसे बदल ही न सके, तो विविध पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करने का अधिकांश महत्व तो समाप्त ही हो जायगा।

व्यक्ति की आवश्यकताओं के अतिरिक्त समाज की आवश्यकताएँ भी उस दशा में कहीं अधिक अच्छी तरह पूरी हो सकेंगी, जबकि माध्यमिक शिक्षा में विविध प्रकार के पाठ्यक्रमों के साथ-साथ अपेक्षाकृत अधिक सामान्य ढंग की शिक्षा ही दी जाय। किशोरावस्था ऐसा काल है, जिसमें कि व्यक्ति नयी निपुणताएँ भी प्राप्त कर रहा होता है। यही वह दशा है, जिसमें कि निपुणताएँ किसी व्यक्ति में स्थायी रूप से पक्की होकर जम सकती हैं। यदि ये निपुणताएँ अत्यधिक विशिष्ट ढंग की हों, तो इस बात का भय है कि व्यक्ति किसी एक सुनिश्चित ढाँचे में ही ढल जायगा। उस दशा में समाज की प्रणाली में यदि कोई परिवर्तन हो, तो इन निपुणताओं की न केवल उपयोगिता कम हो जायगी, अपितु उस व्यक्ति के लिए बदली हुई परिस्थितियों के साथ अपना समंजन

(साम्यस्थापन या बैठ-बिठाव) करना बहुत कठिन हो जायगा। परन्तु यदि इस स्तर पर बहुत मोटे ढंग की निपुणताएँ प्राप्त की जायँ, तो उनका प्रयोग विविध प्रकार की परिस्थितियों में कर पाने की सम्भावना बहुत बढ़ जायगी।

इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक साधारणतया एकमत हैं कि शिक्षा का उद्देश्य सामान्यीकरण करने की शक्ति प्राप्त करना है। यदि मोटे ढंग की निपुणताएँ प्राप्त कर ली जायें तो उनका प्रयोग विविध प्रकार की परिस्थितियों में किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि सामान्यीकरण की शक्ति के विकास के पहले ही अत्यधिक विशेषज्ञताप्राप्त निपुणताएँ पक्के तौर पर प्राप्त कर ली जायँ, तो सम्भव है कि बदले हुए परिवेश (एनवायरनमेंट) व्यक्ति में अपने आपको बिलकुल असहाय अनुभव करे। किसी स्थितिशील (स्टेटिक) समाज में इस प्रकार की निपुणताओं को पक्का करने का प्रयत्न किसी सीमा तक उचित कहा जा सकता है, परन्तु जिस समाज में परिवर्तन बड़ी तीव्र गति से हो सकते हों, उसमें ऐसा प्रयत्न करना बहुत खतरनाक होगा। आजकल का समाज विशेषरूप से गतिशील है। आज के व्यवहारों के स्थान पर कल बिलकुल नये व्यवहार आ खड़े होते हैं। इस तेजी से बदलते हुए संसार में व्यक्ति को उत्कृष्टतर जीवन के लिए तैयार करने के बजाय छोटी उमर में ही उसे विशेषज्ञता प्राप्त निपुणताओं में पक्का कर देना उसे परिवर्तित होते हुए काल की चुनौती का सामना करने में कम समर्थ बना देना है।

जो कुछ माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में कहा गया है, वही थोड़े-से हेर-फेर के साथ उच्चतर शिक्षा पर भी लागू होता है। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि माध्यमिकोत्तर (पोस्ट सैकन्डरी) शिक्षा में सामान्य निपुणताओं को पक्का करने की आवश्यकता इतनी तीव्र नहीं होती। समाज को यह आशा करने का अधिकार है कि माध्यमिक शिक्षा काल में इस प्रकार की निपुणताएँ न केवल प्राप्त हो चुकी होंगी, अपितु पक्की भी हो चुकी होंगी। समाज को यह भी आशा करने का अधिकार है कि माध्यमिक शिक्षा में व्यक्ति के अन्दर अव्यक्त विचार और सामान्यीकरण की शक्ति भी विकसित हो गयी होगी। यह भी आशा की जाती है कि इस माध्यमिक शिक्षा काल की समाप्ति तक व्यक्ति में विचार की स्पष्टता और जीवन मूल्यों का मूल्यांकन करने की आधारभूत मानवीय विशेषताएँ भी विकसित हो गयी होंगी। इसलिए इस दशा के पश्चात् विशिष्ट निपुणताओं की

प्राप्ति पर ध्यान केन्द्रित करने में वैसा जोखिम नहीं है, जैसा कि माध्यमिक शिक्षा काल में होता है। यदि हम यह मान लें कि समाज के सदस्यों ने माध्यमिक शिक्षा पूरी करने के समय तक मानव प्राणियों और नागरिकों के रूप में साधारण बुद्धिमत्ता प्राप्त कर ली है, तो इससे आगे चल कर वे मुख्य रूप से अपना ध्यान उन विशिष्ट नियत कर्तव्यों की तैयारी की ओर लगा सकते हैं, जो उन्हें आगे चल कर समाज में पूरे करने पड़ेंगे। उनके ये नियत कर्तव्य किन्हीं विशिष्ट पेशों को करने वाले कामकाजी लोगों के कर्तव्य भी हो सकते हैं, या फिर ये उन विद्वान् मनुष्यों के नियत कर्तव्य हो सकते हैं, जो अपने जीवन का ध्येय सत्य की खोज करना ही बना लेते हैं।

हम यह कह चुके हैं कि इस दशा में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य विशिष्ट निपुणताओं को प्राप्त करना है, परन्तु इस प्रकार का विशेषज्ञता प्राप्ति का विकास सामाजिक सद्भावना और अन्तर्दृष्टि के अधिकाधिक गहरा होने के साथ-साथ होना चाहिये। जीवन के अर्थ और उद्देश्य के सम्बन्ध में हमारी समझ हमारे अनुभव की गहराई और विविधता पर निर्भर होती है। स्पष्ट है कि किशोरावस्था में प्राप्त हुआ परिमित अनुभव इस प्रयोजन के लिए पर्याप्त नहीं है। यह अनुभव हमें वयस्क जीवन के दौरान में प्राप्त करना होगा। हमें यह भी याद रखना होगा कि जिसे हम किसी विशिष्ट पेशे के लिए शिक्षा का नाम देते हैं, उसमें, यदि उसे पूर्णतया सन्तोषजनक बनाना है, तो उदार शिक्षा के आधारभूत जीवन-मूल्य अवश्य विद्यमान रहने चाहियें। हम चाहे किसी पेशे को क्यों न अपनायें, वह अवश्य ही किसी न किसी सामाजिक आवश्यकता पर आधारित होता है। इस प्रकार की आवश्यकताओं में अग्रता (प्रायोरिटी) का निर्माण करना ही जीवन-मूल्यों का मूल्यांकन है, और इसी के कारण किसी पेशे को उसका सामाजिक महत्व प्राप्त रहता है। इस महत्व को ठीक-ठीक समझने से न केवल व्यक्ति का जीवन समृद्ध बनता है, अपितु वे तत्व भी बहुत सुव्यक्त हो जाते हैं, जिनसे वह पेशा बना है, और इस प्रकार, जैसा कि व्हाइटहैड ने कहा है, पेशे के लिए दी जाने वाली शिक्षा में निहित उदार जीवन-मूल्य समाने आ जाते हैं।

यहाँ चेतावनी के रूप में एक बात कह देना आवश्यक है। जिस रूप में आजकल माध्यमिक शिक्षा संगठित है, उससे व्यक्ति को सदैव संसार का आव-

श्यक ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता, और न उसमें वह विचारात्मक बुद्धिमत्ता और अनुशासित कल्पना ही विकसित हो पाती है, जिसकी कि माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति पर आशा की जा सकती है। प्रायः होता यह है कि व्यक्ति के विस्तृत आधार वाली शिक्षा को प्राप्त करने के पहले ही, जिससे कि वह समाज का सृजनशील सदस्य बन सकता था, किसी एक संकीर्ण लीक पर विशेषज्ञताप्राप्ति प्रारम्भ हो जाती है। यही कारण है कि हमें कभी-कभी ऐसे अनेक विशेषज्ञ मिलते हैं, जो अपने क्षेत्र से बाहर बौद्धिक और संवेगात्मक दृष्टि से अपरिपक्व होते हैं। बुद्धिमत्ता या समझदारी के अभाव में उनका ज्ञान अपने आप में समाज के लिए एक संकट बन सकता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपने माध्यमिकोत्तर स्तर के पाठ्यक्रमों का इस ढंग से नवीनीकरण करें, कि जीवन-मूल्यों की भावना नष्ट न होने पाये। किशोर युवक जीवन और समाज के तथ्यों के सम्बन्ध में ज्ञान अवश्य प्राप्त कर सकता है, किन्तु उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह उनके महत्व को गहराई तक भी समझ सकेगा।

शिक्षा का चौथा उद्देश्य इस दशा में पहुँच कर सबसे स्पष्ट रूप में दीखने लगता है। इस उद्देश्य की हमने यह परिभाषा करने की कोशिश की थी कि यह व्यक्ति की जीवन-मूल्यों के प्रति खोज अथवा आत्म अनुसन्धान की यात्रा है। अलग-अलग व्यक्ति इसे अलग-अलग ढंग से पूरा कर सकेंगे। कुछ लोग इसमें सन्तोष अनुभव करेंगे कि उन्होंने जो पेशे अपनाये हैं, उनके साथ लगे हुए कर्तव्यों का वे भली भाँति पालन करते रहें। इन पेशों के लिए शारीरिक, बौद्धिक और ललित (ऐस्थैटिक) निपुणताओं की आवश्यकता हो सकती है। कुछ अन्य लोग ऐसे भी होंगे, जिन्हें आत्मज्ञान सत्य की खोज में, अथवा समाज में नये जीवन-मूल्यों का सृजन करने के प्रयत्न में प्राप्त होता हो। व्यक्ति अपने सामने चाहे कुछ भी लक्ष्य क्यों न रखे, किन्तु वह इस काम को अपने हाथ में तभी ले सकता है, जब वह अपने विशिष्ट पेशे के लिए आवश्यक, अपने समाज में प्राप्त हो सकने वाले ज्ञान और अनुभवों पर पूरा अधिकार प्राप्त कर ले। वह कुशल यन्त्र विशेषज्ञ उसी दशा में बन सकता है, जबकि उसे उतनी यन्त्र विद्या अवश्य आती हो, जितनी कि उस समय तक विकसित हो चुकी है। वह अपने विशिष्ट क्षेत्र में ज्ञान की सीमाओं का विस्तार केवल उसी दशा में

कर सकता है, जबकि वह उस सम्बन्ध में पहले से विद्यमान ज्ञान जगत् का पूरा नक्शा अपने मन में उतार ले।

अब हम उस विरोधाभास के ठीक दूसरे पक्ष पर आ पहुँचे हैं, जिसका हमने प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में उल्लेख किया था। प्रारम्भिक शिक्षा उद्देश्य की दृष्टि से सामान्य, किन्तु विषय की दृष्टि से सुव्यक्त होती है। उच्चतर शिक्षा में उद्देश्य और विषय दोनों ही अव्यक्त होते हैं। प्रारम्भिक शिक्षा में क्षेत्र अनुभव के साथ-साथ विस्तृत होता जाता है; परन्तु उच्चतर शिक्षा में हम निरन्तर संकुचित होते जाने वाले क्षेत्र में ही अधिक और अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र में चाहे अध्ययन का क्षेत्र कितना ही विशिष्ट ढंग का क्यों न हो, हम उसे उसके विश्वजनीन पहलुओं के रूप में समझना चाहते हैं, और उसे ऐसे नियमों के आधीन ले आना चाहते हैं, जिन नियमों का प्रयोग अधिकाधिक विस्तृत रूप से किया जा सकता हो।

इसलिए हम निम्नलिखित अन्तिम निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं। जीवन के लिए शिक्षा और पेशे के लिए शिक्षा, इन दोनों के बीच कोई बड़ा स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता। शिक्षा की अलग-अलग दशाओं में सम्भव है कि इनमें से कभी किसी एक पर और कभी दूसरे पर कुछ अधिक जोर दे दिया जाय। परन्तु किसी भी दशा में इनमें से किसी एक तत्व की पूरी तरह उपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर भी यदि हम शिक्षा (एजूकेशन) और प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) में अन्तर कर लें, तो गड़बड़झाला काफी कुछ कम हो जायगा। शिक्षा व्यक्ति के अन्दर विद्यमान गुणों को विकसित करके बाहर लाने का नाम है। क्योंकि व्यक्ति समाज के अभाव में जीवित नहीं रह सकता, इसलिए शिक्षा में आवश्यक रूप से सामाजिक तत्व भी रहता है। परन्तु यह बात समाज की किसी विशिष्ट माँग के सम्बन्ध में नहीं, अपितु सामान्य माँग पर लागू होती है। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य मुख्य रूप से सामान्य है, और इसका प्रयत्न यह रहता है कि व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास किया जाय। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को किसी विशिष्ट पेशे के लिए उपयुक्त बनाना नहीं, अपितु जीवन के लिए उपयुक्त बनाना है। दूसरी ओर प्रशिक्षण मुख्य रूप से किन्हीं विशिष्ट कृत्यों को करने की तैयारी का नाम है। ऊपर बताये गये कारणों से प्रशिक्षण उसी समय सर्वोत्तम किया जा सकता है, जबकि जीवन

के लिए दी गयी शिक्षा उस दशा तक पहुँच जाय, जिसमें कि ज्ञान और निपुणताएँ यथोचित रूप से पक्की हो चुकी हों और मानव सम्बन्धों का एक ऐसा सामान्य ढाँचा तैयार हो चुका हो, जिसके अन्दर विशिष्ट ज्ञान और निपुणताएँ अपना पूर्ण महत्व प्राप्त कर सकें। अपने आपमें प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा मुख्य रूप से शिक्षा की प्रक्रियाएँ हैं, जबकि माध्यमिक शिक्षा के बाद की दशाएँ—कुछ बिरले मामलों को छोड़कर—मुख्य रूप से प्रशिक्षण के दौर हैं। परन्तु क्योंकि 'सामान्य रूप में जीवन' नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती, बल्कि किसी विशिष्ट समाज में विशिष्ट कृत्यों को करते हुए ही जीवन रह सकता है, इसलिए प्रारम्भिक शिक्षा में से भी प्रशिक्षण के तत्व को एकदम निकाल कर बाहर नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, क्योंकि प्रत्येक पेशा जीवन की एक अभिव्यक्ति है, इसलिए जिसे हम किसी विशिष्ट पेशे के लिए प्रशिक्षण समझते हैं, उसके अन्दर भी विस्तृततम अर्थों में शिक्षा का कुछ न कुछ तत्व अवश्य विद्यमान रहना चाहिये।

३

अन्तिम विश्लेषण में पहुँचकर, किसी भी शिक्षा प्रणाली की कार्यक्षमता अध्यापकों की उत्कृष्टता पर आकर टिकती है। अच्छे अध्यापकों के अभाव में सर्वोत्तम शिक्षा प्रणाली भी असफल ही रहेगी। यदि अध्यापक अच्छे हों, तो शिक्षा प्रणाली की त्रुटियों को भी बड़ी सीमा तक ठीक किया जा सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा के पेशे में ठीक ढंग के पुरुषों और स्त्रियों को आकृष्ट किया जाय और उन्हें अपनी कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाय; और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जायँ, जिनमें अपने पेशे में काम करते हुए सारे जीवन भर उनमें उत्साह बना रहे।

जहाँ अध्यापक से शिक्षा की उत्कृष्टता का निर्धारण होता है, वहाँ समाज की भावी समृद्धि का भी मुख्य आधार वही होता है। समाज की उत्कृष्टता का निर्धारण व्यक्तियों की उत्कृष्टता से होता है; और व्यक्ति मुख्य रूप से उसे मिली शिक्षा का परिणाम होता है। इसलिए सामाजिक प्रणाली में अध्यापक का स्थान बड़ा निर्णायक स्थान है। फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान भारत में, और शायद यहाँ तक कहा जा सके कि

वर्तमान संसार में, अध्यापक को न तो वह आदर और न वह सामाजिक प्रतिष्ठा ही प्राप्त है, जो उसे मिलनी चाहिये। इससे भी बुरी बात यह है कि स्वयं अध्यापकों में भी अपने पेशे के प्रति आदर का भाव नहीं रहता; और समाज उनके साथ जैसा भी व्यवहार करता है, उसी को वे सिर झुकाकर स्वीकार कर लेते हैं।

अध्यापक के प्रति अवहेलना का यह भाव वर्तमान समय में मानव-मूल्यों के प्रति अवहेलना का एक लक्षण है। आधुनिक समाज में प्रत्येक वस्तु को भौतिक दृष्टि से नापा जाने लगा है। किसी भी व्यक्ति या पेशे का महत्व पैसे या अधिकार की दृष्टि से ही परखा जाने लगा है। अतीत के साथ बड़े स्पष्ट विरोध में, जबकि अध्यापक चाहे कितने ही निर्धन या अधिकारहीन क्यों न हों, फिर भी उनका बड़ा सम्मान किया जाता था, आजकल के भारत में पैसे के प्रमापों पर बहुत ही अनुचित बल दिया जाता है। भारत में अध्यापक की कीमत सबसे कम आंकी जाती है, और फिर भी यह विचित्र प्रतीत होता है कि ऐसा हो। यदि केवल विशुद्ध भौतिक दृष्टिकोण से भी देखा जाय, तो भी यह विचित्र प्रतीत होता है कि जो लोग अपने कीमती यन्त्रों को अप्रशिक्षित या गैरजिम्मेदार कारीगरों के हाथ में देते कतराते हैं, वे इतनी आसानी से समाज की सर्वोत्तम सम्पत्ति—अर्थात् भावी पीढ़ी—को ऐसे लोगों के हाथ में सौंप देते हैं, जो प्रायः अल्प प्रशिक्षित होते हैं और लगभग सदा ही अनुचित रूप से कम वेतन पाते हैं और असन्तुष्ट रहते हैं। एक बार एक अनुभवी अध्यापक ने बहुत खिन्न होकर कहा था कि—क्योंकि समाज अध्यापकों के शरीर को भूखों मारता है, इसलिए अध्यापक लोग बदले के रूप में बालकों की आत्मा को भूखों मारते हैं। यह कोई बड़ी सन्तोषप्रद भावना नहीं है; फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि यदि वर्तमान दशा का सच्चा वर्णन किया जाय, तो वह प्रायः यही होगा।

कोई भी युवक कितने ही भले आदर्शों को लेकर अपने अध्यापन के व्यवसाय को प्रारम्भ करे, किन्तु भाग्य की चोटें उसके आदर्शों को बहुत शीघ्र ही चूर-चूर कर देती हैं; उसकी आशाएँ टूट जाती हैं और वह प्रायः कटुता से भर जाता है। किसी भी युवक व्यक्ति के उत्साह को भंग करने वाली वस्तु सिड़ीपन की भावना से बढ़कर और कोई नहीं है। यह एक दुःखद तथ्य है कि अध्यापक लोग

इस प्रकार की सिड़ीपन की भावना और निराशा के बहुधा शिकार बन जाते हैं। इसका प्रभाव तरुण पीढ़ियों पर क्या होगा, इसकी कल्पना सरलता से की जा सकती है। इसलिये जो समाज अपने अध्यापकों से दुर्व्यवहार करता है, वह अपने वर्तमान कल्याण और भविष्य की प्रगति की नीवों को खोखला कर रहा होता है।

अध्यापक के आत्मसम्मान का ह्रास अंशत: उन शक्तियों के कारण होता है, जिनके ऊपर उसका अपना कोई बस नहीं होता। सामाजिक मूल्यांकन में परिवर्तन हो जाने के कारण स्वयं अध्यापन के पेशे के प्रति उसका रुख परिवर्तित हो गया है। अन्य अधिकांश लोगों की भाँति वह भी पहले की अपेक्षा अधिक पैसे का पीर बन गया है। अब से बीस या तीस वर्ष पहले तक भी भारत में ऐसे अध्यापक थे, जो गरीब होते हुए भी केवल अपने चरित्र के बल के कारण सार्वजनीन रूप से आदर के पात्र थे। आजकल ऐसे अध्यापक बहुत ही विरल हैं; और उनकी संख्या कम और कम होती जा रही है। इसके विपरीत आजकल ऐसे अनेक अध्यापक हैं, जो सम्पत्ति या अधिकार वाले लोगों के पीछे दौड़ते हैं।

किन्तु इसका सारा दोष केवल समाज के ही सिर नहीं है। वर्तमान दूषित दशा की जिम्मेदारी से अध्यापक बच नहीं सकता। उसने भी अपने व्यवसाय को भुला दिया है। जो व्यक्ति अपने आदर्शों से च्युत हो गया हो, उससे बढ़ कर करुणाजनक दृश्य और कोई नहीं हो सकता। आजकल अध्यापक की जो दुर्दशा है, उसका कुछ कारण दरिद्रता और उपेक्षा भी हो सकती है, परन्तु उन्हें किसी भी प्रकार उस दुर्दशा का एक मात्र कारण नहीं माना जा सकता। अध्यापन के पेशे में ऐसे अनेक लोग आ घुसते हैं, जिनमें इस व्यवसाय के प्रति आस्था नहीं होती। वे इसलिए अध्यापक बन जाते हैं, क्योंकि वे और कुछ कर नहीं सकते। इस प्रकार केवल सब स्थानों से अस्वीकृत, अनुपयुक्त और निराश लोग इस पेशे में भर जाते हैं; और वे इस पेशे में अपनी इच्छा के प्रतिकूल इसलिये डटे रहते हैं, क्योंकि वे और कहीं जा नहीं सकते। जब तक ऐसी दशा रहेगी, तब तक अध्यापक की सामाजिक प्रतिष्ठा में, अथवा जो शिक्षा वे प्रदान करते हैं, उसकी किस्म में कोई सुधार कैसे हो सकता है?

शिक्षा के सम्बन्ध में जो भी पुनर्गठन किया जायगा, वह अन्ततोगत्वा अध्या-

पकों द्वारा किये जाने वाले कार्य पर ही निर्भर होगा। वे अक्षरशः राष्ट्र के भाग्य-निर्माता हैं। भले ही यह बात सुनने में स्वयंसिद्ध-सी प्रतीत हो, फिर भी इस बात को जोर देकर कहना आवश्यक है कि शिक्षा के पुनर्गठन के किसी भी कार्य-क्रम का आधार अध्यापक ही है। जब तक कार्यक्षम और श्रद्धावान् अध्यापक किसी योजना को क्रियान्वित करने के लिए विद्यमान न हों, तब तक शिक्षण-सुधारों की पूर्ण से पूर्ण योजना निर्जीव अक्षर मात्र बनकर रह जायगी। इसी प्रकार सामाजिक उन्नति के अत्यन्त सावधानी से तैयार किये हुए कार्यक्रम भी उस दशा में असफल ही रह जायेंगे, जब तक कि उनको क्रियान्वित करने के लिए समुचित योग्यता वाले व्यक्ति विद्यमान न हों। इस सम्बन्ध में निर्णायक तत्व व्यक्तियों की उत्कृष्टता या योग्यता है; और यह योग्यता या उत्कृष्टता मुख्य रूप से समाज में प्रचलित शिक्षा और प्रशिक्षण के ढंग पर निर्भर होती है।

इसलिए शिक्षा के पुनर्गठन या समाज के पुर्ननिमाण के किसी भी कार्यक्रम में जिन लोगों का महत्व है, वे अध्यापक ही हैं, जो भावी पीढ़ियों को प्रशिक्षण देंगे। तरुण व्यक्तियों की एक ऐसी पीढ़ी का निर्माण, जिसमें मन की स्फूर्ति, अनुभूतियों की संवेदनशीलता और शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं की निपुणता विद्यमान हो, एक ऐसा आदर्श है, जिसे प्राप्त करने के लिए अधिकतम प्रयत्न किया जाना चाहिये। इन कृत्यों को भली भाँति पूर्ण करने के लिये अध्यापकों को वह माध्यम बनना चाहिये, जिसके द्वारा हमारे समाज का सर्वोत्तम अंश नयी पीढ़ी तक पहुँच सके। शिक्षा की प्रक्रिया जानकारी देने की इस ढंग की प्रक्रिया नहीं है कि जैसे एक बाल्टी से पानी दूसरी बाल्टी में उँडेल दिया जाय। यह बहुत कुछ उस ढंग की प्रक्रिया है, जिस प्रकार एक दीपक अन्य सैकड़ों दीपकों को जलाने में सहायता देता है। यदि वह दीपशिखा, जिससे अन्य दीपक जलाये जाते हैं, अपने आप में सजीव न हो, तो समाज को प्रकाश प्राप्त नहीं हो सकता। शिक्षा की प्रक्रिया में सबसे अधिक महत्व अध्यापक और शिष्य के मध्य स्थापित हुए उन निजी सम्पर्कों का है, जो उनकी सत्य की साँझी खोज के दौरान में विकसित हुए हैं। यदि इस बात को भुला दिया जाय, तो भले ही अध्यापकों के वेतन-क्रम कितने ही ऊँचे क्यों न हों, और अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए कितनी ही विशद प्रणालियाँ क्यों न हों और वे अध्यापक कितने ही

आधुनिकतम उपकरणों का प्रयोग क्यों न करते हों, शिक्षा की प्रक्रिया निर्जीव और निश्चेष्ट ही बनी रहेगी।

यहाँ यह भी संकेत कर देना उचित होगा कि अध्यापक के कर्तव्य का, चाहे वह कितना ही बोझल क्यों न हो, एक अपना भी प्रतिफल होता है। आत्म-अभिव्यक्ति एक ऐसी वस्तु है, जिसे सभी व्यक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। वैज्ञानिक और कलाकार, कवि और चित्रकार सब इस बात के साक्षी हैं कि अपने अस्तित्व की अनुभूति के बराबर और कोई आनन्द नहीं। अध्यापक को यह आत्म अभि-व्यक्ति का अवसर चाहे जितनी मात्रा में प्राप्त हो सकता है। उसे प्रतिदिन जो काम करना पड़ता है, उसमें सम्भव है कि काफी बड़ा अंश बिल्कुल नीरस दिन-चर्या का हो, और ऐसा वस्तुतः होता भी है, परन्तु ऐसे भी अनेक अवसर आते हैं, जबकि वस्तुएँ एक दमक के रूप में स्पष्ट हो उठती है, और उसका नीरस कार्य उठकर एक बहुत ऊँचे स्तर तक पहुँच जाता है। जो भी अध्यापक अध्यापक कहलाने योग्य हैं, उन सबने इस प्रकार का अनुभव लिया है; और वे जानते हैं कि यह दैनिक नीरस दिनचर्या का पर्याप्त प्रतिकर (मुआवज़ा) है।

अध्यापक और शिष्य के बीच सम्पर्क मनुष्यों के बीच होने वाली सृजन-शील प्रक्रिया के कुछ उदाहरणों में से एक है। इस सम्पर्क को नियमों या रूढ़ियों द्वारा नियमित नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि ऐसे अनेक भौतिक कारण हैं, जिनसे अध्यापक सदा सृजनशील स्तर पर नहीं रह सकते, या केवल विरल क्षणों में ही इस सृजनशील स्तर तक उठ पाते हैं। जिन दशाओं में रह कर उन्हें काम करना पड़ता है, वे बहुधा दयनीय होती हैं। यह स्पष्ट है कि यदि कक्षाओं में आवश्यकता से अधिक विद्यार्थी हों, यदि काम के घंटे इतने अधिक हों कि उनमें सुविधापूर्वक काम कर पाना शारीरिक दृष्टि से कठिन हो, और वेतन इतने कम हों कि उनसे जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ भी पूरी न होती हों, तो अध्यापक सर्वोत्तम ढंग से काम नहीं कर सकता। इन सब मर्यादाओं के होते हुए भी यह सम्भव है कि अध्यापक अपने शिष्यों को कुछ ऐसी वस्तु दे सके, जिसके लिए वे आजीवन उसके आभारी रहें।

४

इस बात को अभी बहुत ही थोड़ा समय हुआ है कि जब से सब नागरिकों

के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का उत्तरदायित्व मान लिया गया है, एक अर्थ में यह समाज की प्रजातन्त्रात्मक धारणा की एक आवश्यक अनुमति (कोरोलरी) ही कही जा सकती है। प्रजातन्त्र का सार यह है कि कानून की दृष्टि में सब नागरिक समान हैं। यह भी स्पष्ट है कि यदि सब लोगों को अपनी प्रसुप्त क्षमताओं का विकास करने का समान अवसर प्राप्त न हो, तो इस प्रकार की समानता का कोई अर्थ नहीं रहता। इस प्रकार शिक्षा प्रजातन्त्र को पूर्ण और सृजनशील बनाने का एक मुख्य उपकरण बन जाती है। यह ठीक है कि अलग-अलग पुरुषों और स्त्रियों की स्वाभाविक योग्यताओं में अन्तर होता है। परन्तु इस प्रकार का अन्तर किसी उस सामाजिक या आर्थिक स्तर के कारण नहीं होता, जिसका कि वह व्यक्ति अङ्ग है। यदि प्रजातन्त्र को सचमुच प्रभावी बनाना हो और सब व्यक्तियों के लिए पूरी सीमा तक विकास करने के अधिकार की गारंटी करनी हो, तो शिक्षा सार्वजनीन और निःशुल्क होनी चाहिये।

इसलिए निःशुल्क सार्वजनीन शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का एक प्रमुख कर्तव्य माना जाता है। परन्तु वित्तीय तथा अन्य कारणों से अब तक कोई भी राज्य केवल प्रारम्भिक स्तर को छोड़कर सार्वजनीन अनिवार्य शिक्षा के लिए सुविधाओं की व्यवस्था कर पाने में समर्थ नहीं हुआ है। जिन देशों में वयस्क लोग बहुत बड़ी संख्या में निरक्षर हैं, वहाँ उनकी शिक्षा के लिए विशेष व्यवस्था कर दी गयी है। इस प्रकार की व्यवस्था के अलावा अन्य सुविधाएँ मुख्य रूप से ऐच्छिक ढंग की हैं, और यह व्यक्तियों या परिवारों की इच्छा पर निर्भर है कि वे उन सुविधाओं का उपयोग करें या नहीं। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे समृद्ध और शिक्षा की दृष्टि से सचेत देश में भी अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था केवल १६ वर्ष की आयु तक के लिए ही है।

प्रजातन्त्र के प्रसार के साथ-साथ उन्नति के अवसर की समानता की माँग भी जोर पकड़ती जा रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि राज्य को दो रूपों में शिक्षा की सुविधाएँ बढ़ानी पड़ती हैं। एक ओर तो राज्य का प्रयत्न यह रहता है कि उन क्षेत्रों में और लोगों के उन वर्गों में शिक्षा के प्रसार की व्यवस्था की जाय, जिन्हें पहले शिक्षा की सुविधा प्राप्त नहीं थी। दूसरी ओर, राज्य धीरे-धीरे सभी लोगों को दी जाने वाली शिक्षा की अवधि को बढ़ाता जा रहा है। इंग्लैंड का यह निश्चय, कि लोगों को दी जाने वाली अनिवार्य शिक्षा

का काल और बढ़ा दिया जाय और सभी स्तरों पर अधिकाधिक मात्रा में छात्र-वृत्तियों की व्यवस्था की जाय, इस बात का एक अच्छा उदाहरण है कि यह मनोवृत्ति राज्य की क्रिया में किस प्रकार प्रकट होती है।

क्योंकि भारत ने अपने लिए प्रजातन्त्र प्रणाली को चुना है, इसलिए भारत में तो ऐसी माँग का औचित्य पहले से ही स्वीकार-सा कर लिया गया है। जिन प्रदेशों और जनता के जिन वर्गों को पहले कभी शिक्षा के लाभ प्राप्त नहीं हुए थे, वे आजकल यह माँग कर रहे हैं कि उनकी कमी को पूरा करने के लिए विशेष कदम उठाये जायँ, जिससे वे भी शेष देश के साथ समानता के स्तर पर रह सकें। अनिवार्य शिक्षा का सिद्धान्त धीरे-धीरे प्रारम्भ किया जा रहा है और विस्तृत भी किया जा रहा है। पिछले सात वर्षों में अनिवार्य शिक्षा के अन्तर्गत लाया गया प्रदेश पहले की अपेक्षा कई गुना हो गया है। साथ ही साथ अनिवार्य शिक्षा का काल भी लम्बा किया जा रहा है। अब तक अनिवार्य शिक्षा केवल १० या ११ वर्ष की आयु तक के लिए ही लागू की गयी थी, परन्तु अब सब लोग इस बात को स्वीकार करते हैं कि अनिवार्य शिक्षा की यह अवधि बढ़ा कर १४ वर्ष की आयु तक के लिए कर दी जानी चाहिये; और इस बात को संविधान में भी स्वीकार कर लिया गया है। स्वतन्त्र भारत के प्रथम शिक्षा मन्त्री मौलाना अबुल कलाम आजाद तो कुछ और आगे तक बढ़े हैं; और उन्होंने घोषणा की है कि उनके विचार में प्रत्येक नागरिक का यह विशेष अधिकार है कि वह माध्यमिक स्तर तक निःशुल्क शिक्षा प्राप्त कर सके। इस प्रकार अनिवार्य शिक्षा का विस्तार स्थान और काल दोनों की ही दृष्टि से किया जा रहा है।

आधुनिक मनुष्य के सम्मुख कई ऐसी समस्याएँ हैं, जो कभी उसके पूर्वजों के सम्मुख नहीं आयी थीं। पहले के समाजों में थोड़े-से अल्प संख्यक लोग ही जनता का नेतृत्व करते, नीतियाँ निश्चित करते और उन नीतियों को क्रियान्वित करते थे। जनता की विशाल बहुसंख्या केवल उन नेताओं का अनुगमन करके ही सन्तुष्ट रहती थी। परन्तु प्रजातन्त्र के प्रसार के साथ-साथ परिस्थिति बदल गयी है और राज्य के मामलों के संचालन में सभी नागरिकों का हाथ रहता है। इसके अतिरिक्त आजकल राज्यों का एक दूसरे से सम्बन्ध इतना अधिक बढ़ गया है कि जितना पहले कभी नहीं था। इसलिए आजकल सामान्य

मनुष्य संसार के भविष्य के लिए जितना जिम्मेदार है, उतना अतीत में कभी नहीं रहा। इस बढ़े हुए उत्तरदायित्व के कारण यह आवश्यक हो गया है कि आधुनिक राज्य के प्रत्येक नागरिक को वह ज्ञान प्राप्त करने का अवसर अवश्य प्राप्त हो, जिसकी संसार के विकास की इस संक्रान्ति की दशा में बुद्धिमत्ता-पूर्वक कार्य करने के लिए बड़ी आवश्यकता है। परन्तु किसी भी समाज के सब सदस्य उन्नति की सर्वोच्च सीढ़ियों तक नहीं पहुँच सकते। इसलिए इस बात का बड़ा भय है कि नेताओं, प्रचारकों, पथदर्शकों और नवसन्देशवाहकों के तथा उनकी अनुयायी विशाल जनता के बीच सम्पर्क बिलकुल समाप्त ही न हो जाय। इस खाई को पाटने का काम माध्यमिक शिक्षा को करना होगा और माध्यमिक नेताओं के एक ऐसे वर्ग को प्रशिक्षित करना होगा, जो नेताओं का सन्देश सामान्य जनता तक, और सामान्य जनता की आशाओं और आशंकाओं को नेताओं तक पहुँचा सके। इस प्रसंग में ही हम मौलाना आजाद के इस आग्रह को ठीक अर्थों में समझ सकते हैं कि प्रत्येक नागरिक को न केवल प्रारम्भिक, अपितु माध्यमिक स्तर तक अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था की जानी चाहिये।

आजकल के संसार में, जिसमें कि विभिन्न समाज और व्यक्ति एक दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये हैं, स्थान और काल दोनों की ही दृष्टि से शिक्षा का इस प्रकार का विस्तार और भी अधिक आवश्यक हो गया है। सभी प्राणी एक अविराम परिवर्तन की प्रक्रिया में से गुजर रहे हैं। यह बात समाजों और व्यक्तियों पर भी समान रूप से लागू होती है। व्यक्तियों में परिवर्तन वृद्धि और नये अनुभवों की प्राप्ति के द्वारा होता है। समाजों में परिवर्तन समय के प्रवाह के द्वारा और एक पीढ़ी के स्थान पर नयी पीढ़ी आने के द्वारा होता है। हम यह यत्न अवश्य कर सकते हैं कि हमारे बालक हमारे ही प्रमापों और आदर्शों को मान कर चलें, किन्तु हम उन्हें इस बात से नहीं रोक सकते कि वे हमारी शिक्षाओं की अपने मनमाने ढंग से व्याख्या कर लें। परन्तु सभी व्याख्याएँ परिवर्तन हैं। जब समाज और व्यक्ति अपेक्षाकृत एक दूसरे से अलग-अलग रहते हैं, तब भी इस प्रकार का परिवर्तन होता रहता है। जब विभिन्न संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ परस्पर मिलती हैं, तब इस प्रकार के परिवर्तन और भी अधिक तीव्र और दूरगामी हो उठते हैं।

वर्तमान युग का एक विरोधाभास यह भी है कि संसार के लोग भौतिक दृष्टि से एक दूसरे के निकट पड़ौस में रहते हुए भी आध्यात्मिक और मानसिक दृष्टि से एक दूसरे से दूर और अलग-अलग रह रहे हैं। यदि विभिन्न पृष्ठभूमियों और दृष्टिकोणों वाले विभिन्न लोग एक दूसरे के साथ मिलकर निर्वाह करना न सीखें, तो उनमें संघर्ष होना अनिवार्य है। आधुनिक युग में यदि कोई संघर्ष हुआ, तो वह अवश्य ही सर्वनाशकारी होगा। यदि सभी समाज अपने दृष्टिकोण और स्वभाव में कुछ आवश्यक समंजन (बैठ-बिठाव) करने को तैयार न हों, तो संघर्ष से किसी प्रकार बचा नहीं जा सकता। सच तो यह है कि इस प्रकार के परिवर्तनों का प्रतिरोध करने से परिवर्तन के लिए कार्य कर रही शक्तियों को और बल मिलेगा; और उसका परिणाम हिंसात्मक उथल-पुथल भी हो सकता है। क्योंकि परिवर्तन अनिवार्य है, इसलिए शिक्षा का कृत्य (फंक्शन) ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना होना चाहिये, जिनमें समंजन (बैठ-बिठाव) और परिष्कार किसी हिंसात्मक उत्पात या उपद्रव के बिना किये जा सकें।

प्रजातन्त्र के प्रसार के साथ-साथ परिवर्तनों को बिना उत्पात के क्रियान्वित कर पाने की आवश्यकता और सम्भावना, दोनों ही बढ़ गयी हैं। जहाँ पर विशेषाधिकार किसी एक अल्पसंख्यक वर्ग तक सीमित रहते हैं, वहाँ यह अल्प-संख्यक वर्ग उन अधिकारों को बनाये रखने के लिए लड़ता है। परन्तु जिन बहुसंख्यक लोगों को उन्नति करने के लिए सबके समान अवसर प्राप्त नहीं होते, उनमें समाज की वर्तमान रूढ़ियों का विरोध करने की प्रवृत्ति जाग उठती है। इस प्रकार अप्रजातन्त्रीय समाज में तनाव उत्पन्न होना अनिवार्य हो जाता है। मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष के रूप में सामाजिक परिवर्तन का जो आधार-भूत सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, उसमें सत्य का अंश यही है। परन्तु स्वयं मार्क्स और ऐंजिल्स ने भी यह स्वीकार किया है कि प्रजातन्त्रीय समाज में बिना हिंसा-त्मक संघर्ष के भी आवश्यक परिवर्तन लाये जा सकते हैं।

अपनी पुस्तक 'विज्ञान, प्रजातन्त्र और इस्लाम' (साइंस, डिमौक्रैसी एंड इस्लाम), में मैंने उन कुछ जोखिमों का उल्लेख किया है, जो हिंसा द्वारा सामा-जिक परिवर्तन करने के प्रयत्नों के साथ लगे रहते हैं। सामाजिक समतुलन (ईक्विलिब्रियम) स्थापित करने के लिए क्रान्तियाँ विकास की प्रक्रिया को

अपेक्षा सदा ही घटिया सिद्ध होती हैं। पहली बात तो यह है कि इस बात की कोई गारंटी नहीं होती कि क्रान्ति सफल हो ही जायगी। दूसरी बात यह है कि जहाँ क्रान्ति सफल हो भी जाती है, वहाँ वह इस प्रकार के दबाव और तनाव उत्पन्न कर देती है कि उनके कारण फिर और क्रान्तियाँ होती हैं। यह भी एक बड़ा कारण है कि सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन करने के लिए प्रजातन्त्रात्मक पद्धतियाँ क्यों सदैव अधिक अच्छी समझी जाती हैं।

सच तो यह है कि कुछ और आगे बढ़कर यहाँ तक कहा जा सकता है कि वास्तविक और स्थायी प्रगति प्रजातन्त्र के सिवाय और किसी प्रणाली से हो ही नहीं सकती। लोगों में कुछ यह अंधविश्वास-सा फैला हुआ है कि कम से कम अल्पकालीन अवधि की दृष्टि से अधिनायकतन्त्र (तानाशाही) प्रजातन्त्र की अपेक्षा अधिक कार्यक्षम होता है। परन्तु सारा का सारा इतिहास इस स्थापना का खंडन करता है। जब भी किसी एकतन्त्रात्मक समाज की किसी प्रजातन्त्रात्क समाज से टक्कर हुई है, तब सदा ही अंत में जीत प्रजातन्त्र की ही हुई है। यह कोई आकस्मिक या सांयोगिक बात नहीं है, अपितु यह तो मनुष्य और समाज की प्रकृति में स्वभावतः विद्यमान है। कोई भी महान सामाजिक लक्ष्य बिना अनेक लोगों के सहयोग के प्राप्त नहीं हो सकता, और सहयोग ही ऐसी वस्तु है, जो प्राधिकारात्मक (औथोरिटेरियन) समाज में कभी सुनिश्चित रूप से पाई नहीं जा सकती। प्रजातन्त्र में प्रारम्भ में कुछ हिचक और विलम्ब अवश्य दिखाई पड़ता है, परन्तु इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि यह कोई हानिकारक वस्तु नहीं है। हिचक और विलम्ब केवल इस कारण होता है, क्योंकि प्रजातन्त्र में बहुत-से लोग ठीक-ठीक यह निश्चय नहीं कर पाते कि उन्हें कौन-सा पथ पकड़ना है, या यहाँ तक भी, कि वे एक दूसरे के विचारों को ठीक-ठीक समझ भी पा रहे हैं या नहीं। विचार-विमर्श, वाद-विवाद, आक्षेप और युक्ति-प्रयुक्ति में समय अवश्य लगता है; किन्तु इनसे सन्देह और अनिश्चितता को हटाने में सहायता मिलती है। अन्त में, जब प्रजातन्त्र कार्रवाई करता है, तो उसे निश्चय रहता है कि उसके सब भागीदार लक्ष्य के सम्बन्ध में मोटे तौर पर एकमत हैं।

अधिनायकतन्त्र (तानाशाही) में इस प्रकार के सांझे लक्ष्य का कोई आश्वासन नहीं रहता। सच तो यह है कि उसमें इतना तक भी नहीं माना जा

सकता कि सब लोगों ने उस लक्ष्य को समान रूप से समझ भी लिया है, या नहीं। इसी कारण क्या शान्ति और क्या युद्ध, दोनों ही कालों में अधिनायक-तन्त्र प्रजातन्त्र से कम कार्यक्षम सिद्ध होता है। जब तक किसी सामाजिक आन्दोलन या सैनिक अभियान में सफलता मिलती रहती है, तब तक अधिनायक तन्त्र के दोष छिपे रह सकते हैं। इस प्रकार के विजय के दौरों में द्वितीय कोटि के नेता स्वयं भी किसी विषय में निर्णय करने को उद्यत रहते हैं और अधिनायक भी उन्हें डपटता या रोकता नहीं है। परन्तु यदि कभी स्थिति बिगड़ जाय, तो अधिनायक उसका दोष अपने सहकारियों (लैफ्टीनैन्टों) पर डालना चाहता है। वह कभी यह सहन नहीं कर सकता कि किसी को यह सन्देह भी हो कि असफलता का अधिनायक के साथ कोई सम्बन्ध है। अधिनायक को निर्भ्रान्त होना चाहिये, अन्यथा वह टिक नहीं सकता। इसलिए संकट के समय उसके सहकारी स्वयं कोई निर्णय करने की हिम्मत नहीं करते। वस्तुतः कई बार तो वे अधिनायक के आदेशों का स्पष्टीकरण तक करवाते डरते हैं। स्पष्टीकरण के लिए किये गये उनके अनुरोध का सरलता से यह गलत अर्थ लगाया जा सकता है कि वे उसकी नीति की आलोचना कर रहे हैं; या यह कि उन्हें उसकी निर्णय शक्ति पर विश्वास नहीं है। अधिनायक एक ही बात को नहीं सह सकता और वह बात है—उसके प्राधिकार के सम्बन्ध में नुकताचीनी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिनायकतन्त्र प्रारम्भिक दिशाओं में आश्चर्यजनक सफलता पा लेने के बाद भी क्यों सदैव अन्त में प्रजातन्त्रों के सम्मुख हारते रहे हैं। विचार-विमर्श और वाद-विवाद के अभाव का परिणाम अनिवार्यतः सांझे लक्ष्य और सद्भावना का अभाव होता है।

अधिनायकतन्त्र की दुर्बलता ठीक यहीं है। आदेश जारी कर दिये जाते हैं और शायद ही किसी व्यक्ति को इतना साहस होता है कि यह पूछे कि उस आदेश का असली अभिप्राय क्या है। अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रत्येक स्तर पर इस प्रकार के आदेशों के अपने-अपने विचार के अनुसार अलग-अलग अर्थ निकाले जाते हैं और उनका यथाशक्ति अच्छे से अच्छे ढंग से पालन करने का यत्न किया जाता है। परन्तु अपने विचारों को दूसरे तक पहुँचाना मानवीय सम्बन्धों में से एक कठिनतम कार्य है। इसलिए इस बात का खतरा सदा बना रहता है कि जो कुछ वस्तुतः किया गया हो, वह उससे बिलकुल भिन्न हो, जो कि उस

आदेश से अभिप्रेत था। अंग्रेजी भाषा में शायद अन्य किन्हीं शब्दों का इतना बारम्बार प्रयोग नहीं होता, जितना कि 'आइ मीन टु से' (मेरा अभिप्राय यह है कि) या 'व्हाट आइ मीन इज दिस' (मेरे कहने का मतलब यह है कि) का। सामान्य वार्तालाप में भी हमें अपने आशय को समझाने के लिए अपनी बात को बार-बार स्पष्ट करना पड़ता है। यह हाल केवल अंग्रेजी का ही नहीं, अपितु सभी भाषाओं का है। प्रजातन्त्र प्रणाली में होने वाला विलम्ब तथा दूर से अनिश्चय जैसी दीख पड़ने वाली दशा इस प्रकार की सम्भावित गलतफहमी को न होने देने का प्रयत्न मात्र होती है। विचार-विमर्श और वाद-विवाद न होने के कारण प्राधिकारात्मक समाज में कार्रवाई भले ही तीव्र गति से होती प्रतीत हो, किन्तु यह सम्भव है कि वह सारी कार्रवाई गलतफहमी और समझ की गड़बड़ी पर आधारित हो।

शिक्षा का सार इस प्रकार का विचार-विमर्श और वाद-विवाद ही है। अनेक बार शिक्षा का वर्णन इस रूप में किया जाता है कि यह अतीत और वर्तमान के मध्य, विभिन्न दृष्टिकोणों के मध्य तथा विभिन्न पृष्ठभूमियों तथा अनुभवों वाले मनुष्यों के मध्य होता हुआ एक महान आलाप है। जहाँ शिक्षा का लक्ष्य बीते युगों के संचित ज्ञान को व्यक्ति तक पहुँचाना है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति का उसके अन्य सब साथियों के साथ तात्कालिक सम्पर्क स्थापित करना भी है। इस प्रकार अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाना और दूसरों के विचारों को समझना शिक्षा का सार है, और प्रजातन्त्र वह सर्वोत्तम माध्यम है, जिसमें कि ऐसी शिक्षा पनप सकती है। अशिक्षित व्यक्ति अपने बिलकुल निकट के भौतिक और मानसिक परिवेश (ऐनवायरनमेंट) में जीवन व्यतीत करता है। शिक्षा का प्रयोजन यह है कि ऐसे व्यक्ति को उसके परिवेश के बन्धनों से मुक्त कर दिया जाय; और साथ ही यह मुक्ति इस ढंग से हो कि उस परिवेश के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध समाप्त भी न हो जायँ। शिक्षा मनुष्य को विभिन्न प्रकार के समाजों और सभ्यताओं का ज्ञान कराती है। यह उसे इस योग्य भी बनाती है कि वह अतीत के आलोक में वर्तमान का दर्शन कर सके। शिक्षा का ध्येय मनुष्य को यह समझाना भी है कि पृष्ठभूमियों में अन्तर होने पर आदर्शों और परम्पराओं में अन्तर क्यों पड़ जाता है। इस प्रकार शिक्षा का कार्य समवेदनाओं को उदार बनाना तथा कल्पना को शिक्षित करना है। ऐसा करने

का अर्थ है कि मनुष्य के मन में यह भावना उत्पन्न कर दी जाय कि परिवर्तन अनिवार्य है, और साथ ही वह उन महान सत्यों को भी समझ ले, जो इन सब प्रवाहों के बीच में रहते हुए भी अपरिवर्तित बने रहे हैं। इस प्रकार के सत्यों को हृदयंगम कर लेना ही आध्यात्मिकता का सार है। शिक्षा का लक्ष्य यह है कि व्यक्ति की सब कालों तथा सब लोगों के ज्ञान और अनुभव का उत्तराधिकारी बनाकर, जीवन की आध्यात्मिक धारणा पर आधारित सभ्यता और संस्कृति का विकास किया जाय।

● ● ●